शांकर वेदान्त

शांकर वेदान्त

डा० अभेदानन्द भट्टाचार्य
प्राचार्य—श्री भगवानदास संस्कृत महाविद्यालय
हरिद्वार (उ० प्र०)

1991
दुर्गा पब्लिकेशन्स
दिल्ली-110053

प्रथम संस्करण 1991

© अभेदानन्द भट्टाचार्य

Acc No. 37997

H
141.3
Bha-S.V

ISBN 81-7173-004-3

मानव संसाधन विकास मन्त्रालय, भारत सरकार
की आर्थिक सहायता से प्रकाशित

रु० 26-00

प्रकाशक
वाई० एस० तिवारी
ए-406/7, साउथ गामड़ी
दिल्ली-110053

मुद्रक
रुचिका प्रिंटर्स
नवीन शाहदरा, दिल्ली-110032

प्राक्कथन

"एकं सद्विप्राबहुधा वदन्ति" यह भारतीय संस्कृति का मूलसूत्र है। भारतीय संस्कृति एवं वैदिक सभ्यता का विकास इसी एक मूलसूत्र को आधार मानकर हुआ है। उपनिषदों का सन्देश भी यही है कि 'बहुधावदन्ति' अर्थात् सब कुछ 'वाचारभंग' है। वास्तविक तत्व तो एक है। इसी एकसद्वाद को आधार मानकर आचार्य शंकर ने अद्वैत-ब्रह्मवाद की प्रस्थापना की। इस अद्वैतब्रह्मवाद ने अर्थात् एकसत्तावाद ने हमारे भारतीय सांस्कृतिक जीवन को प्रभावित किया, हमारा नीतिशास्त्र, हमारा समाजशास्त्र, हमारी राजनीति यहाँ तक कि हमारा सम्पूर्ण साहित्य इस एकसत्तावाद से कहीं पर प्रत्यक्षरूप से और कहीं पर अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित हुआ है।

एकसत्ववाद को स्वीकार कर लेने पर ही समाज में भ्रातृत्वभाव अर्थात् 'वसुधैव कुटम्बकम्' की भावना जागृत हो सकेगी। पूर्णाद्वैत को मानकर समाज में, परिवार में मानव-मानव में एकरूपता और समानता के व्यवहार का अवतरण सम्भव नहीं। यदि एक मानव दूसरे मानव से सम्पूर्ण भिन्न है। तब तो भाई-चारा का प्रचार ही व्यर्थ और सामाजिक जीवन ही खोखला सिद्ध होगा। अतः आज के सन्दर्भ में भी अद्वैतब्रह्मवाद का महत्व कुछ कम नहीं है।

आचार्य शंकर द्वारा प्रस्थापित एवं प्रचारित अद्वैतवेदान्त के आधारभूत सभी ग्रन्थ मूलरूप में संस्कृत भाषा में है। वेदान्त के साधारण अध्येतागण इस महत्वपूर्ण दर्शन को हृदयंगम कर सकें, इसी उद्देश्य को ध्यान में रखकर इस ग्रन्थ में अद्वैतवेदान्त की तत्वमीमांसा सम्बन्धी समस्याओं का शास्त्रीय व्याख्या प्रस्तुत की गई है। ब्रह्म, जीव, अविद्या, अध्यास और ख्यातिवाद एवं जगत् सृष्टि, जगन्मिथ्यात्व आदि शांकरवेदान्त के अध्येतागण ग्रन्थ का स्वागत करेंगे।

अभेदानन्द भट्टाचार्य

विषय-सूची

प्राक्कथन	V
अध्याय	**पृष्ठ संख्या**
1. विषय प्रवेश	1—17
2. अद्वैत वेदान्त में ब्रह्म	18—52
3. अद्वैत वेदान्त में जीव	53—86
4. अद्वैत वेदान्त में अविद्या	87—99
5. अध्यास और ख्यातिवाद	100—143
6. जगत्, जगत्सृष्टि और मिथ्यात्व	144—189
सहायक ग्रन्थ पंजिका	190—192

विषय-सूची

1. [illegible]	1—17
2. [illegible]	18—32
3. [illegible]	33—86
4. [illegible]	87—99
5. [illegible]	100—143
6. [illegible]	144—189
[illegible]	190—192

1

विषय प्रवेश

प्रमुख आचार्य एवं ग्रन्थ

आचार्य शंकर अद्वैत वेदान्त को औपनिषदीय सिद्धान्त कहते हैं। उपनिषदों में बहुस्थलों में अद्वैत ब्रह्म का प्रतिपादन मिलता है। इस अद्वैत ब्रह्मवाद की स्थापना के लिए आचार्य शंकर ने ब्रह्मसूत्रों पर बहुत बड़ा भाष्य लिखा। बादरायण ने उपनिषद् वाक्यों की मीमांसा के लिए शारीरक मीमांसा सूत्रों की रचना की। इन सूत्रों में जो उपनिषद् सिद्धान्त प्रतिपादित हुए हैं, उन्हीं की व्याख्या शंकर ने अपने भाष्य में की है, यह उनका दावा है। आचार्य शंकर से पूर्व और भी अद्वैत वेदान्त के कुछ आचार्य हुए हैं। उन आचार्यों में आचार्य गौड़पाद का नाम बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। आचार्य गौड़पाद शंकराचार्य के परमगुरु थे। उन्होंने मांडूक्य-उपनिषद् पर मांडूक्य-कारिका लिखकर अद्वैतवाद की व्याख्या की है। आचार्य शंकर ने मांडूक्य-कारिका पर भी भाष्य लिखा है। इसके अतिरिक्त ग्यारह उपनिषदों पर उनका लिखा गया भाष्य विद्वानों में बहुत चर्चित है। उनमें भी छान्दोग्य एवं बृहदारण्यक उपनिषद् भाष्य में उन्होंने अद्वैतवेदान्त की सैद्धान्तिक बातें लिखी हैं जो कि अद्वैत वेदान्त के लिए महत्त्वपूर्ण हैं। शंकर ने तृतीय प्रस्थान भगवत्गीता पर भी भाष्य लिखा है। इनके अतिरिक्त उपदेश साहस्री, विवेक चूड़ामणि एवं बहुत-से स्तोत्रों की रचना भी उन्होंने की है। आप्तवज्रसूची, आत्मबोध, मोहमुद्गर, दश-श्लोकी अपरोक्षानुभूति, विष्णु सहस्रनाम आदि ग्रन्थ भी शंकराचार्य रचित कहे जाते हैं।[1]

आचार्य शंकर के उक्त सभी ग्रन्थों एवं भाष्यों में ब्रह्मसूत्र भाष्य ही प्रधान रूप से अद्वैत वेदान्त का आधार ग्रन्थ है। इसी को अद्वैत वेदान्त दर्शन कहा जा सकता है। आचार्य शंकर के बाद अद्वैत वेदान्त में अनेक विद्वान् आचार्य हुए हैं एवं बहुत-से पाण्डित्यपूर्ण ग्रन्थ लिखे गये हैं। प्रक्रिया-भेद से बाद के आचार्यों में विवरण सम्प्रदाय एवं भामती सम्प्रदाय नाम से दो विशेष धाराओं की प्रसिद्धि हुई। आचार्य पद्मपाद शंकराचार्य के शिष्य थे। उन्होंने शांकरभाष्य के ऊपर पंचपादिका के नाम से एक टीका लिखी। उस टीका के ऊपर आचार्य प्रकाशात्मा ने विवरण नाम की टीका की रचना की। ये दोनों ही टीकायें अद्वैत वेदान्त का बारीकी से विश्लेषण करती हैं। विवरण टीका के नाम से ही पूर्वोक्त विवरण

---

1. Indian philosophy. Dr. Radhakrishnan, Vol. II, page 451

सम्प्रदाय का प्रादुर्भाव हुआ। इसी से पता चलता है कि इस टीका की कितनी महत्ता है। विद्यारण्य मुनि ने, जिन्हें माधवाचार्य भी कहा जाता है, विवरण-प्रमेयसंग्रह की रचना की। इन्होंने ही वेदान्त का महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ पंचदशी एवं जीवन-मुक्तिविवेक नामक ग्रन्थों की भी रचना की। पंचदशी के विषय में कहा जाता है कि इस ग्रन्थ के प्रथम छः अध्याय विद्यारण्य मुनि के द्वारा रचित हैं एवं बाद के नौ अध्याय भारती तीर्थ द्वारा रचे गये हैं।

भामती सम्प्रदाय वाचस्पति मिश्र द्वारा रचित प्रसिद्ध भामती नामक टीका से प्रादुर्भूत होता है। भामती टीका भी ब्रह्मसूत्र शंकरभाष्य पर लिखी गई एक पांडित्यपूर्ण एवं व्याख्यात्मक टीका है। इस टीका में अद्वैत वेदान्त के प्रायः सभी सिद्धान्तों का विश्लेषण हुआ है। भामती की व्याख्या अमलानन्द स्वामी ने कल्पतरु नामक टीका द्वारा की है। कल्पतरु की व्याख्या परिमल नामक टीका है जोकि महापण्डित अप्पय दीक्षित द्वारा रचित है। इसी प्रकार अद्वैतानन्द द्वारा लिखित ब्रह्मविद्याभरण तथा स्वामी गोविन्दानन्द की रत्नप्रभा अद्वैत वेदान्त के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हैं। आनन्दगिरि की न्याय-निर्णय टीका बहुत ही प्रसिद्ध है। अखण्डानन्द ने विवरण के ऊपर तत्त्वदीपन टीका लिखी है। सुरेश्वर आचार्य का बृहदारण्यकवार्तिक अद्वैत वेदान्त में बहुत महत्त्वपूर्ण रचना है। इन्हीं का दूसरा ग्रन्थ नैष्कर्म्य-सिद्धि है। सर्वज्ञात्म मुनि ने संक्षेपशारीरक लिखकर वेदान्त सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। इधर श्रीहर्ष ने खण्डनखण्डखाद्य ग्रन्थ द्वारा सम्पूर्ण प्रपंच को अनिर्वनीय सिद्ध किया है। मण्डनमिश्र द्वारा लिखित ब्रह्मसिद्धि, विमुक्तात्मा द्वारा लिखित इष्टसिद्धि, काश्मीरक सदानन्द यति की अद्वैतब्रह्मसिद्धि, मधुसूदन सरस्वती की अद्वैतसिद्धि इससे पूर्व उल्लेखित सुरेश्वर की नैष्कर्म्यसिद्धि, इन सबको अद्वैत वेदान्त में पंचसिद्धियाँ कहते हैं। इनमें से अद्वैतसिद्धि बहुत ही पांडित्यपूर्ण ग्रन्थ है। आचार्य चित्सुख ने तत्त्वप्रदीपिका की रचना करके अद्वैत वेदान्त के विषयों का पांडित्यपूर्ण विवेचन किया है। न्यायमकरन्दकार आनन्दबोध भट्टारक आचार्य के, 'न्यायमकरन्द' ग्रन्थ में ख्यातिवादों का विद्वत्तापूर्ण विवेचन हुआ है। नृसिंहाश्रम द्वारा रचित 'अद्वैत-दीपिका' एवं 'वेदान्त तत्त्व विवेक' अद्वैत वेदान्तविषयक पांडित्यपूर्ण ग्रन्थ हैं। अप्पय दीक्षित ने अद्वैत वेदान्त के लिए अनेकों ग्रंथ लिखे हैं। 'कल्पतरु परिमल' का उल्लेख हमने पहले ही किया है जो कि एक पाण्डित्यपूर्ण एवं बृहत् टीकाग्रन्थ है। इसके अतिरिक्त न्याय-रक्षामणि, सिद्धान्तलेशसंग्रह, आदि ग्रन्थ बहुत प्रसिद्ध हैं। अद्वैत वेदान्त में बहुत-से और भी ग्रन्थ लिखे गये हैं जिनमें प्रकाशानन्द सरस्वती का वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावली, सदानन्द का वेदान्तसार, धर्मराजाध्वरीन्द्र का वेदान्तपरिभाषा, रामाद्वय का वेदान्तकौमुदी, कृष्णमिश्रयति का प्रबोधचन्द्रोदय, लक्ष्मीधर का अद्वैतमकरन्द आदि ग्रन्थ उल्लेखनीय हैं। इनके अतिरिक्त और भी बहुत-से टीकाग्रन्थ एवं वृत्तिग्रन्थ अद्वैत वेदान्त के आचार्यों ने लिखे हैं। गौड़ ब्रह्मानन्द की अद्वैतसिद्धि के ऊपर लघुचन्द्रिका टीका अद्वैत वेदान्त के पंडितों में महत्त्वपूर्ण स्थान बना चुकी है।

अद्वैत वेदान्त में अनेकों आचार्य हो चुके हैं। उनमें आचार्य शंकर के बाद उपर्युक्त आचार्य पद्मपाद, आचार्य सुरेश्वर, आचार्य मण्डनमिश्र, (कुछ लोग इन दोनों आचार्यों को

एक व्यक्ति भी कहते हैं) आचार्य वाचस्पति मिश्र, आचार्य श्रीहर्ष, आचार्य चित्सुख, आचार्य सर्वज्ञात्म मुनि, आचार्य प्रकाशात्म यति, आचार्य मधुसूदन सरस्वती, आचार्य अधय दीक्षित बहुत ही प्रसिद्ध एवं श्रद्धा के पात्र हैं। अद्वैत वेदान्त के विषयों की दृष्टि से उपर्युक्त ग्रन्थों में पंचपादिका, पंचपादिकाविवरण, भामती, कल्पतरु, परिमल प्रसिद्ध टीकाग्रन्थ हैं। मौलिक ग्रन्थों में संक्षेप—शारीरक भी महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। पाण्डित्य एवं शास्त्रार्थ की दृष्टि से तत्त्वप्रदीपिका, खण्डनखण्डखाद्य, अद्वैतसिद्धि एवं लघुचन्द्रिका प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। अद्वैतसिद्धि में द्वैतवादी न्यायामृतकार व्यासतीर्थ द्वारा अद्वैत सिद्धान्त में किए गए आक्षेपों का शास्त्रार्थपूर्ण उत्तर दिया गया है। व्यासतीर्थ के शिष्य तरंगिणीकार द्वारा किये गये आक्षेपों का उत्तर लघुचन्द्रिकाकार ने दिया है। इस प्रकार यह द्वैत एवं अद्वैतवादों की खण्डनपरम्परा चली है। खण्डनखण्डखाद्य अद्वैत वेदान्त का एक अद्वितीय ग्रन्थ है। इसमें श्रीहर्ष ने नागार्जुन की शैली से प्रमाण, प्रमेय आदि तत्त्वों की सर्व प्रकार से तार्किक असिद्धि बतलायी है। तार्किक विश्लेषण करने पर श्रीहर्ष के अनुसार संसार में किसी भी वस्तु की सिद्धि सम्भव नहीं। ब्रेड्ले के समान श्रीहर्ष भी इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि प्रमाण-प्रमेय आदि तत्त्वों की सिद्धि विरोधपूर्ण है। इसलिए विश्व की सभी वस्तुएँ अनिर्वचनीय हैं।

उपर्युक्त सभी ग्रन्थों में नाना प्रकार से अद्वैतब्रह्म की ही सिद्धि की गयी है। अद्वैतब्रह्म की सिद्धि के लिए आत्मा-अनात्मा-अध्यास, अनिर्वचनीय अविद्या, ब्रह्म का निर्गुणत्व, जीव-ब्रह्म-एकत्व, तत्त्व-मसि का अखण्डार्थत्व, जगत् मिथ्यात्व, मुक्ति में जीव—ब्रह्मैक्य आदि विषयों का विवेचन उक्त ग्रन्थों में हुआ है।

संक्षिप्त तत्त्वमीमांसा : आत्म-अनत्माध्यास

ब्रह्मसूत्र में 'अथातो ब्रह्म जिज्ञासा' इस प्रथम सूत्र द्वारा ब्रह्म की जिज्ञासा का प्रतिपादन हुआ है। श्रुति में भी 'तद्विजिज्ञासस्व' कहा गया है। यहाँ पर ब्रह्म जिज्ञासा में प्रश्न उठाया गया है कि ब्रह्म की जो जिज्ञासा करनी चाहिए उस जिज्ञासा का विषय ब्रह्म ज्ञात है अथवा अज्ञात। यदि ब्रह्म ज्ञात है तो उस विषय में जिज्ञासा का उदय ही नहीं हो सकता, यदि अज्ञात है तो जिज्ञासा ही असम्भव है।[1] कोई भी व्यक्ति पूर्ण रूप से अज्ञात वस्तु की जिज्ञासा नहीं कर सकता, न ही पूर्ण रूप से ज्ञात वस्तु की जिज्ञासा हो सकती है। पूर्ण रूप से ज्ञात एवं पूर्ण रूप से अज्ञात वस्तुओं में सन्देह नहीं हो सकता, सन्देह के बिना जिज्ञासा सम्भव नहीं। इस समस्या का समाधान आचार्य शंकर ने किया है। उनके अनुसार ब्रह्म की जिज्ञासा असम्भव नहीं है। आत्मरूप से ब्रह्म सबके लिए प्रसिद्ध है। आत्मास्तित्व को सभी मानते हैं। कोई भी 'मैं नहीं हूँ' इस प्रकार नहीं कहता।[2] अद्वैत

1. ब्रह्मप्रसिद्धमप्रसिद्धं वा स्यात्। यदि प्रसिद्धं, जिज्ञासितव्यम्। अथाप्रसिद्धं, नैव शक्यं जिज्ञासितुमिति। ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य, पृ० 79
2. सर्वस्यात्मत्वाच्च ब्रह्मास्तित्वप्रसिद्धिः। सर्वोह्यात्मास्तित्वं प्रत्येति न नाहमिति—आत्मा च ब्रह्म। ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य, पृ० 81

वेदान्त आत्मकेन्द्रित दर्शन है। देकार्त के समान स्वतःसिद्ध आत्मास्तित्व को केन्द्र बनाकर अद्वैत दर्शन प्रवृत्त होता है। इस प्रकार आत्मा के रूप में अर्थात् 'मैं हूँ' के अनुभव से आचार्य शंकर आत्मा की प्रसिद्धि करते हैं। उनके अनुसार आत्मा ही ब्रह्म है, यह बात शंकर शास्त्रीय आधार पर मान लेते हैं, क्योंकि उपनिषद्शास्त्रों की मीमांसा एवं समन्वय ही उनका कार्य है। इसीलिए शास्त्र-प्रमाण उनके लिए दार्शनिक आधार है। आत्मा के रूप में ब्रह्म प्रसिद्ध होने पर भी आत्मा स्वयं अपने स्वरूप से प्रसिद्ध नहीं है। अर्थात् आत्मा जिस रूप में प्रसिद्ध है, वह आत्मा का स्वरूप नहीं है। वह तो आत्मा का अध्यस्त रूप है। इसीलिए स्वरूपभूत आत्मा की जिज्ञासा होनी चाहिए। इस प्रकार आचार्य शंकर आत्मा को प्रसिद्ध बतलाते हुए भी वास्तविक स्वरूपभूत आत्मा को अप्रसिद्ध मानकर आत्मा की अर्थात् ब्रह्म की जिज्ञासा का प्रतिपादन करते हैं। जहां पर 'अहं' करके आत्मा का प्रत्यक्ष होता है वहाँ पर शरीर को लेकर ही 'मैं देवदत्त हूँ', 'मैं स्थूल हूँ' इत्यादि प्रयोग होते हैं। शरीर-अभिमानी के रूप में आत्मा स्वरूपभूत आत्मा नहीं है, आत्मा शुद्ध चेतन है। उसमें स्थूलत्व आदि धर्म सम्भव नहीं, स्थूलत्व आदि जड़ वस्तुओं के धर्म हैं। आत्मा अभौतिक है, अतः उसमें वास्तविक अर्थ में भौतिक धर्म नहीं हो सकते। स्थूल शरीर एवं अन्तःकरण के धर्मों को लेकर जीवात्मा सुखी-दुखी होता है। आत्मा का इस प्रकार शरीर धर्मों के साथ तादात्म्यभाव वस्तुतः अध्यासपूर्वक है। आत्मा विषयी है। विषय अनात्मा जड़ पदार्थ है। विषयी एवं विषय प्रकाश एवं अन्धकार के समान परस्पर विरोधी हैं। दोनों का किसी प्रकार से सम्बन्ध नहीं बन सकता, फिर भी आत्मा-अनात्मा का इतरेतरभावसम्बन्ध होता है। वस्तुतः यह सम्बन्ध आध्यासिक ही है। यह आध्यासिक सम्बन्ध मिथ्या सम्बन्ध है।[1] अध्यास मिथ्या सम्बन्ध का मूल है। इस अध्यास के कारण ही चेतन आत्मा में जड़ वस्तु के सम्पर्क से 'अहमिदं', 'मम इदम्' इत्यादि प्रकार से मिथ्याभिमान का उदय होता है। लोग इस मिथ्याभिमान को स्वाभाविक एवं सत्य समझने लगते हैं; यह मिथ्या अभिमान अनादि अज्ञान के कारण है, यह नहीं समझ पाते। इस प्रकार यह लोकव्यवहार अनादि अज्ञान के कारण चल रहा है।[2]

अध्यास का विवरण देते हुए आचार्य शंकर ने भाष्य में कहा है कि 'स्मृतिरूपः परत्र पूर्वदृष्टावभासः'[3] अर्थात् पूर्वदृष्ट वस्तु के समान अन्यत्र प्रतीति अध्यास है। अध्यास को 'अतस्मिन् तद्बुद्धिः' समझना चाहिए। जो जिसमें नहीं, उसमें उसकी प्रतीति अध्यास है। अध्यास भ्रम ज्ञान है। यह 'तद्वति तत्प्रकारक' ज्ञान नहीं है, अपितु 'तदभाववति तत् प्रकारक' ज्ञान है। जैसे शुक्ति रजत में रजत-अभाव होने पर भी रजत प्रकारक ज्ञान भ्रम से हुआ करता है। यह अध्यासज्ञान का उदाहरण है। अध्यासज्ञान को स्मृति-रूप कहा गया है। अर्थात् यह ज्ञान स्मृति के समान है न कि स्मृति। स्मृति में विषय उपस्थित नहीं

---

1. युष्मदस्मत् प्रत्ययगोचरयोर्विषयविषयिणोः···इत्यादि। ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य, पृ० 6-15
2. ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य, पृ० 16-17
3. वही, पृ० 17-18

रहता, भ्रम-ज्ञान में द्रष्टा के सामने विषय उपस्थित होता है। स्मृति रूप कहने का तात्पर्य और भी है कि जिस प्रकार स्मृति संस्कार से उत्पन्न होती है उसी प्रकार मिथ्या-ज्ञान भी संस्कारजन्य है किन्तु स्मृतिज्ञान प्रत्यक्ष नहीं होता। भ्रमज्ञान प्रत्यक्षज्ञान होता है। आचार्य पद्मपाद के अनुसार भ्रम ज्ञान में अधिष्ठान अवश्य होता है।[1] भ्रम किसी आश्रय में होता है। सर्पभ्रम रज्जुरूप आश्रय में हुआ करता है, उसी प्रकार ब्रह्म को आश्रय करके सम्पूर्ण जगत्भ्रम होता है। वाचस्पति मिश्र ने अध्यास का संक्षिप्त लक्षण प्रस्तुत करके कहा है कि, 'अवभासोऽध्यासः', उनके अनुसार अवभास ही अध्यास है। स्मृतिरूप, परत्र एवं पूर्वदृष्ट—इन तीनों पदों द्वारा उक्त लक्षण का विश्लेषण हुआ है। भास का अर्थ प्रकाश है। यहाँ पर प्रकाश प्रतीति को कहा गया है। 'अव' पद से अवसाद प्राप्त भास समझना चाहिए। परवर्ती ज्ञान से वाधित होना ही अवसाद को प्राप्त करना है। भ्रम ज्ञान परवर्ती सत्य ज्ञान से बाधित होता है। इसलिए भ्रमज्ञान अवसाद प्राप्त ज्ञान है। इस प्रकार अवभास का अर्थ भ्रम ज्ञान हुआ, और यही अध्यास का लक्षण भी हुआ।[2] शुक्ति-रजत भ्रमस्थल में जिस प्रकार रजत शुक्ति में अध्यस्त है, उसी प्रकार अद्वैत वेदान्त के अनुसार जगत् प्रपंच भी ब्रह्म में अध्यस्त है एवं मिथ्या है। शुक्ति रजत भ्रम में जो शुक्ति-बोध होता है, उसका शुक्तिज्ञान से बाध हो जाता है। बाध होने के कारण ही उक्त रजत अध्यस्त है। उसी प्रकार ब्रह्म के ज्ञान से यह प्रपंच एवं अहं-मम आदि व्यवहार बाधित हो जाते हैं। बाधित होते हैं, इसीलिए वे सब अध्यस्त हैं। अध्यास लक्षण में 'परत्र' शब्द द्वारा भ्रमअधिष्ठान का कथन हुआ है। उक्त भ्रमस्थल के दृष्टान्त में जिस प्रकार बिना शुक्ति के रजत-भ्रम नहीं हो सकता, उसी प्रकार बिना सत्य अधिष्ठान ब्रह्म के प्रपंचभ्रम नहीं हो सकता। प्रातिभासिक रजतभ्रमस्थल में पूर्वदृष्ट रजत का स्मरण अपेक्षित है। इसीलिए अध्यास लक्षण में स्मृतिरूप पद दिया गया है। पंचपादिका में इसकी व्याख्या करते हुए पद्मपाद ने कहा है कि 'स्मृतेः रूपमिव रूपमस्य, न पुनः स्मृतिरेव'[3] अर्थात् स्मृति के समान न कि स्मृति, ऐसा 'स्मृतिरूप' पद का तात्पर्य है। पूर्वदृष्ट होने पर ही वस्तु का संस्कार रहता है और उसी का अवभास परत्र, अर्थात किसी अधिष्ठान में होना ही अध्यास है। इस प्रकार अध्यास लक्षण में दिए गये, सभी पदों की सार्थकता हो जाती है। अद्वैत वेदान्त में जिस प्रकार प्रातिमासिक वस्तुएँ आध्यसिक होती हैं, उसी प्रकार व्याव-हारिक प्रपंच भी आध्यासिक है। व्यावहारिक प्रपंच अध्यास के लिए भी प्रपंच के अनादि होने के कारण पूर्व-पूर्व प्रपंच के दृष्ट संस्कारों की संगति बन सकती है। अध्यास में अधिष्ठान की अपेक्षा, अध्यस्त की सत्ता न्यून होती है। इसीलिए परिमलकार अप्पय दीक्षित ने 'अधिष्ठानासमसत्ताकस्यावभासोऽध्यासः'[4] यह अध्यास का लक्षण किया है, अर्थात् अधिष्ठान से विषम सत्ता के साथ अध्यास होता है। वेदान्त कल्पतरुकार

1. पंचपादिका, पृ० 62-63 मद्रास।
2. भाष्यभामती, पृ० 18
3. पंचपादिका, पृ० 41
4. कल्पतरुपरिमल, पृ० 19

अमलानन्द स्वामी ने, 'असन्निहितस्य परत्र प्रतीतिरध्यासः'[1] ऐसा अध्यास का लक्षण किया है। असन्निधान का अर्थ है अधिष्ठान में वास्तविक अर्थ में वस्तु का न होना। फिर भी उसमें उसकी प्रतीति होना ही अध्यास है। पंचपादिकाकार अनेकों दृष्टान्त देकर अध्यासलक्षण को घटाया है। उन्होंने कहा है कि जिस प्रकार जपाकुसुम के सान्निध्य से स्फटिक में लालिमा आ जाती है, स्फटिक में वस्तुतः लालिमा नहीं होती, उसी प्रकार आत्मा में अहंकार आदि का उपराग होता है। यही अध्यास है। उन्होंने दर्पण में मुख प्रतिबिम्बदर्शन के उदाहरण द्वारा भी अध्यास को समझाया है।[2] आत्मा में वस्तुतः अहंकार आदि धर्म नहीं हैं। वे धर्म अन्तःकरण के हैं। अन्तःकरण के धर्मों को अध्यास के कारण आत्मा में मान लिया जाता है। तथा आत्मा के संसर्ग का अध्यास अन्तःकरण में होता है।[3] अद्वैत वेदान्तियों ने इस आत्मा-अनात्मअध्यास को दो प्रकार का बतलाया है। ज्ञानाध्यास एवं अर्थाध्यास। अर्थाध्यास छः प्रकार का होता है। केवल सम्बन्धाध्यास, सम्बन्धसहित सम्बन्धी का अध्यास, अन्योन्याध्यास, एवं अन्यतराध्यास। सम्बन्धाध्यास में आत्मा का सम्बन्धाध्यास होता है, क्योंकि आत्मा का स्वरूपतः अनात्मा में अध्यास नहीं हो सकता। अन्तःकरण आदि में आत्मा का संसर्ग हो सकता है। इसी को सम्बन्धाध्यास कहते हैं। आत्मा में अनात्मा अन्तःकरण आदि का तथा उनके सम्बन्ध का भी अध्यास होता है। आत्मा में स्थूलदेह के धर्मों का अध्यास होता है। जैसे 'मैं स्थूल हूँ', 'मैं कृश हूँ' इत्यादि। अन्तःकरण के धर्मों एवं स्वरूप का अध्यास आत्मा में होता है। इसी प्रकार अन्योन्याध्यास, अन्यतराध्यास भी समझना चाहिए।[4] मूल बात यह है कि आत्माअनात्मा अध्यास में आत्मा स्वच्छ है, शुद्ध चेतन है, इसीलिए जिस प्रकार स्फटिक में लालिमा का संसर्गाध्यास होता है, स्फटिक में लालिमा चढ़ती नहीं है, वह तो स्वच्छ ही रहता है, उसी प्रकार आत्मा में अन्तःकरण एवं अन्तःकरण के धर्मों तथा शरीर के धर्मों का अध्यास होता है, फिर भी आत्मा स्वच्छ ही रहती है। किन्तु इसी अध्यास को लेकर ही आत्मा में मिथ्या कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि का उदय होता है और जीव सुखी-दुखी होता रहता है।

इसी अध्यास को समझाने के लिए अद्वैत वेदान्तियों ने असत्-ख्याति, आत्मख्याति, अख्याति एवं अन्यथा-ख्याति आदि ख्यातिवादों का खण्डन करके अनिर्वचनीय ख्याति मानी है।[5] भ्रमस्थल में प्रतीत रजत न सत् और न ही असत् है। सत् होने पर बाधित न होता, असत् होने पर प्रतीत न होता। उक्त रजत की प्रतीति होती है तथा शुक्ति ज्ञान से

---

1. वेदान्त कल्पतरु, पृ० 19
2. पंचपादिका, पृ० 100, 105
3. पंचपादिका, पृ० 113
4. विस्तृत व्याख्या के लिए 'शंकरोत्तर अद्वैत वेदान्त में मिथ्यात्व निरूपण' (राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी) पृष्ठ 23 द्रष्टव्य।
5. शांकरभाष्य ब्रह्मसूत्र भूमिका, उस पर परिमल एवं विमुक्तात्माकी इष्टसिद्धि द्रष्टव्य है।

वह बाधित भी होता है, इस प्रकार की वस्तु को अद्वैत वेदान्त अनिर्वचनीय कहता है।[1] उक्त वस्तु के ज्ञान को अनिर्वचनीय ज्ञान कहा जाता है। यही अनिर्वचनीय-ख्याति है।

यह अध्यास आचार्य शंकर के अनुसार अनादि है। इस अनादि अध्यास के कारण आत्मा का स्वरूप प्रकाशित नहीं होता। अज्ञान-आवरण के कारण उसका स्वरूप आवृत होता है तथा अनात्मा अन्तःकरण एवं शरीर के धर्मों का विक्षेप उत्पन्न हो जाता है। जब तक आत्म-अनात्मविवेक द्वारा आत्मज्ञान नहीं होता तब तक इस मिथ्या अध्यास का नाश नहीं होगा। इस मिथ्या अध्यास का कारण अनादि अज्ञान है।

अविद्या—आचार्य शंकर ने अध्यास को मिथ्या अज्ञाननिमित्त कहा है।[2] विवरणकार प्रकाशात्मयति ने भी अज्ञान को अध्यास का उपादान कहा है।[3] अविद्या अनादि है, इस अविद्या के कारण ही आत्मा-अनात्मा का अध्यास होता है। यही बन्धन है। अविद्या की निवृत्ति के साथ-साथ सम्पूर्ण जगत्भ्रम दूर हो जाता है तथा देहात्मबोध समाप्त हो जाता है। अविद्या को अज्ञान शब्द से भी अभिहित किया गया है। यह अज्ञान अद्वैत वेदान्त के अनुसार ज्ञानाभावरूप नहीं है। अविद्या का लक्षण प्रस्तुत करते हुए आचार्य चित्सुख ने तत्वप्रदीपिका के प्रथम परिच्छेद में कहा है कि "अनादि भावरूपं यद्विज्ञानेन विलीयते।" अर्थात् अद्वैत वेदान्त के अनुसार अज्ञान अनादि है, साथ में वह भावरूप है। भावरूप होने के कारण उसे ज्ञानाभाव नहीं कह सकते। ज्ञानाभाव तो अभावरूप है। अज्ञान भावरूप होने पर भी विनाशी है, क्योंकि अज्ञान के विषय में विज्ञान से विलय होने को कहा गया है। आचार्य मधुसूदन सरस्वती ने भी अज्ञान का लक्षण चित्सुखाचार्य के समान ही किया है। उनका भी कहना है कि जो भावरूप होते हुए, अनादि होते हुए ज्ञान द्वारा नाश्य है, वही अज्ञान है।[4] वाचस्पति मिश्र ने भी अविद्या को भावरूप ही कहा है।[5] अविद्या को भावरूप कहने का तात्पर्य यह है कि अद्वैत वेदान्त के अनुसार जगत् प्रपंच अलीक नहीं है। जगत् प्रपंच को अलीक मानने पर अद्वैत वेदान्त का शून्यवाद में प्रवेश होगा। इसलिए अद्वैत वेदान्तियों ने प्रपंच को सत् से भिन्न एवं असत् से भिन्न अनिर्वचनीय कहा है, इस अनिर्वचनीय जगत् का उपादान अविद्या भी अनिर्वचनीय है। अविद्या को अनिर्वचनीय अर्थ में भावरूप कहा जाता है, अर्थात् असत्-अलीक पक्ष में अद्वैत वेदान्त को पृथक् करने के लिए अविद्या को भावरूप कहा गया है। यह भावरूपता त्रिकालाबाध्यरूप नहीं है। त्रिकालाबाध्यरूप भावरूपत्व एकमात्र ब्रह्म का ही है। ब्रह्म ही त्रिकालाबाध्यरूप सत् है। अविद्या का ब्रह्मज्ञान से बाध हो जाता है, इसलिए अविद्या अबाधित सत् नहीं है। अविद्या का बोध होता है, इसलिए वह बन्ध्यापुत्र के समान अलीक भी नहीं है, क्योंकि अलीक का बोध नहीं देखा गया है। अलीक की प्रतीति नहीं होती।[6] इसलिए अलीक

---

1. अद्वैतसिद्धि, पृ० 63
2. ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य, पृ० 16
3. पंचपादिका विवरण, पृ० 73
4. अद्वैतसिद्धि, पृ० 544
5. भावरूपा मताऽविद्या स्फुटं वाचस्पतेरिह। वेदान्त कल्पतरु 1।3।30 सूत्र में टीका।
6. अद्वैतसिद्धि, पृ० 50, 51

विषयक बोध सम्भव नहीं। बाधित विषय का किंचित् भावरूपत्व अर्थात् प्रातीतिक भाव-रूप त्व अद्वैत वेदान्त को स्वीकार है। अविद्या का भावरूपत्व इसी प्रकार प्रातीतिक भाव-रूपत्व है। इस प्रकार प्रातीतिक भावरूप अविद्या को उपादान मानने पर जगत् सृष्टि की प्रतीति की संगति भी बैठ जाती है और अद्वैत वेदान्त का ब्रह्मवाद शून्यवाद से भिन्न हो जाता है। अविद्या का बाध होने के कारण अविद्याकार्य प्रपंच का भी बाध हो जाता है, इसलिए अविद्या एवं प्रपंच इस अर्थ में मिथ्या हैं।

पूर्वोक्त अर्थ में अद्वैत वेदान्त के अनुसार अविद्या अनिर्वचनीय है जो सद्रूप से एवं असद्रूप से प्रतिपाद्य नहीं है, उसे अद्वैत वेदान्त में अनिर्वचनीय कहा जाता है।[1] इसी प्रकार उस अविद्या उपादान से उत्पन्न प्रपंच भी सद्रूप एवं असद्रूप से प्रतिपाद्य न होने के कारण अनिर्वचनीय है। अनिर्वचनीय होने पर भी जिस प्रकार रज्जुज्ञान से भ्रमस्थलीय सर्प का बाध हो जाता है, उसी प्रकार ब्रह्म विज्ञान से अविद्या अपने कार्यों सहित बाधित हो जाती है, इसीलिए अविद्या ज्ञान द्वारा निर्वत्य है।

अद्वैतवेदान्तियों में अविद्या के आश्रय के विषय में कुछ मतभेद हैं। कुछ लोग ब्रह्म को अविद्या का आश्रय कहते हैं। ब्रह्म के अतिरिक्त अविद्या आदि द्वैत प्रपंच मिथ्या हैं। उस मिथ्या प्रतीति का आश्रय भी ब्रह्म ही हो सकता है, क्योंकि ब्रह्मातिरिक्त परमार्थ है नहीं, जिसे अविद्या का आश्रय कहा जाये। जीव भी वस्तुतः ब्रह्म ही है। इसीलिए इस मत में अविद्या का आश्रय एकमात्र ब्रह्म ही रह सकता है। अविद्या का ज्ञान से विरोध है, किन्तु ज्ञानस्वरूप ब्रह्म से अविद्या का विरोध नहीं है, क्योंकि वास्तविक अर्थ में अविद्या भी ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ नहीं है। अविद्या का विरोध वृत्तिज्ञान के साथ है।[2] जब ब्रह्म विषयक वृत्तिज्ञान का उदय होता है, तब अविद्या का नाश होता है। इसीलिए वृत्तिज्ञान से ही अविद्या का विरोध समझना चाहिए, ब्रह्म को अज्ञानाश्रय मानने पर भी ब्रह्म उससे निर्लेप होता है, इसीलिए उसमें अविद्यागत दोष नहीं आते, वह असंग रहता है।[3] अद्वैत-सिद्धिकार ने अविद्या का आश्रय ब्रह्म को ही बतलाया है।[4] वाचस्पति मिश्र ने अविद्या का आश्रय जीव है और विषय ब्रह्म है, कहा है, क्योंकि जीव में ही ब्रह्मविषयक अज्ञान होता है। इस पर शंका हो सकती है कि जीव तो स्वयं अविद्याकृत है, फिर वह अविद्या का आश्रय कैसे बन सकता है? अविद्या का आश्रय जीव है एवं जीव का जीवत्व अविद्या-कल्पित है, इस प्रकार परस्पर-आश्रयता का दोष होगा। वाचस्पति मिश्र का उत्तर है कि बीजांकुर-वत् परस्पर आश्रयता को यहाँ पर दोष नहीं माना जा सकता।[5] वाचस्पति मिश्र के

---

1. तत्त्वप्रदीपिका, पृ० 89
2. अज्ञानविरोधि ज्ञानं हि न चैतन्यमात्रम्, किन्तु वृत्ति प्रतिबिम्बितम्।—अद्वैतसिद्धि, पृ० 577
3. विवरण प्रमेय संग्रह, पृ० 81
4. अविद्याया आश्रयस्तु शुद्ध ब्रह्मैव। तदुक्तम्-आश्रयत्वविषयत्वभागिनी निर्विभाग-चितिरेव केवला।—अद्वैतसिद्धि, पृ० 577
5. भामती, पृ० 378

जीवाश्रय अविद्यावाद को विवरण अनुयायियों ने नहीं माना है। उनके अनुसार अविद्या का आश्रय एवं विषय ब्रह्म ही है। अविद्या के आश्रय एवं विषय के सम्बन्ध में मण्डनमिश्र भी जीवाश्रयअविद्यावादी हैं। उन्होंने ब्रह्मसिद्धि में 'अविद्या जीवानामिति ब्रूमः'[1] कहा है, जीव आश्रित ब्रह्मविषयक अविद्या होती है, ऐसा उनका सिद्धान्त है। सुरेश्वर के अनुसार अविद्या का आश्रय ब्रह्म ही है, एवं विषय भी। अज्ञानकल्पित जीव अविद्या का आश्रय नहीं हो सकता।[2] आचार्य शंकर के अनुसार अविद्या का आश्रय ब्रह्म ही जान पड़ता है, क्योंकि उन्होंने 1।4।3 सूत्रभाष्य में अविद्या को परमेश्वराश्रया मायामयी कहा है,[3] इसीलिए विवरण आचार्य आदि आचार्यों ने शंकर का ही अनुसरण करते हुए अविद्या को ब्रह्माश्रित माना है। अद्वैतसिद्धिकार ने जीवाश्रित, अविद्या पक्ष को भी असंगत नहीं बतलाया है।[4] विचार करने पर जीवाश्रय पक्ष भी पूर्णतया असंगत नहीं लगता, क्योंकि अज्ञान जीव को ही होता है, वह अज्ञान ब्रह्मविषयक जीव आश्रयक होता है, जैसे भ्रमस्थल में शुक्तिविषयक भ्रान्त व्यक्तिआश्रयक अज्ञान होता है।

कल्पनाभेद से प्रति जीव में अविद्या मानी गई है। एक ही अविद्या कल्पनाभेद से नाना अन्तःकरणरूपों में प्रतीत होती है। इसीलिए अविद्या के एक होने पर भी नाना जीव सम्भव हो सकते हैं। कुछ लोग प्रति जीव नाना अविद्या को भी मानते हैं। आचार्य वाचस्पति मिश्र ने प्रति जीव नाना अविद्या मानी है, किन्तु अविद्या का नानात्व भी कल्पित ही है।[5] जो लोग अविद्या को एक मानते हैं, उनके अनुसार भी कल्पित भेद मानना ही पड़ता है। आचार्य शंकर ने अविद्या को माया भी कहा है। उनके अनुसार माया, अविद्या में कोई भेद नहीं है।[6] कुछ लोग आवरण शक्ति प्रधान को अविद्या एवं विक्षेप शक्ति प्रधान को माया कहते हैं। अविद्या की दो शक्तियाँ हैं—आवरण एवं विक्षेप। आवरण शक्ति से अविद्या वस्तु के स्वरूप को आवृत्त कर लेती है एवं विक्षेपशक्ति से उस वस्तु में विपरीत रूप की प्रतीति करा देती है।[7] जैसे शुक्तिरजत भ्रमस्थल में अविद्या की आवरणशक्ति द्वारा अर्थात् शुक्तिविषयक अज्ञान की आवरणशक्ति द्वारा शुक्ति का स्वरूप भ्रान्त व्यक्ति के लिए आवृत हो जाता है। अज्ञान की विक्षेप शक्ति द्वारा उस अज्ञात शुक्ति को आश्रय करके रजत की प्रतीति होने लगती है। इस प्रकार अज्ञान की विक्षेप शक्ति वस्तु

---

1. ब्रह्मसिद्धि, पृ० 10 तथा शंखपाणि टीका, पृ० 29
2. बृहदारण्यक वार्तिक भाग 1, श्लोक 175-182
3. ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य, पृ० 378
4. अद्वैतसिद्धि, पृ० 585
5. न वयं प्रधानवदविद्यां सर्वजीवेष्वकामाचक्ष्महे, येनैवमुपालम्भेमहि, किन्त्वयं प्रति जीव भिद्यते।—भामती, पृ० 377
6. पंचदशीकार विद्यारण्यमुनि ने 'सत्व शुद्धयविशुद्धिभ्यां मायाविद्ये च ते मते' अर्थात् शुद्ध सत्व प्रधान माया एवं मलिनसत्व प्रधान अविद्या—इस प्रकार माया अविद्या भेद किया है।—पंचदशी-1।16
7. वेदान्तसार 16, पृ० 25 वाराणसी 1972

को अन्यथारूप में दिखाती है। वस्तु को अन्यथा रूप में देखना ही अध्यास है। इस अध्यास का मूल अज्ञान ही है। अविद्या की सिद्धि में अद्वैत वेदान्तियों ने प्रत्यक्ष, अनुमान, अर्थापत्ति आदि प्रमाण भी प्रस्तुत किये हैं। अज्ञान की सिद्धि में श्रुति प्रमाण भी दिये जाते हैं। विवरण आदि ग्रन्थों में अज्ञान की सिद्धि एवं अज्ञान की भावरूपता की सिद्धि में बहुत विस्तार से विचार मिलते हैं। आचार्य चित्सुख ने भी तत्त्वप्रदीपिका में अज्ञान की सिद्धि एवं उसकी भावरूपता पर बहुत विचार किया है। इस विषय में तद्तद् ग्रन्थ द्रष्टव्य हैं।

आत्मा एवं ब्रह्म—अद्वैत वेदान्त के अनुसार आत्मा स्वतःसिद्ध एवं सत् है, यह पहले कहा जा चुका है। आत्मा देहेन्द्रियों से भिन्न वस्तुतः निर्लेप एवं चेतनस्वरूप है। यह आत्मा ही ब्रह्म है 'अयमात्मा ब्रह्म' आदि श्रुतियों द्वारा आत्मा को ब्रह्म कहा गया है। अद्वैत वेदान्त के अनुसार एकमात्र ब्रह्म ही सम्पूर्ण प्रपंच का सार है एवं अधिष्ठान है। ब्रह्म के अतिरिक्त वस्तुतः प्रपंच साररहित है। ब्रह्मरूप अधिष्ठान में ही प्रपंच की प्रतीति हो रही है। यह प्रतीति अज्ञानमूलक है, अज्ञान का भी आश्रय ब्रह्म है, यह कहा जा चुका है। अद्वैत वेदान्त के अनुसार यह ब्रह्म जगत् का उपादान एवं निमित्त कारण है। इसीलिए ब्रह्म को अभिन्न-निमित्त-उपादान कहा जाता है।[1] श्रुति में एक विज्ञान से सर्वविज्ञान कहा गया है। एक कारण के ज्ञान से सम्पूर्ण कार्य का ज्ञान होता है। इसका अर्थ यह है कि उपादान कारण को जान लेने से कारणरूप कार्य का 'कारणात्मना' ज्ञान हो जाता है, क्योंकि कार्य कारणरूप ही है। जिस प्रकार घट मिट्टी रूप ही है, उसी प्रकार सम्पूर्ण प्रपंच ब्रह्मरूप है।[2] ब्रह्म प्रपंच का निमित्त कारण भी है, क्योंकि मायाधीश ब्रह्म सर्वज्ञ सर्वप्रभु, सर्वशक्तिमान है। सम्पूर्ण कार्यात्मक जगत् कारण के बिना सत् नहीं हो सकता। इसीलिए कारण की सत्ता ही उनमें सत्ता है। अद्वैत वेदान्त के अनुसार ब्रह्म 'एकमेवाद्वितीयम्' है। अर्थात् ब्रह्म में स्वगत-स्वजातीय-विजातीय भेद नहीं है। ब्रह्म के समान दूसरा ब्रह्म नहीं है। ब्रह्म में अवयव भेद नहीं है, क्योंकि वह निरवयव है। चेतन के अवयव नहीं होते। ब्रह्म से विजातीय भी कुछ नहीं है। जो कुछ भी है ब्रह्मानतिरिक्त है, इसलिए श्रुति 'नेह नानास्ति किंचन' कहती है।

अद्वैत वेदान्त के अनुसार यह ब्रह्म अप्रमेय है। प्रत्यक्षादि प्रमाणों से अगम्य है। ब्रह्म का अनुमान भी नहीं कर सकते, क्योंकि अनुमान के लिए हेतु की आवश्यकता होती है। ब्रह्म का किसी से संसर्ग नहीं है, वह निःसंग है, इसलिए श्रुति में 'नैषा तर्केण मतिरापनेया' कहा है। यह तार्किकबुद्धि से परे है। मन बुद्धि, वाणी की वहाँ पहुँच नहीं है। वह वाक्य मन का अगोचर है। फिर भी ब्रह्मविषयक कुछ जानकारी के साधन हो सकते हैं, तो एकमात्र शास्त्र ही हो सकते हैं। इसलिए ब्रह्म शास्त्र प्रमाणवेद्य है।[3] शास्त्र-प्रमाण लक्षण द्वारा ही ब्रह्म का प्रतिपादन करता है। इसलिए 'महिम्नःस्तोत्र' में पुष्पदन्ताचार्य ने कहा है कि 'चकितमभिधत्ते श्रुतिरपि' श्रुति भी चकित रहकर किसी प्रकार

---

1. ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य, 1।4।23
2. वही, 2।1।14
3. श्रुत्यादयोऽनुभवादयश्च यथा सम्भवमिह प्रमाणम्। ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य 1।1।1

उसका कथन करती है। इसलिए ब्रह्म निषेधात्मक विधि से ज्ञातव्य है। सम्पूर्ण जगत का बाधपूर्वक अर्थात् निषेध करते हुए, ब्रह्म तक पहुँचना है। ब्रह्म जगत् का विवर्तकारण है, जगत ब्रह्म का वि र्त है।

अद्वैत वेदान्त के अनुसार ब्रह्म निर्गुण निर्विशेष है। ब्रह्म सच्चिदानन्द है। किन्तु सत्-चित् एवं आनन्द ब्रह्म के गुण नहीं हैं। यह सब ब्रह्मरूप हैं, क्योंकि इनको गुण मानने पर इनके साथ ब्रह्म का गुण-गुणी-सम्बन्ध मानना पड़ेगा, उस सम्बन्ध को भी सम्बन्धित करने के लिए एक और सम्बन्ध मानना पड़ेगा, इस प्रकार अनवस्था दोष होगा। अद्वैत के अनुसार 'सत्' आदि पद अपने में सार्थक होते हुए भी ब्रह्मरूप के ही बोधक हैं।

श्रुति में ब्रह्म के पर-अपर दो रूप बतलाए गए हैं। वस्तुतः ब्रह्म सबसे अतीत है। व्यावहारिक दृष्टि से उसमें पर-अपर भावों का कथन करने के लिए श्रुति में लोक-व्यवहार का अनुवाद मात्र किया गया है, ऐसा अद्वैतवेदान्तियों का सिद्धान्त है। तात्पर्यलिंग द्वारा विचार करने पर एकमात्र निर्विशेष, निर्गुण ब्रह्म में समस्त वेदान्त वाक्यों का पर्यवसान होता है।[1] यही शांकर सिद्धान्त है। ब्रह्म ही अविद्या का आश्रय करके मायाधीश ईश्वरभाव को प्राप्त करता है। इसीलिए अद्वैतवेदान्त के अनुसार ब्रह्म का ईश्वरभाव भी मायाशबलित होने के कारण प्रातीतिक है। वस्तुतः अविद्या के अस्तमित होने पर एकमात्र ब्रह्म ही अद्वैतभाव से अवशेष रहता है।

जीव—अद्वैत वेदान्त के अनुसार जीव वास्तविक अर्थ में अविद्या-कल्पित है। तत्वविवेककार एवं प्रकटार्थविवरणकार के अनुसार अविद्या में चित्प्रतिबिम्ब ही जीव है। अप्पय दीक्षित ने सर्वज्ञात्ममुनि के मत को उद्धृत करते हुए 'कार्योपाधिरयं जीवः'[2] कहा है। विवरणकार के अनुसार सूर्य जिस प्रकार नाना जलपूर्ण पात्रों में प्रतिबिम्बित होता है, उसी प्रकार शुद्ध चैतन्य भी अन्तःकरण में प्रतिबिम्बत होकर जीवभावापन्न होता है।[3] महाकाश जिस प्रकार घटादि उपाधियों से परिच्छिन्न होकर घटाकाश और महाकाश आदि के रूप में भिन्न-भिन्न प्रतीत होने लगता है, उसी प्रकार विशुद्ध अपरिसीम चैतन्य ही उपाधियों के कारण नाना जीवों के रूप में प्रतीत होता है। इस प्रकार अद्वैत वेदान्त के अनुसार शुद्ध चैतन्य ही अहं-अभिमानी जीव के रूप में प्रतीत होता है। जीव स्वरूप की व्याख्या में अद्वैत सम्प्रदाय में दो प्रसिद्ध मत हैं—1. अवच्छेदवाद और 2. प्रतिबिम्बवाद। अवच्छेदवादी के अनुसार अन्तःकरण अवच्छिन्न चेतन ही जीव है। अन्तःकरण के नाना होने के कारण जीव भी नाना दिखाई देते हैं। इस मत में जीव घटाकाश के समान और ब्रह्म महाकाश के समान है। अवच्छेदवादी के अनुसार जीव के नानात्व सिद्ध होने के कारण जीव ब्रह्म में उपासक उपास्य-भाव भी बन सकता है।

प्रतिबिम्बवादी अद्वैतवेदान्ती अवच्छेदवाद में अनास्था प्रकट करते हुए जीव की व्याख्या में प्रतिबिम्बवाद की युक्तिसंगतता प्रस्तुत करते हैं। वे वास्तविक अर्थ में जीव-

---

1. ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य 1।1।4
2. सिद्धान्तलेशसंग्रह, पृ० 85
3. ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य 2।3।50

ब्रह्म में अभेदसिद्धि के लिए सूर्य और प्रतिबिम्ब का दृष्टान्त प्रस्तुत करते हैं। सूर्य और जलपूर्ण पात्रों में सूर्य प्रतिबिम्बों में भेद नहीं है। यहाँ पर बिम्ब और प्रतिबिम्ब एक हैं। इसी प्रकार बिम्बस्वरूप ब्रह्म और प्रतिबिम्बस्वरूप जीव में कोई भेद नहीं है। वास्तविक अर्थ में दोनों एक हैं। फिर भी प्रतिबिम्ब के आधार के नाना होने से जिस प्रकार प्रतिबिम्बभाव से सूर्य नाना हो सकता है, उसी प्रकार नाना अन्तःकरणों में प्रतिबिम्बित ब्रह्म भी नाना जीवों के रूप में प्रतीत होता है। यद्यपि विशुद्ध चैतन्य ही जीवरूप में प्रतीत होता है, फिर भी व्यवहार में जीवभेद का निषेध नहीं किया जाता।

कुछ अद्वैताचार्य व्यावहारिक दृष्टि से भी एक जीववादी हैं। उनका कहना है कि अविद्या एक है और एक अविद्या में प्रतिबिम्बभूत जीव भी एक ही है। स्वप्न में जिस प्रकार एक व्यक्ति स्वप्नद्रष्टा होकर भी नाना रूपों से स्वयं को देखता है, उसी प्रकार अविद्या प्रतिबिम्बित जीव भी एक ही है, नानात्व दर्शन स्वप्न के समान है। अनेक जीववादी अद्वैत आचार्यों का कहना है कि अविद्या के एक होने पर भी अन्तःकरण रूप में अविद्या नाना है और नाना अन्तःकरणों में प्रतिबिम्बित जीव भी व्यवहार में नाना हैं। इस प्रकार व्यवहार में जीव को नाना मानने पर प्रतिकर्मव्यवस्था भी बनी रहती है।

अद्वैत वेदान्त के अनुसार जीव में कर्तृत्व-भोक्तृत्व-ज्ञातृत्वादि धर्म अध्यस्त हैं, अतः ये धर्म मिथ्या हैं। रामानुजादि दार्शनिकगण जीवकर्तृत्वादि को सत्य धर्म मानते हैं। अद्वैत के अनुसार इन धर्मों को अध्यस्ततया मिथ्या मानने पर ही 'जीवो ब्रह्मैव' कहा जा सकता है। जीवगत परिमाण के विषय में अद्वैतवादी वैष्णव वेदान्तियों द्वारा स्वीकृत अणुपरिमाण का, एवं जैनदार्शनिकों द्वारा स्वीकृत मध्यम परिमाण का प्रत्याख्यान करते हैं। इस विषय में अद्वैतवादी नैयायिकों के साथ हाथ मिलाते हुए जीव को विभुपरिमाणवाला बतलाते हैं। अन्तःकरणादि उपाधियों द्वारा सीमित हो जाने के कारण जीव सीमित लगने लगता है, वस्तुतः वह विशुद्ध चैतन्य स्वरूप है, अतएव विभु है। 'तत्त्वमसि' महावाक्य की व्याख्या द्वारा अद्वैत वेदान्ती जीव ब्रह्म की एकता सिद्ध करते हैं। यहाँ पर विशुद्ध चैतन्यांश को लेकर जीव-ब्रह्म की एकता लक्षणा द्वारा मानी जाती है। इस प्रकार अद्वैत के अनुसार जीव का जीवत्वभाव अविद्या के कारण है। वास्तविक अर्थ में वह ब्रह्म ही है।

जगत्—अद्वैत वेदान्त में जगत् को मिथ्या कहा गया है। मिथ्या का अर्थ यहां पर अलीक नहीं है। अलीक आकाशकुसुमदि ज्ञान का विषय नहीं बनता। अद्वैत वेदान्ती अपने मिथ्यात्ववाद को शून्यवाद से पृथक् रखने का भरसक प्रयास करते हैं। इनके अनुसार जिस प्रकार विश्व का उपादान अविद्या सदसद्विलक्षण अनिर्वचनीय है, उसी प्रकार अविद्या का कार्य जगत् भी अनिर्वचनीय है। अधिष्ठानस्वरूप ब्रह्म के ज्ञान से पूर्व तक जगत्-प्रपंच की प्रतीति होती है। इसलिए व्यवहार काल में जगत् का अपलाभ नहीं किया जा सकता। साथ में यह भी समझ लेने की बात है कि ब्रह्मज्ञान से जगत् बाध्य है। अतः जगत-प्रपंच को त्रिकालाबाध्य नित्य भी नहीं कहा जा सकता। अतः अनिर्वचनीय जगत् मिथ्या है। मिथ्यात्व का लक्षण करते हुए विवरणकार प्रकाशात्मयति ने कहा है कि 'जो प्रतीयमान उपाधि में प्रतीत हो, परन्तु वह उसमें तीनों कालों में न हो—अर्थात् वह

वस्तु उक्त अधिष्ठान में त्रैकालिक निषेध का प्रतियोगी हो, उसे मिथ्या कहते हैं।'[1] जैसे—शुक्तिरजत भ्रम स्थल में शुक्तिरूप अधिष्ठान में रजत तीनों कालों में नहीं है, फिर भी शुक्तिविषयक अज्ञान के कारण शुक्ति में रजत की प्रतीति होती है। वस्तुतः शुक्ति में देखा गया रजत मिथ्या है। उसी प्रकार जगत्-प्रपंच का भी ब्रह्म में प्रतीति भी मिथ्या ही है। ब्रह्म सम्पूर्ण जगत्-भ्रम का अधिष्ठान है। अद्वैप में निरधिष्ठान भ्रम नहीं माना गया। जिस प्रकार शुक्ति रजत-भ्रम स्थल में शुक्ति को अवलम्बन करके ही रजतभ्रम होता है, उसी प्रकार ब्रह्मरूप अधिष्ठान को अबलम्बन करके रजत-भ्रम होता है। जिस प्रकार शुक्ति ज्ञान से रजतभ्रम का बाध हो जाता है, उसी प्रकार ब्रह्मज्ञान से जगत्भ्रम का भी बाध हो जाता है। जगत् की प्रतीति होती है, इसलिए अद्वैत वेदान्त में इसे अलीक नहीं माना गया। इसकी वास्तविक सत्ता ब्रह्म की सत्ता को लेकर है। आचार्य पद्मपाद ने अनिर्वाच्यत्व को ही मिथ्या कहा है।[2] ब्रह्मसाक्षात्कार से जगत्-प्रपंच बाध हो जाता है, इसीलिए विवरणकार प्रकाशात्मयति ने 'ज्ञाननिर्वत्यत्व को मिथ्यात्व' कहा है।[3] ज्ञान द्वारा जिसकी निवृत्ति होती है, वह मिथ्या है। आनन्दबोध भट्टारक ने दृश्यत्व, परिच्छिन्नत्व, एवं जड़त्व आदि हेतुओं से जगत का मिथ्यात्व सिद्ध किया है। जगत एवं जागतिक वस्तुएँ परिच्छिन्न हैं, दृश्य हैं तथा जड़ हैं अतएव मिथ्या हैं। जगत की व्यावहारिक सत्ता की रक्षा के लिए ही आचार्य शंकर ने ब्रह्मसूत्र 'नाभाव उपलब्धेः' 2।2।28 के भाष्य में विषयीविज्ञानवाद का खण्डन किया है तथा बाह्य वस्तुओं को स्वाप्निक पदार्थों से विलक्षण बताया। अद्वैत के अनुसार स्वाप्निक वस्तुएँ प्रातिभासिक हैं तथा जाग्रतकालीन वस्तुएँ व्यावहारिक हैं। जगत् की व्यावहारिक सत्ता को मानकर ही अद्वैत वेदान्ती जीव-जगत् की व्याख्या भी प्रस्तुत किया करते हैं।

सृष्टि की व्याख्या—दार्शनिकों ने नाना पद्धतियों से विश्व सृष्टि की व्याख्या की है। परमतत्व के सम्बन्ध में अपनी-अपनी धारणा के अनुकूल ही सभी दार्शनिकों ने इस सृष्टि को समझने का प्रयास किया है। विश्वसृष्टि को लेकर किसी भी बुद्धिमान व्यक्ति को यह जिज्ञासा होती है कि सृष्टि का रहस्य क्या है? यह सृष्टि कहाँ से आयी है? ऋग्वेदीय ऋषि भी कहते हैं कि 'कुत आजाता, कुत इयं विसृष्टिः' यह सृष्टि कहाँ से हुई? कैसे हुई? यह जिज्ञासा स्वाभाविक है। कारण की दृष्टि से कुछ दार्शनिकों ने भौतिक परमाणुओं से ही इस सृष्टि की उत्पत्ति मानी है। भारतीय दर्शन में न्याय-वैशेषिक आदि दार्शनिक परमाणु-कारणवादी हैं। किन्तु न्याय-दर्शन निमित्त कारण के रूप में ईश्वर को सृष्टि कर्त्ता मानता है। अनीश्वरवादी दार्शनिकों के अनुसार ईश्वर की मान्यता सृष्टि की व्याख्या के लिए आवश्यक नहीं है। उनके अनुसार अनादि जीव-कर्म-शृंखला ही सृष्टि का निमित्त हो सकती है। सांख्य दर्शन में चेतन एवं जड़ दोनों ही तत्त्वों की स्वीकृति है। उनके अनुसार प्रकृति अर्थात् प्रधान तत्त्व से सृष्टि की व्याख्या हो सकती है। प्रधान को

1. पंचपादिका विवरण, पृ० 212 तथा अद्वैतसिद्धि, पृ० 94
2. पंचपादिका, पृ० 88
3. अद्वैतसिद्धि, पृ० 160

मानकर सांख्यवादी प्रकृति-परिणामवाद द्वारा सृष्टि की व्याख्या देते हैं। वैष्णव दार्शनिकगण विश्वसृष्टि को ब्रह्म का परिणाम कहते हैं, उनके अनुसार सृष्टि की व्याख्या के लिए सर्वगुण-सम्पन्न, सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान परमेश्वर की मान्यता ही पर्याप्त है। वैष्णव दार्शनिकगण सृष्टि को परिणाम मानते हैं।

आचार्य शंकर के अनुसार सृष्टि की व्याख्या परमाणु कारणवाद से, प्रकृति परिणामवाद से तथा ब्रह्म परिणामवाद से नहीं दी जा सकती। उन्होंने ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य में पूर्वोक्त वादों का, सृष्टि की व्याख्या के सन्दर्भ में खण्डन किया है। उनके अनुसार सृष्टि की व्याख्या के लिए एकमात्र अद्वैत ब्रह्म की मान्यता पर्याप्त है। यह सृष्टि अद्वैत ब्रह्म का विवर्त है। चूंकि अद्वैत वेदान्ती सृष्टि की व्याख्या के लिए अनिर्वचनीय अविद्या के सिद्धान्त को मान लेते हैं, इसलिए इस सिद्धान्त के माध्यम से वे अद्वैतवादी रहते हुए भी सृष्टि की व्याख्या देने में समर्थ होते हैं। इस व्याख्या के अनुसार सृष्टि के आदि कारण परमाणु नहीं हैं।[1] न ही जड़-प्रकृति है, बल्कि एकमात्र ब्रह्म ही निमित्त एवं उपादान कारण है। मायाशक्ति के माध्यम से ब्रह्म में कारणता मान ली जाती है। वैसे तो कारणता का स्पर्श ब्रह्म में है ही नहीं। 'यतो वा' तथा 'यन्माद्यस्ययतः' आदि उपनिषद्-वाक्य एवं सूत्र ब्रह्म को ही जगत् कारण बतलाते हैं। सांख्य की प्रकृति में ईक्षणा शक्ति नहीं हो सकती, क्योंकि वह जड़ है। इसीलिए निमित्त कारण के रूप में प्रकृति का खण्डन हो जाता है। इसी प्रकार बिना चेतन अधिष्ठित हुए प्रकृति स्वयं सृष्टि के रूप में परिणत नहीं हो सकती। इसलिए वह उपादान भी नहीं बन सकती।[2] ब्रह्म परिणामवाद को मानने पर अद्वैतवेदान्तियों के अनुसार ब्रह्म को विकारी मानना पड़ेगा, क्योंकि परिणाम में विकार देखा जाता है।[3] जिस प्रकार दूध से दधि बनता है और दूध विकृत हो जाता है, उसी प्रकार यदि ब्रह्म जगत्रूप में परिणत होता है तो उसमें भी विकृति अवश्य आयेगी। श्रुति ब्रह्म को अविकारी बतलाती है, इसलिए शंकर के अनुसार ब्रह्म परिणामवाद श्रुतिविरुद्ध है। आचार्य शंकर ने ब्रह्मसूत्र में ब्रह्मपरिणामवाद का खण्डन किया है।[4] वैष्णव दार्शनिकगण ब्रह्माधीन चित्शक्ति के माध्यम से ब्रह्म में परिणाम की संगति बैठाते हैं। साथ ही ब्रह्म को अविकृत भी बतलाते हैं, किन्तु अद्वैत वेदान्तियों को वैष्णव दार्शनिकों की युक्ति समीचीन नहीं लगती।

विवर्तवाद के अनुसार कारण स्वयं कूटस्थ रहकर भी कार्य को उत्पन्न करता है। इस सिद्धान्त के अनुसार कारण से कार्य की न्यून सत्ता होती है।[5] अर्थात् कार्य प्रतीय-

---

1. ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य 2।2।11, 12, 13, 14, 15, 16, 17 आदि में परमाणुवाद का खण्डन हुआ है।
2. 'ईक्षतेर्नाऽशब्दम्' ब्रह्मसूत्र 1।1।5 तथा ब्रह्मसूत्र द्वितीय अध्याय प्रथम एवं द्वितीय पाद में प्रधान कारणवाद का खण्डन हुआ है।
3. परिणामो नाम उपादानसमसत्ताक कार्यापत्तिः। वेदान्तपरिभाषा, पृ० 58
4. ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य 2।1।14 सूत्र तथा भामती कल्पतरु एवं परिमल टीका भी।
5. विवर्तो नाम उपादान विषमसत्ताक कार्यापत्तिः। वेदान्त परिभाषा, पृ० 58

मान होता है। जिस प्रकार शुक्ति रजत भ्रम में शुक्ति अविकृत रहती है तथा उसमें रजत का भ्रम होता है, उसी प्रकार विवर्तवाद में ब्रह्म कूटस्थ एवं अविकृत रहता है एवं उस ब्रह्मरूप अधिष्ठान में जगत्‌रूप भ्रम होता है। यह भ्रम अलीक नहीं है। व्यवहारकालीन सत् है।

इस प्रकार की सृष्टिव्याख्या को अध्यारोप-अपवाद कहते हैं। अद्वैतवेदान्ती सृष्टि-प्रक्रिया को ब्रह्म में आरोप करके फिर अपवाद द्वारा उसका निषेध करते हैं। यही विवर्तवाद है। इस सिद्धान्त के अनुसार आकाशादिक्रम से स्थूल शरीर एवं घटपटादि तक सम्पूर्ण सृष्टि की व्यावहारिक व्याख्या दी जाती है। परमार्थतः सृष्टि का निषेध किया जाता है।

मुक्ति और मुक्ति के साधन—अद्वैत वेदान्त दर्शन भी अध्यात्म दर्शन है। यह दर्शन कुछ आध्यात्मिक मूल्यों को लक्ष्य मानकर आगे बढ़ता है। इन आध्यात्मिक मूल्यों में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार पुरुषार्थों का नाम आता है। इनमें मोक्ष को परम-पुरुषार्थ कहा गया है। अद्वैत वेदान्त के अनुसार आत्यन्तिक दुःखनिवृत्ति और परमानन्द की प्राप्ति ही मोक्ष है। यह ब्रह्म की स्वरूपभूत स्थिति है। मोक्ष कोई नवीन प्राप्ति नहीं है। यह आत्मा का अपना स्वरूप है। अपने स्वरूप को जान लेना ही मोक्ष है। अद्वैत वेदान्ती एक खोये हुए राजकुमार का दृष्टान्त दिया करते हैं। शिकारी के घर में लालित-पालित राजकुमार अपने को शिकारी का बेटा मानता रहा, जब उसे पता चला कि वह राजघराने का राजकुमार है, तब वह अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है।[1] राजकुमार के लिए अपनी पूर्व स्थिति की प्राप्ति कोई नई प्राप्ति नहीं है, अपितु अपने अज्ञान का निराकरण ही है। वह अब यह जान गया कि वह राजकुमार है, न कि शिकारी का बेटा। इसी प्रकार जीव अपने अज्ञान के आवरण के कारण ब्रह्मस्वरूप को नहीं जान पा रहा है और जीव-भावापन्न होकर सुखी-दुःखी हो रहा है। जब ब्रह्मविषयक ज्ञान से अज्ञान की निवृत्ति होगी, तब वह अपनी स्वरूपभूत स्थिति में आसीन हो जाता है। आचार्य शंकर ने ब्रह्मसूत्र भाष्य में मोक्ष की स्थिति के विषय में विवरण देते हुए कहा है कि मोक्ष एक नित्यसिद्ध अवस्था का नाम है, यह उत्पाद्य और विकार्य नहीं है, नहीं यह संस्कार्य है। ऐसा मानने पर मोक्ष को अनित्य मानना पड़ेगा।[2]

अविद्या के कारण जीवत्व है और अविद्या की निवृत्ति से ही जीवत्वभाव का बाध होकर शिवत्व अर्थात् ब्रह्मस्वरूप की प्राप्ति होती है। इसीलिए अद्वैतसिद्धि में मधुसूदन सरस्वती ने ग्रन्थारम्भ में ही कहा है कि "मिथ्याबन्धविधूननेन"[3] अविद्या का बन्धन मिथ्या है, इस मिथ्या अविद्याबन्धन के विधूनन से मोक्ष की प्राप्ति होती है। इस मिथ्या बन्धन का विधूनन किस प्रकार सम्भव है? इसके उत्तर में हम सुरेश्वर की उक्ति को उद्धृत कर सकते हैं कि —"तत्वमस्यादि वाक्योत्था सम्यक् धी जन्ममात्रतः। अविद्या सह

---

1. बृहदारण्यक उपनिषद्—शांकरभाष्य 2।1।20
2. नित्यश्च मोक्षः···नापि संस्कार्यो मोक्षः। ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य सूत्र 1।1।4
3. अद्वैतसिद्धि, मंगलश्लोक।

कार्येण नास्ति नासीत् न भविष्यति" जब "तत्त्वमसि" आदि वाक्यों द्वारा ब्रह्मविषयक सम्यक् ज्ञान की उत्पत्ति हो जाती है, उसी समय सम्पूर्ण कार्य सहित अविद्या का बाध हो जाता है और जीव अपने स्वरूप ब्रह्म में स्थित हो जाता है। यही मुक्ति है, यही परम पुरुषार्थ है।

इस मुक्ति की दो अवस्थाएँ हैं—जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति। ज्ञान होते ही शरीर का पात नहीं होता। अविद्याबन्धन तो विदूरित हो जाता है, परन्तु प्रारब्ध कर्मों के कारण शरीर क्रिया बनी रहती है। जिस प्रकार दण्ड द्वारा चक्र को घुमा चुकने पर, पश्चात् कुछ समय तक बिना घुमाये घूमता रहता है, उसी प्रकार पूर्वकर्मों के अनुसार प्राप्त यह शरीर ज्ञान होते ही नष्ट नहीं होता, किन्तु प्रारब्ध कर्मों के लेशमात्र भी शेष रहने तक चलता रहता है।[1] इस प्रकार ब्रह्मविषयक ज्ञान द्वारा अज्ञान के नाश हो चुकने पर प्रारब्ध कर्मों के शेष होने तक जीवित रहना ही जीवन्मुक्ति है। प्रारब्ध कर्मों का भोग समाप्त होने पर जीवन्मुक्त पुरुष का जब शरीरपात होता है, तब उस स्थिति को विदेहमुक्ति कहते हैं। कहा भी है कि उस परमात्मा के साक्षात्कार से सभी कर्मों का क्षय हो जाता है।[2] अद्वैत वेदान्त के आचार्य मण्डनमिश्र ने जीवन्मुक्ति को साधक की एक उच्चावस्था कहा है। उनके अनुसार जीवन्मुक्ति मुक्ति नहीं है, मुक्ति तो विदेहमुक्ति ही है। जीवन्मुक्ति में ज्ञानोदय पूर्णभाव से नहीं होने के कारण उसमें अविद्यालेश शेष रहता है और जब तक अविद्यालेश शेष रहेगा तब तक मुक्ति नहीं मानी जा सकती। इसलिए मण्डनमिश्र के अनुसार जीवन्मुक्ति सिद्धावस्था नहीं, अपितु उन्नततर की साधकावस्था है। सुरेश्वर आदि अद्वैत आचार्य जीवन्मुक्ति को स्वीकार करते हैं।

इस मुक्ति का साधन एकमात्र ज्ञान है। ब्रह्मविषयक ज्ञान ही ब्रह्मविषयक अज्ञान का निवर्तक होगा। अतः ब्रह्मज्ञान से ही अविद्या की निवृत्ति होगी; यद्यपि 'तत्त्वमसि' 'अहं ब्रह्मास्मि' आदि वेदान्त वाक्यों के श्रवण से ही ब्रह्म साक्षात्कारज्ञान का उदय होता है फिर भी जब तक साधन चतुष्टय सम्पन्न होकर श्रवण-मनन-निदिध्यासन नहीं किया जाता तब तक साक्षात्कारवृत्ति का उदय नहीं हो पाता।[3] इसीलिए सर्वप्रथम साधन चतुष्टय सम्पन्न होने के लिए कहा गया है। साधनचतुष्टय इस प्रकार हैं—1. नित्यानित्यवस्तु-विवेक 2. इहामुत्रफलभोगविराग 3. शमादिषट्क सम्पत्ति 4. मुमुक्षुत्व। ब्रह्मवस्तु ही नित्य है और अन्य सभी अनित्य हैं, इस प्रकार विवेक ही नित्यानित्य विवेक है। सभी के प्रति वैराग्य की भावना ही विराग है। शम, दम, उपरति, तितिक्षा, समाधान और श्रद्धा

---

1. सर्वकर्मक्षयेऽपि भुज्यमानविपाकसंस्कारानुवृत्तिनिबन्धना शरीरस्थितिःकुलालव्यापार-विगमइव चक्रभ्रान्तिः।—ब्रह्मसिद्धि, पृ० 131
2. भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः
क्षीयन्ते चास्यकर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥—मुण्डक उपनिषद्, 2।2।8
3. आत्मावारे, द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्याः।
—वृहदारण्यकोपनिषद्, 2।4।5

—ये षट्कसम्पत्ति हैं। मुक्ति की इच्छा ही मुमुक्षुत्व है। इस प्रकार साधन चतुष्टय सम्पन्न अधिकारी वेदान्त श्रवण करने के पश्चात् मनन एवं निदिध्यासन करके 'तत्वमसि' आदि वेदान्तवाक्यों द्वारा उदित साक्षात्कार वृत्ति को दृढ़तर करता है। और अन्त में सविकल्पक और तदनन्तर निर्विकल्पक समाधियों की स्थिति में 'अहं ब्रह्मस्मि' नामक वृत्तिज्ञान द्वारा समूल अविद्या के नाशपूर्वक ब्रह्मभाव को प्राप्त करता है। ब्रह्मभाव की प्राप्ति वृत्तिज्ञान नहीं कराती, अपितु वृत्तिज्ञान से अज्ञान का नाश होता है और तभी ब्रह्मभाव की प्राप्ति होती है। यह प्राप्ति स्वरूप प्राप्ति है, इसीलिए इसे प्राप्ति न कहकर प्राप्ति के समान कहा गया है। यही अद्वैत के अनुसार परमपुरुषार्थ है, यही अमृतत्व है और अद्वैत की स्थिति है जिसके लिए ब्रह्म जिज्ञासा की जाती है।

2

अद्वैत वेदान्त में ब्रह्म

आत्मा का स्वरूप—अद्वैत वेदान्त में सत् की खोज करने की दो पद्धतियाँ हैं। एक विषयनिष्ठ, दूसरी विषयीनिष्ठ। विषयनिष्ठ पद्धति के अनुसार समस्त कार्यरूप संसार के कारण तत्त्व की खोज की जाती है। 'नेहनानास्तिकिंचन, सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इत्यादि वाक्यों द्वारा सत् को जानने की विषयनिष्ठ पद्धति का आभास मिलता है। 'इदं सर्वं यदयमात्मा' इत्यादि उपनिषद् वाक्यों से विषयीनिष्ठ पद्धति का आभास मिलता है। इसी प्रकार वेदान्त सूत्रों एवं भाष्य द्वारा भी उक्त दो पद्धतियों का संकेत मिलता है। विषय-निष्ठ पद्धति में हमारे सामने विषयरूप में उपस्थित कार्यरूप नानात्व के कारण की खोज की जाती है और करणात्मना सत् को जानने का प्रयास किया जाता है। 'यन्माद्यस्ययत.' (ब्र० सू० 1।1।2) सूत्र से भी इसी विषयनिष्ठ पद्धति की ही पुष्टि होती है। पाश्चात्य दर्शन में इस विषयनिष्ठ पद्धति का दर्शन हमें प्लेटो, आरिस्टोटल, रिपनोजा, ब्रेडले आदि के दर्शनों में होता है। इन दर्शनों में विषयीनिष्ठ पद्धति का दर्शन हमें नहीं होता। देकार्त के दर्शन में दर्शन की विषयीनिष्ठ पद्धति का दर्शन होता है। देकार्त अपने दर्शन को आत्म-केन्द्रित मानता है। इसीलिए वह सर्वप्रथम सन्देहपद्धति द्वारा आत्मा की सिद्धि करता है। आत्मा को वह निःसन्देह सत्य मानता है और उक्त आत्मा को केन्द्र बनाकर जीव-जगत् आदि की सिद्धि करता है। आत्मा विषयी है, इसीलिए आत्मनिष्ठ दर्शनपद्धति को हमने विषयीनिष्ठ पद्धति कहा है।

अद्वैत वेदान्त में जैसा कि ऊपर कहा गया है उक्त दोनों पद्धतियों का उपयोग सत् को जानने के लिए किया गया है। आचार्य शंकर आत्मा को स्वतः सिद्ध कहते हैं और यह कहते हैं कि कोई भी "मैं नहीं हूँ" इस प्रकार अनुभव नहीं करता। अतः इस आत्मा के स्वरूप की खोज करनी चाहिए। यही आत्मा सत् है, इस प्रकार विषयीनिष्ठ पद्धति से सत्य तक पहुँचा जाता है। विषयीनिष्ठ पद्धति में उपनिषद्वाक्यों के आधार पर नानात्व को विश्लेषणपूर्वक मिथ्या सिद्ध किया जाता है तथा एक सत् की खोज की जाती है। कार्य-रूप जगत् के मिथ्या सिद्ध होने पर कारणरूप ब्रह्म ही एकमात्र सत् सिद्ध होता है। वही ब्रह्म आत्मा है। इस प्रकार विषयीनिष्ठ और विषयनिष्ठ दो भिन्न पद्धतियों से एक सत् का ज्ञान होता है।

आत्मा के विषय में दो मतों का अद्वैत वेदान्ती प्रत्याख्यान करते हैं। चार्वाक्

अभिप्रेत भूतचैतन्यवाद का तथा बौद्धदर्शन अभिप्रेत नैरात्म्यवाद का खण्डन भूतातिरिक्त चैतन्यात्मवादी को करना पड़ता है। भूतचैतन्यवादी आत्मचेतना को भूतचेतना मानते हैं, इस प्रकार आत्मा के स्वरूप के सम्बन्ध में वेदान्तदर्शन के अनुसार वे अन्यथावादी हैं। नैरात्म्यवादी बौद्ध आत्मा के अस्तित्व का ही प्रत्याख्यान करते हैं, अतः वे अनात्मवादी हैं।

अद्वैत वेदान्त आत्मकेन्द्रित दर्शन है। इस शरीर में आत्मा को सुखी-दुःखी के रूप में मनुष्य अनुभव करता है। संसार में सांसारिक सुख की जो अनुभूति होती है, विवेकी पुरुष के अनुसार वह भी वस्तुतः दुःखानुभूति ही है।[1] संसार में सुख-दुःख मिश्रित हैं। सुख के बाद दुःख और दुःख के बाद सुख, इस प्रकार परम्परा बनी रहती है। शास्त्र में आत्मा को परमसुख स्वरूप कहा गया है, परन्तु संसार में परमसुख की अनुभूति हमें नहीं होती। ज्ञानी पुरुषों के अनुसार इसका कारण अज्ञान है। इसी अज्ञान से ग्रस्त होने के कारण आत्मा सांसारिक सुख-दुःखों को अनुभव करती है। इसीलिए अज्ञान को अद्वैताचार्यों ने बन्धन का कारण माना है। बन्धन से ही दुःखों की उत्पत्ति है। दुःखों से मुक्ति पाने के लिए बन्धन से मुक्त होना पड़ेगा। बन्धन से मुक्त होने के लिए अज्ञान या अविद्या को दूरीभूत करना होगा। अविद्या को दूरीभूत करने के लिए आत्मा के स्वरूप को जानना होगा। आत्मस्वरूपज्ञानार्थ ही सम्पूर्ण वेदान्तशास्त्रों का उपदेश है। इसीलिए वेदान्त दर्शन को आत्मकेन्द्रित कहने में कोई अत्युक्ति नहीं है। यद्यपि ब्रह्मसूत्र में 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' ब्रह्मसूत्र 1-1-1, इस सूत्र में ब्रह्म के स्वरूप की जिज्ञासा का उल्लेख किया है, फिर भी आचार्य शंकर ने दार्शनिक जिज्ञासा आत्मा के स्वरूप की जिज्ञासा से ही प्रारम्भ की है। ऐसा इसीलिए किया गया, क्योंकि अद्वैत वेदान्त के अनुसार आत्मा ही ब्रह्म है। चूँकि आत्मा के विषय में सामान्य ज्ञान हमें होता है, अतः आत्मा के विशेष स्वरूप की जिज्ञासा की जा सकती है और आत्मस्वरूप को जानकर ब्रह्मस्वरूप को जाना जा सकता है। जब तक आत्मा और ब्रह्म का एकत्व बोध नहीं होता तब तक ब्रह्म का वैसा सामान्य ज्ञान भी नहीं होता जैसा कि आत्मा का होता है, अतः आचार्य शंकर ने आत्मा के स्वरूपविवेचन से ही दार्शनिक विश्लेषण प्रारम्भ किया है। इस विषय में आचार्य शंकर ने स्वयं युक्तियाँ प्रस्तुत की हैं कि आत्मा सामान्यतया तो प्रसिद्ध है, किन्तु विशेषस्वरूपतया प्रसिद्ध नहीं, अतः विशेषस्वरूप की खोज की जानी चाहिए।[2]

आत्मा के स्वरूप के विषय में दार्शनिकों में विप्रतिपत्तियाँ हैं। जहाँ तक अहं-अहं करके अनुभूति का प्रश्न है, वह अनुभूति सभी को समान रूप से होती है। अतः अहं या मैं के वर्तमान रूप में निराकरण कोई नहीं करते। अपितु जो लोग अनात्मावादी हैं वे आत्मा के विशेष स्वरूप का निराकरण करते हैं। भारतीय दर्शन में चार्वाक दार्शनिक देहात्मवादी हैं। चार्वाक के अनुसार चार भूतों के समष्टिरूप शरीर की उत्पत्ति के साथ ही चेतना की उत्पत्ति होती है, उसी को लोग आत्मा कहते हैं। वस्तुतः वह चेतना शरीर

---

1. दुःखमेवसर्वं विवेकिनः।—योगदर्शन 2।15।
2. सर्वदर्शनसंग्रह—चार्वाक दर्शन।

की ही चेतना है। शरीर से पृथक् नहीं। शरीर के नाश के साथ चेतना का भी विनाश हो जाता है। अतः इस मत के अनुसार कोई नित्य आत्मा नहीं है। न ही जन्म से पूर्व और मृत्यु के पश्चात् आत्मा रहती है। मृत्यु के साथ-साथ मनुष्य का अस्तित्व आत्मिक रूप से भी समाप्त हो जाता है, अतः न परलोक है, न पुनर्जन्म। जिस प्रकार पान, चूना, कत्था, सुपारी को मिलाने से लाल रंग की उत्पत्ति होती है, लाल रंग पूर्वोक्त चार वस्तुओं में नहीं हुआ करता है, इसी प्रकार चार भूतों के मिश्रण से शरीर में चेतना की उत्पत्ति होती है।[1] पंडित सदानन्द योगीन्द्र ने 'वेदान्तसार' में देहात्मवाद, इन्द्रियात्मवाद, मन-आत्मावाद, प्राणात्मवाद इत्यादि आत्मा के विषय में विभिन्न चार्वाक मतों का विवरण उपनिषद्वाक्य उद्धृत करके दिया है।[2] आत्मा के विषय में उक्त चार्वाक मतों का सभी अन्य भारतीय दार्शनिकों ने खण्डन किया है, क्योंकि नित्यात्मवादी और पुनर्जन्मवादी के लिए आत्मा या चेतना के विषय में उक्त मत समीचीन नहीं बैठते। अन्य भारतीय दार्शनिक चेतना को भूतों से उत्पन्न नहीं मानते; अतः चार्वाक और अन्य भारतीय दर्शनों में मौलिक मतभेद होने के कारण ही आत्मा के विषय में मतभेद हैं, शारीरातिरिक्त आत्मा की सिद्धि में न्यायवैशेषिक, वेदान्ती आदि सभी दार्शनिक तत्पर रहते हैं। आत्मा के विषय में चार्वाक मतों को मान लेने पर अनित्यात्मा मानना पड़ेगा और उससे 'कृतप्राणाश अकृताभ्युपगम' दोष होगा। यही चेतनात्मवादियों की आत्मा की सिद्धि में प्रधान युक्ति है। आत्मा को नित्य न मानने पर कर्म के सिद्धान्त की व्याख्या भी समीचीन नहीं हो पायेगी, ऐसी वैदिक दार्शनिकों की मान्यता है।

बौद्ध दर्शन के अनात्मवाद का खण्डन—बौद्ध दर्शन में स्थायी आत्मा स्वीकृत नहीं है। बौद्ध विज्ञानवाद के अनुसार विज्ञान प्रवाह के ऊपर ही आत्मा का आरोप किया जाता है। विज्ञान प्रवाह के ऊपर नैरात्म्यदृष्टि ही सम्यक् दृष्टि है। बौद्धों के इस मत को नैरात्म्यवाद कहा गया है। शून्यवादी बौद्ध भी नैरात्म्यवाद के परिपोषक हैं। लंकावतार सूत्र में भी नैरात्म्यवाद का उल्लेख मिलता है। प्रसिद्ध बौद्ध दार्शनिक नागार्जुन ने माध्यमिक कारिका में नाना प्रकार की युक्तियों द्वारा नैरात्म्यवाद का समर्थन किया है। नैरात्म्यवादी बौद्ध दार्शनिक आत्मा के नास्तित्वसिद्धि में निम्न प्रकार अनुमान प्रस्तुत किया करते हैं—आत्मा का अस्तित्व नहीं है, क्योंकि आत्मा का जन्म नहीं होता, जिसका जन्म

---

1. अतिप्राकृतस्तु—आत्मावैजायते पुत्रः·····पुत्र आत्मेतिवदति।
चार्वाकस्तु—सवाएष पुरुषोऽन्नरसमय—स्थूलशरीरमात्मेति वदति।
अपरश्चार्वाकः—ते प्राणाः प्रजापतिं·····इन्द्रियाण्यात्मेतिवदति।
अपरश्चार्वाकः—अन्योऽन्तर आत्मा·····प्राण आत्मेतिवदति।
अन्यस्तु चार्वाकः—अन्योऽन्तर आत्मा·····मन आत्मेति वदति।
बौद्धस्तु—अन्योऽन्तर आत्मा विज्ञानमय··बुद्धिरात्मेतिवदति।
वेदान्तसार 36-41 पृ० 44-47 बालकृष्ण सं० वाराणसी, 1972
2. मध्यमक शास्त्र—आत्मपरीक्षा प्रकरण पृ० 145-162।

नहीं होता उसका अस्तित्व नहीं होता। जैसे शशशृंग।[1] उपर्युक्त अनुमान में आत्मा का नास्तित्व साध्य है, अजातत्व हेतु तथा शशशृंग दृष्टान्त है। दृष्टान्त शशशृंग का अस्तित्व नहीं है तथा उसका जन्म भी नहीं, इस प्रकार दृष्टान्त उभयवादी निर्विरोध है। जन्म रहित होता हुआ शशशृंग यदि अलीक हो सकता है तो जन्म रहित आत्मा अलीक क्यों नहीं होगा? आत्मा की उत्पत्ति नहीं है, यह बात शाश्वत आत्मवादी दार्शनिक मानते हैं। दृष्टान्त के बल पर नैरात्म्यवादी बौद्ध दार्शनिक 'जहाँ-जहाँ उत्पत्तिरहितत्त्व वहाँ-वहाँ अलीकत्व' इस प्रकार व्याप्ति बना लेते हैं और व्याप्ति के बल पर पक्ष में अर्थात आत्मा में अलीकत्व-नास्तित्व सिद्ध करते हैं। अनुमान के अवयव हेतु के पक्ष में होने का अर्थ है—साध्य का भी वहाँ पर होना। नैरात्म्यवादी दार्शनिकों द्वारा प्रस्तुत अनुमान में न्याय-वार्तिककार उद्योकर ने आपत्ति उठायी है कि आत्मा को पक्ष बनाकर अनुमान करने का अर्थ है कि आत्मा की सिद्धि करना। आत्मा नहीं है, इस प्रकार की प्रतिज्ञा से आत्मा की सिद्धि ही होती है। आत्मा के न होने पर अर्थात् आत्मा के अलीक होने पर आत्मा नहीं है, यह प्रतिज्ञा उपपादित नहीं हो सकती, क्योंकि न्याय के अनुसार अभाव का प्रतियोगी हुआ करता है, अभावबुद्धि के लिए प्रतियोगी कारण बनता है। अतः 'आत्मा नहीं है' इस अभाव का भी प्रतियोगी अवश्य होना चाहिए और प्रतियोगी के रूप में आत्मा की सिद्धि हो जाती है। इसके स्तर में शून्यवादी का कहना है कि शशशृंग अलीक है, यह सभी स्वीकार करते हैं। शशशृंग के अलीक होने पर भी 'शशशृंग नहीं है, इस प्रकार के अभाव बोध होने में किसी प्रकार की बाधा नहीं है। शशशृंग का सर्वकाल एवं सर्वदेश में अभाव है। इस प्रकार अलीक शशशृंग का अभाव बोध यदि सम्भवपर है तो 'आत्मा नहीं है' इस प्रकार की प्रतिज्ञा द्वारा अलीक आत्मा के अभावबोध होने में क्या बाधा है? इस पर उद्योतकार आदि नैयायिकों का कहना है कि नैरात्म्यवादी बौद्धों द्वारा आत्मा के नास्ति-त्वानुमान में जो शशशृंग का दृष्टान्त प्रस्तुत किया गया है, वह असंगत है। 'शशशृंग नहीं है' इस कथन द्वारा शशशृंग नाम की कोई वस्तु नहीं है, यह बोध नहीं होता, बोध की आवश्यकता भी नहीं, क्योंकि शशशृंग अलीक है, इस बात को सभी जानते हैं। इस-लिए उसका निषेध हो नहीं सकता। यहाँ पर शशशृंग निषेध का अर्थमात्र इतना ही है कि जिस प्रकार गऊ, भैंस आदि की सींग होती है वैसी सींग शशक की नहीं होती। शून्य-वाद के मत में आत्मा यदि अत्यन्त असत् है, तब उसका अभाव बोध या निषेध सम्भव नहीं हो सकेगा। इसी कारण अभाव विशेषज्ञ नैयायिक अलीक वस्तु का, अलीक प्रति-योगिक अभाव स्वीकार नहीं करते। न्याय की दृष्टि में 'आत्मा नहीं है' कथन द्वारा किसी क्षेत्र में, किसी समय में आत्मा का अभाव समझा जा सकता है। और भी बात यह है कि अनुमान का पक्ष प्रसिद्ध होना चाहिए। साध्य का आधार पक्ष यदि अप्रसिद्ध होता है तो अनुमान में आश्रयासिद्धि दोष होता है जो कि हेत्वाभास है। अलीक आकाशकुसुम को आश्रय करके 'आकाश कुसुम सुरभि' इस प्रकार आकाश कुसुम में सुगन्धि की सिद्धि नहीं की जा सकती, क्योंकि यहाँ पर आश्रय ही असिद्ध है। अर्थात् आकाश कुसुम स्वयं

1. नास्ति आत्मा अजातत्वात् शशविषाणवत्, न्यायवार्तिक 3।1।1

असिद्ध है, इसी प्रकार आत्मनास्तित्व अनुमान नहीं समझना चाहिए। आत्मनास्तित्व अनुमान में जन्मरहित्व को हेतु के रूप में प्रस्तुत किया गया है। यहाँ पर प्रश्न यह किया जा सकता है कि जन्मराहित्य से बौद्धों का क्या तात्पर्य है? न्याय, वेदान्त के अनुसार आत्मा का अभिनव देह के साथ सम्बन्ध को गौण रूप से जन्म कहा जा सकता है। वस्तुतः आत्मा के नित्य होने के कारण उसका जन्म नहीं होता। नित्य पदार्थ के जन्म न होने पर वह है ही नहीं; यह बात कैसे सिद्ध होती है? 'आत्मा का जन्म नहीं होता' इससे आत्मा नित्य है। यह सिद्ध होता है न कि आत्मा नहीं है, अतः आत्मा के नास्तित्व सिद्धि में जन्म राहित्य या अजातत्त्व हेत्वाभास है।

वस्तुतः बौद्धदर्शन के अनुसार रूप, विज्ञान, वेदना, संज्ञा और संस्कार, ये पंच स्कन्ध हैं और इन पर आत्मा का आरोप होता है, अर्थात आत्मबुद्धि होती है। इन पर जो आत्मबुद्धि होती है वह वस्तुतः आत्मा न होकर के आध्यासिक आत्मा है। इन्द्रियग्राह्य रूप, रस आदि विषय रूप स्कन्ध हैं। आलय विज्ञान एवं प्रवृत्ति विज्ञान विज्ञान स्कन्ध हैं। रूप स्कन्ध एवं विज्ञान स्कन्ध के सम्बन्ध के कारण जो सुख-दुख आदि उत्पन्न होते हैं वे वेदना स्कन्ध हैं। संज्ञायुक्त विज्ञानप्रवाह को संज्ञास्कन्ध कहते हैं। वेदनास्कन्ध से जन्म राग, द्वेष, मद, मान, अभिमान, धर्म, अधर्म, आदि को संस्कार स्कन्ध कहते हैं। इन पंच स्कन्धों के अतिरिक्त बौद्धमत में आत्मा नाम की वस्तु नहीं है। आत्मा का तत्त्व गहन है। विशुद्ध आत्मा जो कि सत् है, वाक्य एवं मन का अगोचर है। वहाँ तक हमारी बुद्धि नहीं पहुँच सकती, इसीलिए उस आत्मा का कथन सम्भव नहीं है। बौद्धदर्शन में आत्मा के प्रत्याख्यान से यही बोध होता है कि स्कन्धों में जो आत्मबुद्धि की जाती है, वह यथार्थ बुद्धि नहीं है, इसलिए बौद्ध दर्शन में आत्मा के विषय में नेति-नेति करके वर्णन मिलता है। अर्थात् आत्मा का खण्डन ही मिलता है। इससे पूर्णतया शुद्ध आत्मा का खण्डन या मण्डन नहीं हो पाता। बुद्ध ने इसीलिए आत्मा विषयक प्रश्न के उत्तर में आत्मा को दुर्ज्ञेय कहा था।

इसीलिए शून्यवादी माध्यमिक आत्मा के विषय में अस्ति-नास्ति दोनों पक्षों का खण्डन करते हैं। माध्यमिक आत्मा के विषय में उक्त दोनों पक्षों का खण्डन इसीलिए करते हैं कि वस्तुतः आत्मा की अवधारणा हमारी बुद्धि के बाहर है। इस प्रकार विचार करने पर निरपेक्ष रूप में सत् की अवधारणा सम्भव नहीं, क्योंकि अवधारणा किन्हीं माध्यमों से होगी और जिसकी अवधारणा होनी है वह तो अछूता ही रह जायेगा। इसलिए अद्वैत वेदान्ती 'शाखाचन्द्रन्याय' तथा लक्षणा की बात करते हैं।[1]

जो भी हो, भूतातिरिक्त आत्मवादी अधिकांशतः बौद्धदर्शन को नैरात्म्यवादी दर्शन कहते हैं। न्याय दार्शनिक आत्मवादी दार्शनिक हैं। यद्यपि आत्मा के स्वरूप के विषय में अद्वैत वेदान्त से उनका महान् भेद है, फिर भी भूतातिरिक्त आत्मवादी होने में दोनों

1. बुद्धैर्नात्मा न चानात्माकश्चिदित्यपिदेशितम्।
यथैव-हि आत्मदर्शनमतत्वम्, एवं तत्प्रतिपक्षभूतमपिअनात्मदर्शनंनैव तत्वमिति।
माध्यमकशास्त्र आत्मपरीक्षा, चन्द्रकीर्ति टीका भी, पृ० 152

दार्शनिक एक दूसरे से हाथ मिलाते हैं। नैयायिक ज्ञान को गुण मानते हैं। ज्ञान गुण के आश्रय के रूप में आत्मा की सिद्धि करते हैं।[1]

अद्वैत वेदान्त के अनुसार आत्मा स्वतःसिद्ध है। आत्मा के विषय में विप्रतिपत्ति नहीं हो सकती। देकार्त के समान आचार्य शंकर भी यही कहते हैं कि संसार की सभी वस्तुओं के विषय में सन्देह किया जा सकता है, किन्तु आत्मा के विषय में सन्देह नहीं किया जा सकता। सन्देह करने पर सन्देहकर्ता के रूप में आत्मा की सिद्धि हो जाती है।[2] आत्मा की सिद्धि के लिए वस्तुतः किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं, अपितु आत्मा के कारण ही प्रमाणों में प्रामाणिकता आती है। आत्मा के अभाव में प्रमाणों में प्रामाणिकता सम्भव नहीं। न च प्रमातृत्वमन्तरेण प्रमाणप्रवृत्तिरस्ति।[3]

यहाँ पर ध्यान देने की बात है कि आचार्य शंकर जिस आत्मा को स्वतःसिद्ध कहते हैं, वह वस्तुतः उनके अनुसार आत्मा नहीं है। वह तो सोचने की प्रक्रिया में स्थित अध्यस्त आत्मा है जो उनके अनुसार मिथ्या है। स्वरूप सत् आत्मा सोचने की प्रक्रिया में स्थित नहीं है। वह तो इन प्रक्रियाओं से अतीत है। हम यह भी कहने में विषयनिष्ठ रूप में अपने को असमर्थ पाते हैं कि आत्मा इन प्रक्रियाओं से अतीत है। वस्तुतः स्वरूप सत् आत्मा को हम अपने ज्ञान की सीमा में कैसे घसीट करके ला सकते हैं? अगर नहीं ला सकते तो हम कह सकते हैं कि निराकर्ता के रूप में आत्मा की सिद्धि होती है। यह ठीक है कि निराकर्ता के रूप में ही किसी आत्मा की सिद्धि होती है, किन्तु वह अद्वैत वेदान्त-अभिप्रेत आत्मा नहीं है। अद्वैत वेदान्त के अनुसार जिस प्रकार ज्ञातृ, ज्ञान, ज्ञेय के सम्बन्ध में आगत आत्मा आध्यासिक अतएव मिथ्या है, उसी प्रकार बौद्धदर्शन के अनुसार भी पंचस्कन्धों को आधार मानकर आरोपित आत्मदृष्टि मिथ्या दृष्टि है। अद्वैत वेदान्त की भाषा में वह आध्यासिक आत्मा है। अद्वैत वेदान्त में 'अहं' को आत्मा न मानकर अध्यस्त एवं मिथ्या कहा है।[4] इसी प्रकार बौद्ध दर्शन के अनुसार भी अहप्रत्यय मिथ्या है, उसे आत्मा समझना भ्रम है। इस विषय में बौद्ध दर्शन और अद्वैत वेदान्त में अन्तर इतना ही है कि बौद्ध दर्शन नेति-नेति करके इन भौतिक प्रक्रियाओं में आत्मा नाम की कोई सद् वस्तु नहीं है, ऐसा कहता है। अद्वैत वेदान्त भी नेति-नेति करके शरीर, इन्द्रिय, अन्तःकरण आदि में से किसी के भी आत्मा होने का खण्डन करता है, किन्तु यह दर्शन एक कदम आगे बढ़कर विधिरूप से आत्मा के विषय में कुछ कहने का साहस करता है। यद्यपि इस प्रकार के प्रयास में उसे बहुत अधिक सफलता शायद ही मिली हो।

भूतचैतन्यवादी चार्वाक और नैरात्म्यवादी बौद्धों के विरुद्ध वैदिक दार्शनिकों का संघर्ष आत्मा की सिद्धि और असिद्धि को लेकर है। चार्वाक और बौद्ध वैदिक दार्शनिकों के अर्थ में आत्मा को स्वीकार करते ही नहीं, अतः आत्मा के स्वरूप के विषय में वैदिक दार्शनिकों को उनसे इस विषय में उलझने की बहुत आवश्यकता नहीं है।

---

1. ज्ञानाधिकरणमात्मा। तर्कसंग्रह, आत्मनिरूपण प्रकरण।
2. य एवनिराकर्ता तस्यैव आत्मत्व प्रसंगात्। ब्र० सू०, शांकर भाष्य 1।1।1
3. ब्रह्म सूत्र शांकर भाष्य। पृ० 39, 41, 42
4. अद्वैतसिद्धि 'अहमर्थानात्मत्वोपपत्तिः' प्रकरण, पृ० 595-604

वैदिक दार्शनिकों में आत्मा के स्वरूप के विषय में मतभेद हैं, क्योंकि अद्वैत वेदान्त के अनुसार आत्मा, विभु, ज्ञानस्वरूप, नित्य और एक है, इसीलिए इन बातों में अन्य दार्शनिकों के साथ उसका मतभेद होना स्वाभाविक है। अद्वैत वेदान्त ने आत्मा के स्वरूप के विषय में न्याय-वैशेषिकों द्वारा प्रतिपादित मत का खण्डन किया है। न्याय-वैशेषिक के मत में आत्मा ज्ञाता है। ज्ञान आत्मा का गुण है, यह बात हमने पहले ही कही है। ज्ञान उसका स्वरूप नहीं। इस प्रकार के आत्मा को अद्वैत वेदान्त में स्वीकार नहीं किया गया। ज्ञान को आत्मा का गुण मानने पर गुण और गुणी में सम्बन्ध मानना पड़ेगा, जैसाकि न्याय-वैशेषिक मानते हैं। यहाँ पर ध्यान देने की बात यह है कि न्याय-वैशेषिक के अनुसार ज्ञान सुखादि गुण उत्पत्ति-विनाशशील हैं। इसीलिए अद्वैत का तर्क है कि उत्पत्ति-विनाश-शील गुणों के साथ आत्मा का तादात्म्य होने पर आत्मा भी उत्पत्ति-विनाशशील होगा तथा अनित्य होगा। न्याय-वैशेषिक आत्मा को ज्ञानाधिकरण मानते हुए नित्य मानते हैं। नित्य और अनित्य वस्तुओं का अभेद युक्तिविरुद्ध है। चूंकि अद्वैत वेदान्ती वृत्तिज्ञान और स्वरूपज्ञानभेद से ज्ञान दो प्रकार मानते हैं, इसीलिए उनके अनुसार नित्यज्ञानस्वरूप आत्मा के नित्य होने में कोई बाधा नहीं। साथ में वृत्तिज्ञान उत्पत्तिविनाशशील हो, इसमें भी कोई आपत्ति नहीं। वैसे तो न्यायमत में भी परमात्मगत ज्ञान नित्य है। इस प्रकार उनके मत में भी ज्ञान के दो प्रकार माने गये, फिर भी वे आत्मा में नित्य ज्ञान को मानने में संकोच करते हैं। इस विषय में सांख्य का मत अद्वैत वेदान्त से मिलता-जुलता है। आत्मा विभु है, इस बात में न्याय-वैशेषिक, सांख्य आदि एक मत हैं।

बौद्धविज्ञानवादी जिस प्रकार 'अहं-अहं' इस प्रकार क्षणिक आलय विज्ञान प्रवाह को ही आत्मा कहते हैं और इसके अतिरिक्त कोई स्थायी आत्मा नहीं है, कहते हैं, इसी को अहं विज्ञान सन्तति अथवा विज्ञान स्कन्ध भी कहते हैं, उसी प्रकार न्याय-वैशेषिक ज्ञान को आगन्तुक गुण मानकर आत्मा को ज्ञानाधिकरण होने की व्यवस्था करते हैं। दोनों मतों में इतना ही अन्तर है कि बौद्ध विज्ञानवादी विज्ञानसन्तान के अतिरिक्त उसके अधि-करणात्मा को नहीं मानते। न्याय-वैशेषिक मानते हैं।

न्याय-वैशेषिक के समान ही रामानुज, माध्व आदि भी ज्ञान को आत्मा का गुण मानते हैं। आत्मा को ज्ञानस्वरूप नहीं मानते।

कुमारिल भट्ट के अनुसार आत्मा चिदचिद्रूप है अथवा चित्-जड़-स्वभाव है। सुषुप्तिकाल में कुछ भी ज्ञान नहीं रहता, परन्तु 'कुछ भी नहीं जानता था' इस प्रकार सुप्तोत्थित व्यक्ति के अनुभव से पता चलता है कि आत्मा प्रकाश-अप्रकाशरूप है। जैना-चार्यगण भी आत्मा को चेतनरूप मानते हुए भी ज्ञानादि रूप में इसका परिणाम मानते हैं। कुमारिल भट्टाचार्य के अनुसार आत्मा अतीन्द्रिय, अप्रत्यक्ष एवं अनुमानगम्य है। जैनमत में वह स्व-पर प्रकाश है। अद्वैत वेदान्त तथा सांख्य दार्शनिक आत्मा के एवंभूत स्वरूप को स्वीकार नहीं करते। उनके अनुसार चित् और अचित् परस्पर प्रकाश और अन्धकार के समान विपरीत हैं। इस प्रकार विपरीत दो धर्मों को आत्मा में नहीं माना जा सकता। आत्मा एक ही काल में चित् और अचित् नहीं हो सकता। अद्वैत मतानुसार आत्मा चिद्-रूप है। सुषुप्तिकाल में जो जड़ता का अनुभव होता है, वह आत्मा का जड़त्व न होकर

गुणमयी बुद्धि का धर्म है। यहाँ पर प्रश्न यह होता है कि आत्मा यदि नित्य ज्ञान-स्वरूप है तो ज्ञान की उत्पत्ति और विनाश किस प्रकार सम्भव है? सांख्य और अद्वैत वेदान्त के अनुसार उत्तर यह होगा कि उत्पन्न एवं अनित्य ज्ञान वृत्तिज्ञान है। वह आत्मस्वरूप ज्ञान नहीं है। इस प्रकार का ज्ञान बुद्धि या अन्तःकरण का धर्म है जो कि जड़ है। अध्यास के कारण आत्मा में 'मैं जानता हूँ' आदि अनित्य ज्ञान का सम्बन्ध प्रतिभास होता है। वस्तुतः वृत्तिज्ञान का भी भासक नित्यबोधरूप आत्मा ही है।

सांख्यदर्शन के अनुसार यह आत्मा नाना है। ईश्वरकृष्ण ने सांख्याकारिका में आत्मा के नानात्व का प्रतिपादन किया है। एक के जन्म लेने से सब जन्म नहीं लेते, एक के मरने से सब नहीं मरते, एक के देखने से सबका देखा हुआ नहीं होता, एक के सुनने से सबका सुना हुआ नहीं होता, एक के कर्म में प्रवृत्त या अप्रवृत्त होने पर सभी की प्रवृत्ति अथवा अप्रवृत्ति होती हुई नहीं दिखाई देती। सत्व-रज, एवं तमोगुणों के वैचित्र्य से व्यक्तिभेद देखा जाता है; कोई सत्व-प्रधान, कोई रजःप्रधान, कोई तमःप्रधान है। इन सब बातों से यह सिद्ध होता है कि आत्मा एक नहीं है, अपितु नाना है।[1] सांख्य द्वारा स्वीकृत इस नानात्मवाद को न्यायवैशेषिक तथा वैष्णव वेदान्ती भी स्वीकार करते हैं। सांख्य, न्यायवैशेषिक आत्मा को विभु परिमाण मानते हुए भी प्रति शरीर भिन्न मानते हैं। वैष्णव वेदान्ती तो आत्मा को अणुपरिमाण ही मानते हैं, इसलिए उनके लिए आत्मा को प्रति शरीर भिन्न मानने में उतनी कठिनाई नहीं है जितनी कि विभु मानने वालों को। विभु आत्मवादी न्याय-वैशेषिक, सांख्य आदि के अनुसार एक ही आत्मा के सर्वत्र होने पर भी किसी एक ही अन्तःकरण में उसका प्रकाश होता है।

उपर्युक्त आत्मबहुत्ववाद को अद्वैत वेदान्ती स्वीकार नहीं करते। अद्वैत वेदान्ती 'सदेवसोम्य इदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' इत्यादि श्रुति प्रमाणों के बल पर एकात्मवाद की ही स्थापना करते हैं। एक ही सद्वस्तु सर्वत्र विद्यमान है, सभी आत्मसत्ता से सत्तावान हैं। अन्तःकरण उपाधि से नाना जीव होने पर भी वस्तुतः आत्मा एक ही है। नाना जीव अध्यासजनित हैं जबकि आत्मा शुद्ध पारमार्थिक है।

ब्रह्म का स्वरूप—अद्वैतवेदान्तप्रतिपादित उक्त एक विशुद्ध आत्मा ही ब्रह्म है।[2] 'अयमात्मा ब्रह्म' इत्यादि वेदान्त वाक्यों द्वारा आत्मा ब्रह्म है, सिद्ध है। यही आत्मा जो कि विषयी है, विषयीनिष्ठ दृष्टि से देखने पर ब्रह्म है। विषय का सार ब्रह्म है, वही सम्पूर्ण विषयों का अधिष्ठान है, अन्तर्निहित तत्त्व है। विषयी का सार आत्मा है। विषयी से कभी-कभी जीव को भी कहा जाता है, अतः इसके सार तत्त्व को आत्मा कह दिया जा सकता है। चूँकि अद्वैत वेदान्त के अनुसार परमतत्त्व वस्तुतः विषय और विषयी दोनों से भी परे है,

---

1. जन्ममरणकरणानां प्रति नियमादयुगपत्प्रवृत्तेश्च।
   पुरुषबहुत्वं सिद्धं त्रैगुण्यविपर्ययाच्चैव॥ सांख्यकारिका 18
2. आत्मा च ब्रह्म। ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य, पृष्ठ 81
   तत्त्वमसिवाक्ये तत्पदस्य प्रकृतसच्छब्दवाच्यब्रह्मपरामर्शिनस्त्वंपदेनसामानधिकरण्यादित्यर्थः। वही भामती एवं वेदान्त कल्पतरु।

अतः दोनों परमतत्त्व हैं, यह भी कहा जा सकता है, क्योंकि परमतत्व विश्वातीत होते हुए भी विश्व में ओत-प्रोत भी है। विश्व में ओत-प्रोत होने का अर्थ है विषय और विषयी दोनों में ओत-प्रोत। इसलिए उस परम तत्व को चाहे 'अहंब्रह्मास्मि' करके जानो, चाहे 'तत्त्वमसि' करके, बात एक ही है। आत्मा करके अपने अन्दर जानना या ब्रह्म करके सर्वत्र ब्रह्मदर्शन करना, दोनों बातों में कोई अन्तर नहीं, क्योंकि श्रुति कहती है कि वह 'अणोरणीयान् महतोमहीयान्' है।[1]

यह आत्मा या ब्रह्म अद्वैत वेदान्त के अनुसार वस्तुतः निर्गुण है। सगुणता भी मान्य है, परन्तु वह अविद्या के कारण औपाधिक है, वस्तुतः ब्रह्म सगुण नहीं। अद्वैत वेदान्त में एक अद्वैत तत्त्व को स्वीकार किया गया है। एक अद्वैत की सिद्धि द्वैत का निषेध पूर्वक होती है, इसलिए इस दर्शन के अनुसार अधिष्ठानस्वरूप ब्रह्म के अतिरिक्त परमार्थ सत् और कुछ नहीं। ब्रह्म में गुण या विशेष कुछ भी स्वीकार करने पर इस अद्वैतवाद की स्थापना नहीं हो सकती। अतः ब्रह्मातिरिक्त गुणादि शब्दों से जो कुछ भी बोध होता है, वह प्रातीतिक है, इसलिए 'नेह नानास्ति किंचन', 'सर्वं खाल्विदं ब्रह्म' आदि वेदान्त वाक्यों के आधार पर अद्वैत वेदान्ती जगन्मिथ्यात्व की सिद्धि करते हैं।

अन्य दार्शनिकों द्वारा निर्गुण ब्रह्मवाद का खण्डन—उक्त निर्गुणब्रह्मवाद को न्याय-वैशेषिक, रामानुज, माध्व, निम्बार्क आदि दार्शनिक स्वीकार नहीं करते। निर्गुण-वादी निर्गुण ब्रह्म की सिद्धि में जिस प्रकार शास्त्र और युक्तियाँ प्रदर्शित करते हैं, उसी प्रकार सगुण ब्रह्मवादी भी अपने पक्ष में प्रमाण प्रस्तुत करते हैं। रामानुज आदि दार्शनिकों का वक्तव्य है कि जिन श्रुतियों में परमात्मा को निर्गुण कहा गया है उनका तात्पर्य केवल निर्गुण समझकर ध्यान करना है। परमात्मा वस्तुतः निर्गुण नहीं है, इसलिए छान्दोग्य उपनिषद् में 'सर्वकर्मा, सर्वकामः, सर्व गन्धः, सर्व रसः' परमात्मा के लिए कहा गया है।[2] जीवात्मा के अभिमान को दूर करके तत्त्वज्ञान लाभ में साधक को सहायता मिले, इसीलिए परमात्मा को निर्गुण मानकर ध्यान की व्यवस्था है। वस्तुतः परमात्मा निर्गुण नहीं, अपितु निर्गुणत्व उसमें आरोपित है। सगुणत्व ही वास्तविक तत्त्व है। न्यायकुसुमांजलि में उदयन आचार्य ने भी निर्गुण बोधक वाक्यों का तात्पर्य पूर्वोक्त प्रकार से ही निकाला है। न्याय-कुसुमांजलि के टीकाकार वर्धमान उपाध्याय ने भी उक्त प्रकार के अर्थ का समर्थन किया है।[3]

आचार्य रामानुज के अनुसार परमात्मा परमेश्वर निर्गुण नहीं हो सकता। निर्गुण ब्रह्मवाद में कोई भी प्रमाण नहीं है, निर्विशेष वस्तु की सिद्धि नहीं हो सकती। श्रुति में जो निर्गुणबोधक वाक्य मिलते हैं, उनका अर्थ-ब्रह्म सम्पूर्ण गुणों से शून्य नहीं है, अपितु हेयगुण-

---

1. कठोपनिषद् 2।20
2. छान्दोग्य उपनिषद् 3।14।2
3. निरंजनावबोधार्थो न च सन्नपितत्परः।—न्यायकुसुमांजलि कारिका 3।17

शून्य है।[1] रामानुज के अनुसार परमेश्वर अनन्त, अपरिमेय, कल्याण गुणों का आश्रय है। वह कभी भी निर्गुण नहीं हो सकता। शास्त्रों में परमेश्वर के गुणों का वर्णन मिलता है, इसलिए कहीं पर निर्गुण बोधक वाक्य मिलने पर भी कोई विरोध नहीं है।[2] एक ही गुणमय परमेश्वर दिव्य कल्याण गुणयोग से सगुण और प्राकृत हेय गुणों से रहित होने से निर्गुण भी है। इस प्रकार आचार्य रामानुज ब्रह्म के सगुण, निर्गुण भाव की व्यवस्था करते हैं। सगुण ब्रह्मवादी रामानुज श्रीभाष्य में न्याय दार्शनिकों के समान कहते हैं कि 'चेतनत्वं नामःचैतन्यगुण योगः। अतईक्षण गुण विरहिणः प्राधानतुल्यत्वमेवेति'।[3] अर्थात् चैतन्यरूप गुण वाला ही चैतन्य है, इसलिए तदैक्षत इत्यादि श्रुति में ब्रह्म के लिए ईक्षण करने वाला कहा गया है। ब्रह्म में ईक्षण शक्ति है, इसीलिए सांख्य दर्शन में स्वीकृत प्रधान कारणत्व का ब्रह्मवादी खण्डन करते हैं।[4] यदि ब्रह्म में ईक्षण शक्ति अर्थात् चैतन्य गुण नहीं होगा तो वह सांख्य दर्शन में स्वीकृत जड़ प्रकृति के समान हो जायेगा।

वैष्णव दार्शनिकों ने उपनिषद्वाक्यों के आधार पर ही ब्रह्म की गुणवत्ता के रूप में व्याख्या की है। जिन श्रुतियों में उपाधि या गुणों का निषेध है, उन श्रुतियों का हेय गुण अथवा प्राकृतगुणराहित्य में ही तात्पर्य समझना चाहिए। 'नित्यं विभुं सर्वगतं महान्तम्' इत्यादि श्रुतियों में परमात्मा को नित्यत्व, विभुत्व आदि अशेष कल्याण गुणों से मण्डित कहा गया है और 'निर्गुणं, निरंजनं' इत्यादि श्रुति वाक्यों द्वारा ब्रह्म में ईर्ष्या, द्वेष, लोभ, मोह आदि प्राकृत हेयगुणों का निषेध किया गया है।[5] इससे ब्रह्म सर्व-प्रकार गुणशून्य है, यह अर्थ नहीं निकलता। ब्रह्म सर्व प्रकार गुणों से रहित है, अर्थात् निर्गुण है, ऐसा कहने पर वैष्णव वेदान्ती गण अद्वैतवादी से पूछते हैं कि 'यः सर्वज्ञः' इत्यादि श्रुतियों में प्रतिपादित सर्वज्ञत्व आदि गुणों की व्याख्या एवं समन्वय वे किस प्रकार करेंगे? वैष्णव वेदान्तियों में इस निर्गुण ब्रह्मवाद का खण्डन निम्बार्क दार्शनिक तथा भेदाभेदवादी बलदेव विद्याभूषण ने भी किया है। इन आचार्यों के अनुसार निर्गुण ब्रह्म अलीक है।

वस्तुतः इन दार्शनिकों ने निर्गुण वस्तु के खण्डन में न्याय दर्शन का अनुसरण किया है। न्याय दार्शनिकों के अनुसार आत्मा ज्ञानस्वरूप नहीं, अपितु ज्ञान का अधिकरण है।[6]

---

1. निर्गुणवादाश्च प्राकृत हेयगुण निषेध विषयता व्यवस्थिता,।
   सर्वदर्शन संग्रह, रामानुज दर्शन।
2. न च निर्गुण वाक्य विरोधः, प्राकृत हेयगुण विषयत्वात्तेषाम्।
   —श्रीभाष्य, पृ० 124
3. श्री भाष्य 1।1।12 सूत्र
4. ईक्षतेर्नाशब्दम्।—ब्रह्मसूत्र 1।1।5
5. निर्गुणवाक्यानां सगुणवाक्यानां च विषयमपहतपाप्मेत्याद्यपिपास इत्यन्तेन हेयगुणान् प्रतिषिध्य सत्यकामः सत्यसंकल्प इति ब्रह्मणः कल्याणगुणान् विदधती श्रुतिरेव विविनक्ति। श्रीभाष्य, पृ० 126 निर्णयसागर।
6. ज्ञानाधिकरणमात्मा।—तर्कसंग्रह, आत्मनिरूपण प्रकरण।

आत्मा से जीवात्मा परमात्मा दोनों का ही ग्रहण है, अतः न्याय मत में परमात्मा ज्ञान का आश्रय है। ज्ञान उनके अनुसार गुण है। आत्मा के विशेष गुणों में ज्ञान, जिसे बुद्धि भी कहते हैं, को आत्मगुण माना है, ज्ञान समवाय सम्बन्ध से आत्मा में रहता है। अतः आत्मा और आत्मगुण ज्ञान के बीच में एक तृतीय सम्बन्ध भी उपस्थित रहता है।[1] इस प्रकार त्रिधा विभक्ति आत्मा के विषय में अद्वैत वेदान्ती स्वीकार नहीं करते] वैष्णव वेदान्तियों का और भी कहना है कि निर्गुण ब्रह्म में किसी प्रकार प्रमाण की सम्भावना नहीं है।* प्रमाण सगुण-सविशेष का ही साधक होता है।[2] प्रत्यक्ष प्रमाण रूप, रस, गन्ध, स्पर्श एवं शब्द का ग्रहण करता है। निर्विशेष ब्रह्म में इस प्रकार का कोई भी धर्म नहीं है, इसलिए वह प्रत्यक्षग्राह्य नहीं हो सकता। स्वयं अद्वैतवादी इस बात को मानते हैं कि ब्रह्म 'अवाङ्-मनसोगोचर' है' अतः ब्रह्म जिस प्रकार वाणी का अगम्य है, उसी प्रकार मन, बुद्धि का भी अगम्य है। जो प्रत्यक्षगोचर नहीं होता वह अनुमानगम्य भी नहीं होता। अनुमान के लिए व्याप्ति की आवश्यकता है। व्याप्ति-ग्रहण के लिए प्रत्यक्ष की आवश्यकता है। जिसने कभी भी धूम और अग्नि को साथ में प्रत्यक्ष में नहीं देखा, वह धूम देखकर अग्नि का अनुमान कहीं पर भी नहीं कर सकता। अतः प्रकृत स्थल में भी निर्गुण ब्रह्म का अनुमान सम्भव नहीं है। इसी प्रकार निर्गुण ब्रह्म में शब्द प्रमाण का भी खण्डन किया गया है। शब्द अर्थात् शास्त्र प्रमाण की गति निर्विशेष वस्तु में सम्भव नहीं है।[3] यदि अद्वैतवादी यह कहे कि घटोऽस्ति पटोऽस्ति इस प्रकार सर्वत्र सत्ता का प्रत्यक्ष होता है, तो भी संगत नहीं है, क्योंकि उक्त स्थलों में पूर्वपक्षियों के अनुसार विशेष-विशेष पदार्थों का ही अर्थात् गुण, जाति आदि विशिष्ट विशेष पदार्थों का ही प्रत्यक्ष होता है। यदि सर्वत्र एक सत्ता का ही प्रत्यक्ष होता तब गौ खरीदने के लिए गया हुआ व्यक्ति भैंस देखकर वापस नहीं आता क्योंकि सत्ता तो समान रूप से दोनों में उपस्थित है। और भी बात है कि सर्वत्र यदि एक सत्ता का ही ग्रहण होता तब गौ ज्ञान होने के पश्चात् अश्व ज्ञान होने पर अश्व ज्ञान कोई नवीन ज्ञान नहीं हुआ। ऐसी स्थिति में वह धारावाहिक अर्थात् गृहीत-ग्राह्य ज्ञान होता है। जो गौ ज्ञान, वही अश्व ज्ञान हुआ, ऐसी स्थिति में उक्त स्थलों के ज्ञान को प्रत्यक्ष ज्ञान न कहकर स्मृति ज्ञान कहना होगा। अतः पूर्वोक्त आक्षेपों को दूर करने के लिए अद्वैतवादी को मानना पड़ेगा कि गौ, अश्व इत्यादि प्रत्यक्ष ज्ञानस्थलों में जाति एवं आकृति विशिष्ट विशेष वस्तुओं का प्रत्यक्ष होता है, न कि सत्ता मात्र का। प्रत्यक्ष द्वारा विशेष वस्तुओं के ग्रहण होने पर ही परस्पर वस्तुओं में भेद समझ में आ सकता है। वस्तुओं के भेद से ही वस्तुएँ एक दूसरे से व्यावृत होती हैं। गौ अपने विशेष गुण और आकृति के कारण अश्व आदि से भिन्न है। इसी प्रकार काली गौ अपने विशेष धर्म के कारण लाल गौ से भिन्न है। सत्ता मात्र के ग्रहण होने पर वस्तुओं में परस्पर भेद

---

1. तर्कभाषा-प्रमेय प्रकरण।
2. निर्विशेषवस्तुवादिभिर्निविशेषवस्तुनीदं प्रमाणमिति न शक्यते वक्तुम् सविशेषवस्तु विषयत्वात् सर्वप्रमाणानाम्। —श्रीभाष्य, पृ० 70
3. निर्विशेष वस्तु प्रतिपादनासामर्थ्यात् नर्निविशेष वस्तुनि शब्दः प्रमाणम्। —श्रीभाष्य, पृ० 73

गृहीत नहीं होगा और अद्वैतवादी निर्विशेष सत्ता में रूप, रस गन्धादि नहीं मानते, फिर 'घटोऽस्ति पटोऽस्ति' आदि करके सत्ता का प्रत्यक्ष कैसे करते हैं ? यदि निर्विशेष सत्ता का प्रत्यक्ष होता है तो निर्विशेष सत्ता का प्रतिपादन करने वाली श्रुतियाँ अनुवादक हो जायेंगी। रामानुज आदि वैष्णव वेदान्तियों के अनुसार निर्विशेष सत्ता सम्भव नहीं है। सत्ता सब समय सगुण होती है।[1]

वैष्णव वेदान्ती रामानुज, एवं निम्बार्क आदि दार्शनिकगण निर्विशेष ब्रह्म में प्रमाणों का खण्डन करके लक्षण की भी असम्भावना दिखाते हैं। लक्षण का उद्देश्य है एक वस्तु को दूसरी वस्तु से पृथक् करना। वस्तु में कुछ असाधारण धर्म होते हैं, उन असाधारण धर्मों का कथन लक्षण में किया जाता है। इस असाधारण धर्मों वाला लक्षण लक्ष्य वस्तु का अन्य वस्तुओं से व्यावर्तक होता है। जैसे कम्बुग्रीवादिमत्व लक्षण घट का लक्षण हो सकता है, क्योंकि यह लक्षण अन्य वस्तुओं से घट की व्यावृत्ति करता है।[2] ब्रह्म में इस प्रकार का कोई लक्षण सम्भव नहीं है, क्योंकि ब्रह्म अद्वैत वेदान्तियों के अनुसार निर्विशेष है, उसमें किसी प्रकार गुण, क्रिया का सम्बन्ध सम्भव नहीं है। उपनिषदों में 'सत्यं ज्ञानं अनन्तं ब्रह्म, विज्ञानमानन्दं ब्रह्म, इत्यादि ब्रह्म, के स्वरूप लक्षण प्रदर्शित हुए हैं तथा "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते" इत्यादि तटस्थ लक्षण कथित हुए हैं। निर्विशेष ब्रह्म में उक्त स्वरूप एवं तटस्थ—दोनों ही लक्षण सम्भव नहीं हैं।[3] 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादि लक्षणों में प्रत्येक पद के भिन्न-भिन्न वाच्यार्थ हैं। उन भिन्न-भिन्न अर्थों को प्रकट करते हुए सत्यादि पद एक विशिष्ट के साथ सामानाधिकरण्य स्थापित करते हैं। श्री रामानुज ने 'प्रवृत्तिनिमित्तभेदन एकार्थवर्तित्वं सामानाधिकरण्यम्' इस प्रकार सामानाधिकरण्य का लक्षण प्रस्तुत किया है।[4] अर्थात् भिन्न-भिन्न अर्थों में प्रयुक्त शब्द यदि एक विशेष्य का बोधन कराते हैं तो वहाँ सामानाधिकरण्य है। 'नीलोत्पलम्' में जिस प्रकार नील शब्द नील गुण वाचक एवं उत्पल शब्द उत्पल वाचक है, दोनों पद अपने-अपने अर्थों को बतलाते हुए नील गुण विशिष्ट उत्पल का बोधक हैं। उसी प्रकार सर्वत्र वाक्यों में समझना चाहिए। प्रकृत स्थल में सत्यत्व, ज्ञानत्व, अनन्तत्व—ये पद अपने भिन्न-भिन्न अर्थों को बतलाते हुए उन गुणों से विशिष्ट ब्रह्म का बोधन कराते हैं। ये पद यदि निर्विशेष एक ब्रह्म के प्रतिपादक होते हैं तो रामानुज के अनुसार सामानाधिकरण्य सम्भव नहीं हैं।[5] अतः 'सत्यं ज्ञानमनन्तं' आदि श्रुति द्वारा अद्वैत वेदान्त का अभिप्रेत ब्रह्म का प्रतिपादन नहीं होता है। न ही 'यतो वा' इत्यादि श्रुति द्वारा अद्वैत बेदान्त में स्वीकृत निर्विशेष ब्रह्म का कारण रूप से प्रतिपादन हुआ है, क्योंकि निर्विशेष ब्रह्म का तटस्थ लक्षण भी सम्भव

---

1. अतोवस्तुसंस्थानरूपजात्यादिलक्षणभेदविशिष्ट विषयमेव प्रत्यक्षम्। श्रीभाष्य, पृ० 78
2. वेदान्त कौस्तुभ प्रभा, पृ० 37, सूत्र 1।1।1
3. वही, पृ० 38-39-41
4. श्रीभाष्य, पृ० 123 निर्णय सागर
5. श्रीभाष्य, श्रुत प्रकाशिका, पृ० 223 निर्णय सागर

नहीं है।

अद्वैत वेदान्त का निर्गुण ब्रह्म—अद्वैत वेदान्त में ब्रह्म को निर्गुण निर्विशेष माना गया है। निर्गुण ब्रह्म का परिचय विशेष धर्मों और गुणों से नहीं दिया जा सकता। अद्वैत वेदान्तियों का कहना है कि जिसने ब्रह्म को गुणाश्रय के रूप में जाना है, उसने ब्रह्म को नहीं जाना है। केनोपनिषद् में कहा है कि 'अविज्ञातं विजानताम्' 2।3। निर्विशेष ब्रह्म का प्रतिपादन अस्तिमुखेन करना सम्भव नहीं। श्रुति 'नेह नानास्ति किंचन' इत्यादि वाक्यों द्वारा नेति-नेति करके ही निर्गुणब्रह्म का उपदेश करती है। इसी नेति-नेति अर्थात् निषेध रीति से बृहदारण्यक श्रुति कहती है कि ब्रह्म 'अस्थूलमनणु अह्रस्वम्अदीर्घम्' है।[1] ब्रह्म स्थूल भी नहीं, अणु नहीं, ह्रस्व नहीं, दीर्घ नहीं, इस प्रकार सभी धर्मों का ब्रह्म में निषेध मिलता है। आचार्य शंकर ने स्वयं बृहदारण्यक भाष्य में कहा है कि ब्रह्म में किसी प्रकार के भी विशेष धर्म नहीं हैं। नाम, रूप, धर्म भेद, जाति, गुण आदि कुछ भी विशेष नहीं हैं। शंकराचार्य स्वयं इस बात को मानते हैं कि जाति, व्यक्ति, गुण आदि को लेकर-के ही शब्द की प्रवृत्ति होती है। ब्रह्म में उक्त प्रकार के धर्म न होने के कारण उसका 'तत्' अथवा 'इदम्' करके निर्देश नहीं हो सकता। जैसे लोक में 'यह सींग वाली सफेद गौ जा रही है' इस प्रकार गौ के लिए विशेष धर्मों सहित निर्देश किया जाता है। ऐसा ब्रह्म के लिए सम्भव नहीं। ब्रह्म के लिए तो अध्यारोपित नाम, रूप, द्वारा ही कथन सम्भव है। इसलिए 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म, विज्ञानघन एव' आदि प्रकारों से ब्रह्म, आत्मा आदि शब्दों द्वारा अध्यारोप पूर्वक ही श्रुति कथन करती है। यदि ब्रह्म के स्वरूप मात्र का बोधन कोई करना चाहे उस स्थिति में ब्रह्म का निर्देश करना किसी भी प्रकार सम्भव नहीं है।[2] यह वैष्णव वेदान्तियों के समान आचार्य शंकर भी मानते हैं। निर्विशेष वस्तु का निर्देश नहीं हो सकता है, ऐसा वैष्णव वेदान्तियों का कथन है। यही बात आचार्य शंकर भी वस्तु-स्वरूप ब्रह्म के लिए कहते हैं। ब्रह्म विषय और विषयी—दोनों से अपने स्वरूप में परे है। उपनिषदों में जो ब्रह्म का स्वरूप कथित हुआ है, वह भी अपने वाच्य अर्थ में निर्विशेष ब्रह्म का प्रतिपादन नहीं करता, क्योंकि लक्षण के लिए लक्ष्यभाव की आवश्यकता है। लक्ष्यभाव होना ही ब्रह्म का सधर्मक होना है। ये ही आक्षेप वैष्णव वेदान्तियों ने निर्गुण ब्रह्म के लक्षण के विषय में उत्थापित किये थे। उनके उक्त कथन से अद्वैत वेदान्तियों को किसी प्रकार की आपत्ति नहीं है। निर्गुण ब्रह्म वस्तुतः लाक्षण-प्रमाण का अविषय है, इसमें सन्देह नहीं। यहाँ तक कि जिस ब्रह्म को 'सत्यं-ज्ञानम्' कहा जाता है, अर्थात् जो ब्रह्म सत् स्वरूप है, उस ब्रह्म के लिए सत् शब्द के भी प्रयोग का निषेध आचार्य शंकर करते हैं। ब्रह्म सदसद् आदि शब्दों का वाच्य नहीं है। शब्द अर्थ के प्रकाशक होते हैं। शब्द जाति, क्रिया, गुण, सम्बन्ध द्वारा अर्थ का प्रकाशन करते हैं। ब्रह्म में जाति नहीं है, इसलिए वह सदसद् आदि शब्दवाच्य नहीं है, इसी प्रकार क्रिया शब्दवाच्य भी ब्रह्म नहीं है, क्योंकि ब्रह्म निष्फल, निष्क्रिय है। ब्रह्म एक है, अद्वैत है, अविषय है; इसलिए

---

1. बृहदारण्यक भाष्य 2।3।6
2. वही, 2।3।6

शब्द से उसका सम्बन्ध नहीं हो सकता। अतः श्रुति कहती है कि 'यतोवाचोनिर्वतन्ते' वाणी भी वहाँ से लौट आती है।[1] इसलिए ब्रह्म परप्रतिषेधरूप है। अर्थात् ब्रह्मातिरिक्त अन्य का निषेधरूप है। इसलिए बृहदारण्यक में कहा है 'अथात आदेशो नेति-नेतीति'।[2] केनोपनिषद् में कहा है 'अन्यदेवतद्विदितादथो अविदितादधि'।[3]

उक्त प्रकार से विचार करने पर यह बात स्पष्ट हो जाती है कि निर्गुण ब्रह्म प्रमाणागम्य है, उसमें यहाँ तक कि तद्रूपत्व धर्म का भी कथन सम्भव नहीं है, क्योंकि किसी भी प्रकार से ब्रह्म को ज्ञान का विषय बनाया नहीं जा सकता। इसीलिए माण्डूक्य उपनिषद् में ब्रह्म का कथन निषेध रूप से ही किया गया है। 'नान्तः प्रज्ञं न बहिः प्रज्ञं नोभयतः प्रज्ञं न प्रज्ञानघनं न प्रज्ञं नाप्रज्ञम्' इत्यादि।[4] वैष्णव वेदान्तीगण निर्गुण ब्रह्म के विषय में जो आपत्ति उठाते हैं कि निर्गुण ब्रह्म जब ज्ञान का विषय नहीं बनता तो वह है ही नहीं; अद्वैत वेदान्ती वैष्णव वेदान्तियों की उक्त आपत्ति से सहमत नहीं हैं, क्योंकि ब्रह्म को निर्गुण कहकर ब्रह्म के विषय में किसी प्रकार के वास्तविक ज्ञान को न मानने का अर्थ यह नहीं है कि ब्रह्म का अस्तित्व नहीं है। अद्वैत वेदान्ती ब्रह्मबोध ज्ञानाधीन है, यह नहीं मानते। अर्थात् ब्रह्म हमारे ज्ञान का विषय नहीं बनता। जो लोग ब्रह्म को वस्तुतः ज्ञानगम्य मानते हैं, उनके अनुसार ब्रह्म की सत्ता निरपेक्ष सत्ता नहीं रह सकती। वह ज्ञानसापेक्ष सत्ता होगी। आचार्य शंकर इस दृष्टि से ब्रह्म को अधिक निरपेक्ष, अधिक पूर्ण देखना चाहते हैं जबकि कुछ वैष्णव दार्शनिक ब्रह्म को विषय संदर्भ में देखते हुए उसमें अधिक पूर्णता का दावा करते हैं।

अब प्रश्न उठता है कि ब्रह्म वस्तुतः जब निर्गुण है, निर्विशेष है तथा सर्व प्रमाणों से अगम्य है, तब उस ब्रह्म के विषय में जिज्ञासा कैसे सम्भव है? जिज्ञासा के बिना शास्त्रादि विचार निरर्थक हो जाते हैं। इस पर आचार्य शंकर कहते हैं कि अज्ञान निवृत्ति के लिए प्रपंचरहित निर्विशेष ब्रह्म की व्याख्या अध्यारोप और अपवाद द्वारा की जाती है। मिथ्याभूत उपाधिकृत धर्मों की निर्विशेष ब्रह्म में कल्पना की जाती है।[5] आचार्य मधुसूदन सरस्वती ने निर्गुण ब्रह्म में वस्तुतः प्रमाणों का खण्डन किया है। फिर भी यदि विपक्षी निर्गुण ब्रह्म में प्रमाण न होने का आपेक्ष करते हैं तो उनके लिए वे कहते हैं कि ब्रह्म की स्फूर्ति अर्थात् प्रकाश के लिए प्रमाण की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि ब्रह्म स्वयं-प्रकाश है। स्वयं प्रकाश ब्रह्म के प्रकाश के लिए अन्य प्रकाश की आवश्यकता नहीं है। अन्यों को प्रकाश के लिए ब्रह्म के प्रकाश की आवश्यकता है। इसलिए उपनिषद् में कहा

---

1. गीता शांकर भाष्य 13।12
2. बृहदारण्यक उपनिषद् 2।3।6
3. केनोपनिषद् 1।4
4. माण्डूक्य उपनिषद्, 7
5. तथाहि सम्प्रदायविदांवचनम् अध्यारोपावादाभ्यांनिष्प्रपंचं प्रपंच्यते इति।
   —गीता शांकर भाष्य 13।13

है 'तमेव भान्तंमनुभातिसर्वम्'।[1] यदि अज्ञान निवृत्ति के लिए ब्रह्म में प्रमाण पूछा जाय तो उसके लिए मधुसूदन सरस्वती कहते हैं कि उपनिषद् ही प्रमाण है।[2] उपनिषद् प्रमाण में शंका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि उपनिषद् प्रमाण भी ब्रह्म के स्वरूप में प्रविष्ट नहीं हो सकता। इसीलिए निर्गुण ब्रह्म में उपनिषद् प्रमाण भी आरोपित लक्ष्यलक्षण, प्रमाण-प्रमेय भावों को लेकर के ही प्रवृत्त होता है। उपनिषद् वाक्यों का लक्षणा से ब्रह्म में तात्पर्य निकालना होगा। अन्यथा पदार्थ का बोध सम्भव नहीं, इसीलिए आचार्य पुष्पदन्त ने महिम्नःस्तोत्र में कहा है। 'अतद्व्यावृत्या यं चकितमभिधत्तेश्रुतिरपि'[3] अर्थात् निषेध मुख से चकित भाव से श्रुति ब्रह्म का कथन करती है। आचार्य मधुसूदन सरस्वती ने पूर्व पक्ष की ओर से 'ब्रह्म धर्मवत् पदार्थत्वात्' इस प्रकार ब्रह्म को सधर्मक सिद्ध करने के लिए अनुमान उपस्थित करके उसका खण्डन किया है और निर्गुण ब्रह्म का प्रतिपादन किया है।[4]

हमने इतःपूर्व निवेदन किया था कि ब्रह्म के प्रतिपादन की दो पद्धतियाँ हैं : विषयीनिष्ठ और विषयनिष्ठ। विषयीनिष्ठ पद्धति आत्मकेन्द्रित होती है। विषयीनिष्ठ पद्धति के अनुसार हमने आत्मा की सिद्धिपूर्वक ब्रह्म की सिद्धि दिखलाई है। इस पद्धति में निषेधमुख से एवं विधिमुख से आत्मा का प्रतिपादन किया गया है। निषेध मुख से कहा जा चुका है कि शरीर आत्मा नहीं है, इन्द्रिय आत्मा नहीं है, प्राण आत्मा नहीं है, मन आत्मा नहीं है, विज्ञान आत्मा नहीं है, इन सबसे परे तुरीय आत्मा है। विज्ञान तक जो आत्मा होने का निषेध किया गया है, यही नेति-नेति अर्थात् निषेध पद्धति है, जिसमें दिखलाया जाता है 'नेदं यदिदमुपासते' अर्थात् यह नहीं है, यह नहीं है। जिसे अज्ञानी जन आत्मा समझते हैं, वह वस्तुतः आत्मा का स्वरूप नहीं है। तब प्रश्न उठता है कि आत्मा क्या है? आत्मा का स्वरूप क्या है? इस पर विधिमुख से कहा जायेगा—आत्मा तुरीय है, वह ब्रह्म ही है। इस प्रकार विषयीनिष्ठ पद्धति में हमने देखा कि निषेध और विधि दोनों पद्धतियों से तुरीय चेतन को आत्मा कहा गया है जो कि अद्वैत ब्रह्म है।

अब विषयनिष्ठ पद्धति में भी दो पद्धतियों को हम अपना सकते हैं—विधि और निषेध मुख से हम 'नेह नानास्ति' इस श्रुति वाक्य की संगति बैठाने के लिए जगत् की मिथ्यात्वसिद्धि पूर्वक ब्रह्म की सिद्धि करने का प्रयास करेंगे। निषेधात्मक पद्धति में जब ब्रह्म के विषय में हम सम्पूर्ण धर्मों का निषेध करते हैं, उसका अर्थ यह नहीं कि धर्मी का भी निषेध करते हैं और यह भी अर्थ नहीं कि धर्म ब्रह्म को छोड़कर अन्यत्र कहीं स्थित हैं। शंकर ब्रह्म के विषय में जब कहते हैं कि ब्रह्म न सत् है और न ही असत् है, उनका तात्पर्य है कि यह प्रयोग उन अर्थों के दृष्टिकोण से है जिस दृष्टिकोण से हम आनुभूविक जगत् की

1. कठोपनिषद् 2।5।15
2. स्फूर्त्यर्थं वा अज्ञाननिवृत्त्यर्थं वा प्रमाण प्रश्नः। आद्येस्वप्रकाशतयाप्रमाणवैयर्थ्यम्··· द्वितीये उपनिषद् एवं प्रमाणत्वात्। अद्वैतसिद्धि, पृ० 739
3. शिव-महिम्नः स्तोत्रम्, श्लोक 2, द्वितीय पंक्ति।
4. अद्वैतसिद्धि, ब्रह्म निर्गुणत्वोपपत्ति प्रकरण, पृ० 717 से 721 तक

भावात्मक तथा अभावात्मक वस्तुओं को जानते हैं [अधिक-से-अधिक ब्रह्म के विषय में हम यही कह सकते हैं कि अमुक वस्तु ब्रह्म नहीं है, किन्तु यह नहीं कह सकते कि ब्रह्म क्या है? यह स्थिरता, परिवर्तन, सम्पूर्ण-इकाई अथवा एक भाग, सापेक्ष और निरपेक्ष, सीमित और असीमित इत्यादि समस्त विरोधी भावों के ऊपर, आश्रित पदार्थों, से अतीत ब्रह्म है। सीमित वस्तु सदा ही अपने से ऊपर की ओर बढ़ती है, किन्तु ऐसी कोई वस्तु नहीं है जो कि अनन्त तक पहुँच सके। यदि ऐसा होता तो अनन्त अनन्त नहीं रह सकता।[1] जब ब्रह्म के विषय में निषेधात्मक कथन किए जाते हैं कि ब्रह्म न मोटा है, न पतला है, न छोटा है, न लम्बा है, जिसे हमारी इन्द्रियाँ ग्रहण कर सकें, तो वह शून्य-सा लगता है, रिक्त-सा लगता है।[2] निर्गुण ब्रह्म स्थायी यथार्थ सत्ता है। हमारे मानवीय मस्तिष्क के लिए वह स्थायी यथार्थ सत्ता प्रकाशमान आदर्श के रूप में ही प्रकट होती है।[3]]

ब्रह्म का स्वरूप लक्षण—'सत्यं ज्ञानमनन्तम् ब्रह्म' अद्वैत वेदान्तियों के अनुसार यह ब्रह्म का स्वरूप लक्षण है। ब्रह्म के इस स्वरूप लक्षण को भी नेतिपरक ही समझना चाहिए। अस्तिपरकता में पूर्णतया अध्यस्त लक्षण ही मानना पड़ेगा। यद्यपि नास्ति मुखेन लक्षण भी अध्यस्त ही होता, फिर भी नेति-नेति करके ब्रह्म में वृत्ति व्याप्यता ही अपेक्षित है, फल-व्याप्यता नहीं। अतः निषेध मुख से लक्षणस्थ सत्य पद का अर्थ, असत्य की व्यावृत्ति, ज्ञान पद का अर्थ जड़ की व्यावृत्ति एवं अनन्तपद का अर्थ परिच्छिन्न की व्यावृत्ति होगा। अर्थात् ब्रह्म असत् नहीं, जड़ नहीं, परिच्छिन्न भी नहीं है। ब्रह्म उक्त प्रकार से असत्य, जड़ एवं परिच्छिन्न से जब भिन्न है, तो यह शंका हो सकती है क्या ब्रह्म में असत्य-भेद, जड़भेद एवं परिच्छिन्नभेद रहते हैं? पूर्वोक्त तीनों भेद क्या ब्रह्म के धर्म नहीं हैं? अतएव ब्रह्म निर्विशेष न होकर सविशेष हो जाता है। इसके उत्तर में अद्वैत वेदान्तियों का कहना है कि असत्य की व्यावृत्ति, जड़ की व्यावृत्ति एवं परिच्छिन्न की व्यावृत्ति ब्रह्म से पृथक् नहीं हैं। व्यावृत्ति ब्रह्मस्वरूप है। 'रजत नहीं है' यहाँ पर रजत अभाव जिस प्रकार शुक्ति रूप है, उसी प्रकार प्रकृत स्थल में भी व्यावृत्ति अर्थात् असत्य जड़ एवं परिच्छिन्न की व्यावृत्ति ब्रह्मस्वरूप है। तीनों पद शुद्ध ब्रह्म का बोध कराते हैं। व्यावृत्ति अभावरूप धर्म है, परन्तु अद्वैत मत में वह अधिकरण रूप है, अधिकरण ब्रह्म है। अतः ब्रह्म से वह अतिरिक्त नहीं है। मण्डनमिश्र आदि भावाद्वैतवादी अद्वैत वेदान्ती भावरूप ब्रह्म की एकता की सिद्धि करते हैं, भावरूप ब्रह्म के अतिरिक्त उसमें अभाव रूप धर्मों के होने पर भी उनके मत में अद्वैत की हानि नहीं होती।[4] जो भी हो मण्डन मिश्र के अनुसार अभाव रूप धर्मों को अतिरिक्त मानने पर भी अद्वैतवाद की हानि नहीं होती। अन्य अद्वैत वेदान्तियों के अनुसार अभाव ब्रह्मरूप ही है, इसलिए भी कोई क्षति नहीं है। वस्तुतः अधिकांश अद्वैत-

---

1. Indian philosophy, Vol. page 536 Dr. Radhakrishnan.
2. बृहदारण्यक उपनिषद् 3।8।8
3. The system of Vedanta page 103. Deussen
4. द्विविधाः धर्माः—भावरूपा अभावरूपाश्चेति। तत्र अभावरूपानाद्वैतं विघ्नन्ति।
—ब्रह्मसिद्धि, मण्डनमिश्र, पृ० 4

वेदान्ती भावाद्वैतवाद को स्वीकार नहीं करते। उनके अनुसार ब्रह्म में अथवा ब्रह्म के अतिरिक्त भाव-अभाव रूप किसी भी प्रकार के धर्म सम्भव नहीं हैं। एक मात्र सर्वग्राही एवं सर्वातीत ब्रह्म ही सत्य है। अगर कहीं असत्य भी है तो वह ब्रह्म ही है। ब्रह्म असत्य नहीं, अपितु असत्य जो कि असत्य के रूप में प्रतिभात होता है, उसमें भी अगर कोई सार है, तो वह भी ब्रह्म ही है।

उक्त स्वरूपलक्षण में तीनों ही पद ब्रह्मबोधक हैं, इसलिए कोई यह आक्षेप करे कि तीनों पदों की 'घटः कलशः' के समान पर्यायार्थकता हो जायेगी। ऐसी आपत्ति नहीं की जा सकती, क्योंकि तीनों पदों की सार्थकता बतलायी जा चुकी है कि असत्य आदि भिन्न-भिन्न वस्तुओं की व्यावृत्ति करते हैं। अद्वैत वेदान्ती तीनों पदों का वाच्यार्थ ब्रह्म को नहीं मानते। वाच्यार्थ मानने पर ब्रह्म में निर्गुणत्व नहीं रह सकता, इसलिए यहाँ पर लक्षणा मानी गयी है। द्वैत वेदान्तियों का यह आक्षेप समीचीन नहीं है कि लक्षणा में ब्रह्म को लक्ष्य बनाने पर लक्ष्यता धर्म से ब्रह्म सधर्मक हो जायेगा। ब्रह्म में लक्ष्यत्व धर्म आदि आरोपित हैं, यह पहले ही कहा जा चुका है। यहाँ पर सत्यादि पदों के भिन्न अर्थ होते हुए भी वे एकार्थ बोधक हैं, अतः सामानाधिकरण्य होने में किसी प्रकार की अनुपपत्ति नहीं है। जहाँ पर वाक्य के अन्तर्गत भिन्न-भिन्न पद एक अर्थ के बोधक होते हैं, वहीं सामानाधिकरण्य होता है। सत्यादि पदों द्वारा वाच्यार्थ में सत्यत्व विशिष्ट, ज्ञानत्व विशिष्ट एवं अनंतत्वविशिष्ट ब्रह्म—इस प्रकार अर्थ करने पर विशेषणों के भिन्न होने से विशेषण प्रयुक्त विशेष्य में भी भेद अवश्य होगा। वैसी स्थिति में निर्विशेष शुद्ध ब्रह्म का बोधक वे पद नहीं हो सकेंगे। इसलिए लक्षणा से अर्थ किया गया। ब्रह्म में वस्तुतः धर्म-धर्मि-भाव न होने पर भी कल्पित धर्म-धर्मि भाव का समर्थन-पंचपादिका में आचार्य पद्मपाद ने किया है। आनन्द आदि गुण वस्तुतः ब्रह्मस्वरूप हैं।[1] सत्य-ज्ञान-आनन्द आदि ब्रह्म से अभेद रूप हैं, इसका समर्थन आचार्य सर्वज्ञात्म मुनि ने अपने ग्रन्थ संक्षेपशारीरक में किया है। उनका कहना है कि सत्य में ज्ञान है, ज्ञान में सत्यता है। आनन्द में ज्ञान है, ज्ञान में आनन्द है। आनन्द में सत्यता भी है, सत्यता में आनन्द भी है। सत्य, ज्ञान एवं आनन्द में किसी प्रकार का भेद नहीं हैं। वे सब वस्तुतः अभिन्न हैं। सत्य यदि ज्ञान से भिन्न होता तो वह ज्ञान न होकर विषय या ज्ञेय होता। जो ज्ञेय है, वह सत्य न होकर मिथ्या होता, किन्तु सत्य कभी मिथ्या नहीं हो सकता। ज्ञान सत्य से भिन्न होता है, तो ज्ञान भी असत्य हो जायेगा और असत्य होने पर ज्ञान मिथ्या हो जायेगा, इसीलिए ज्ञान सत्य से अभिन्न है। इसी प्रकार आनन्द ज्ञान से भिन्न होता है तो वह भी ज्ञेय होगा और ज्ञेय होने से मिथ्या होगा।[2] अतः सत्यादि पद एकार्थ होकर ब्रह्म का बोधक है, साथ में इतर व्यावर्तक भी।

ब्रह्म सत्य अर्थात् सत है—हमने पूर्व ही निवेदन किया है कि अद्वैत वेदान्त के अनुसार परमार्थतः ब्रह्म की सिद्धि अथवा असिद्धि नहीं की जा सकती, वैसा होने पर ब्रह्म

---

1. आनन्दो विषयानुभवो नित्यत्वमिति सन्ति धर्माः।
   अपृथक्त्वेऽपि चैतन्यात् पृथगिवावभासन्ते ॥ पंचपादिका, अध्यासनिरूपण, पृ० 23
2. संक्षेप शारीरक, अध्यास 1, श्लोक 188-189

में ज्ञान-विषयत्व आ जायेगा। फिर भी अज्ञान निवृत्ति के लिए नेति-नेति पद्धति से ब्रह्म का प्रतिपादन करना है। सत्यादि पदों द्वारा मिथ्यादि की निवृत्ति भी नेति-नेति पद्धति ही है। सत्यादि पदों का ब्रह्मबोधकत्व होना ही विधिपरक पद्धति है। यद्यपि विधिपरक POSITIVELY प्रतिपादन में कल्पित धर्म-धर्मि-भाव निर्विशेष ब्रह्म में स्वीकार करना पड़ता है, फिर भी इसके अतिरिक्त—अर्थात् एवंभूत कल्पित विधिपरकत्व एवं निषेध-परकत्व के अतिरिक्त ब्रह्म के प्रतिपादन में अन्य कोई विधि नहीं है।

ब्रह्म के स्वरूपलक्षण में सत्यादि पदों के भिन्न-भिन्न अर्थ हैं और उन भिन्न-भिन्न अर्थों से अध्यारोपित समस्त प्रपंच का निषेध होता है—अर्थात् आरोपित प्रपंच की निवृत्ति होती है। उक्त स्वरूप लक्षण में ब्रह्म को सत्य अर्थात् सत् कहा गया है। सत् पद से असत् की निवृत्ति कही गयी है। असत् की निवृत्तिपूर्वक ब्रह्म को सत् स्वरूप बतलाया गया है। वह असत् अर्थात् अद्वैत वेदान्त में मिथ्या क्या है, विचारणीय है। क्योंकि आचार्य मधुसूदन ने उक्त नेति-नेति पद्धति का अनुसरण करते हुए अद्वैतसिद्धि में कहा है कि 'अद्वैतसिद्धेर्द्वैत-मिथ्यात्वसिद्धिपूर्वकत्वात् द्वैतमिथ्यात्वमेव प्रथममुपपादनीयम्'।[1] इसलिए अद्वैत ब्रह्म की सिद्धि के लिए द्वैत प्रपंच मिथ्या है, यह विचारणीय है। जब द्वैत प्रपंच की मिथ्यात्व-सिद्धि हो जायेगी, तब उसके निषेधपूर्वक ब्रह्म की सिद्धि होगी, क्योंकि सद्ब्रह्म स्वयं सिद्ध है। आचार्य शंकर ने सत्य मित्या का विश्लेषण करते हुए तैत्तिरीय भाष्य में कहा है कि 'सत्य वह है जो जिस रूप में विद्यमान है, वह उस रूप से कभी व्यभिचरित न होता हो, जिसका व्यभिचार होता है, वह सत्य नहीं हो सकता, वह मिथ्या है'।[2] अर्थात् जो त्रिकालाबाध्य है, वह सत् है। किसी काल में जिसका व्यभिचार होता है, वह असत्य है। सत्य सर्वदा कूटस्थनित्य होता है। अद्वैत वेदान्त में सत् में किसी भी प्रकार परिवर्तन नहीं माना गया है। इस परिभाषा के अनुसार सत्य का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। साथ में मिथ्या क्या है, यह भी स्पष्ट हो जाता है। आचार्य शंकर ने गीता भाष्य में पुनः कहा है कि 'यद्विषयाबुद्धिर्नव्यभिचरति तत् सत्, यद्विषयाबुद्धिव्यभिचरति तदसत्।[3]—जो वस्तु अस्ति रूप है वह नास्तिरूप नहीं हो सकती। अस्ति और नास्ति को एकत्र मानने पर विरोधनियम का उल्लंघन हो जायेगा। इसीलिए अस्तिरूप सत् में कभी सत्व का व्यभिचार नहीं हो सकता।[4] जिसका व्यभिचार होता है, जो किसी काल, किसी देश और वस्तु विशेष में सीमित है, उसको अद्वैत वेदान्त सत् नहीं मानता। ब्रेडले के ही समान अद्वैत वेदान्त के अनुसार सत् में किसी प्रकार का विरोध नहीं रह सकता। जो विरोधों से पूर्ण है, वह सत् न होकर ब्रेड्ले के अनुसार आभास है।[5] परन्तु मिथ्या वस्तु किसी-न-किसी सत्य अधिष्ठान को आश्रय करके ही प्रतिभासित होती है, इसीलिए आचार्य प्रकाशा-

---

1. अद्वैतसिद्धि, पृ० 8
2. तैत्तिरीय उपनिषद् भाष्य 2।1
3. गीता शांकर भाष्य 2।16
4. नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः, गीता शांकर भाष्य, 2।16
5. Appearance and Reality, page 120 Bradley.

त्मयति ने मिथ्यात्व का लक्षण किया है—"प्रतिपन्न उपाधि में जो अभाव है, उस अभाव का प्रतियोगी होना ही मिथ्यात्व है।"[1] मिथ्या सदा सत्य प्रतिपन्न उपाधि में ही प्रतीति का विषय बनता है। जिस अधिष्ठान में जिसका अत्यन्त अभाव है, उस अत्यन्त अभाव की प्रतियोगी वस्तु मिथ्या है। आकाश आदि सम्पूर्ण प्रपंच का अधिष्ठान ब्रह्म है, परमार्थतः ब्रह्म में आकाश आदि प्रपंच का अत्यन्त अभाव है, इसीलिए वे मिथ्या हैं।

इस प्रकार अद्वैतवादी प्रपंच की मिथ्यात्वसिद्धि करके पश्चात् उसका निषेध अर्थात् अपवाद करते हैं। अध्यारोप में 'सर्वंखल्विदं ब्रह्म' आदि श्रुति वाक्यों की संगति बैठ जाती है तथा अपवाद में 'नेह नानास्ति' आदि श्रुति वाक्यों की संगति भी। इसी को हमने इतः-पूर्व विषयनिष्ठ, निषेधपद्धति कहा है। जब सम्पूर्ण जगत् की शुक्ति में रजत के समान मिथ्यात्वसिद्धि हो जाती है और जब मिथ्या वस्तु की व्यावृत्ति हो जाती है और व्यावृत्ति स्वयं ब्रह्मरूप होती है तथा व्यावर्त्य कुछ शेष नहीं रहता तब इस निषेध पद्धति से एकमात्र अद्वैत ब्रह्म की सिद्धि हो जाती है।

इसके अतिरिक्त विधिमुखेन निर्विशेष ब्रह्म में आरोपित धर्मों को मानकर सत् का विवरण दिया जा सकता है। विश्व में सत् ब्रह्म को छोड़कर किसी भी वस्तु की स्थिति नहीं मानी जा सकती, क्योंकि सत् अधिष्ठान के बिना मिथ्या वस्तु की प्रतीति सम्भव नहीं है। सभी वस्तुएँ सत् के साथ तादात्म्य रूप में ब्रह्म में अध्यस्त हैं। इसलिए 'घटोऽस्तिपटोऽस्ति' इत्यादि रूप में सर्वत्र सत् की प्रतीति होती है। ब्रह्म सत् है, इसकी सिद्धि नहीं करनी है, क्योंकि वही सत् हो सकता है, जिसका अनस्तित्व न हो। सत् का अभाव कभी नहीं होता और असत् का भाव भी नहीं। घट आदि पदार्थों में अस्तिरूप से अधिष्ठान सत्ता का अनुभव होता है। प्रत्येक वस्तु के साथ सत् जुड़ा हुआ है। सत् को निकाल देने पर वस्तु स्वरूप अनिर्वचनीय हो जाता है, जैसे अरस्तू के अनुसार रूप विहीन उपादान। घटादि में जो सत् की प्रतीति होती है वह घटादि भिन्न-भिन्न वस्तुरूप नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर 'घटःसन् पटःसन्' एवं रूप से सर्वत्र सत् की अनुगत प्रतीति नहीं हो सकेगी। हम सर्वत्र अस्ति के रूप में एक सत् का अनुभव करते हैं। अतः घटादि को अस्तित्ववान् बताने के लिए उनमें एक सत्ता को स्वीकार करना आवश्यक है। सत् को यदि वस्तु रूप माना जाये तो वह घट रूप होगा —अर्थात् घट कहना और सत् कहना एक ही बात होगी। इसी प्रकार सत् पट रूप होगा तो पट कहना और सत् कहना एक ही बात होगी। ऐसा मानने पर घट के लिए भी सत् शब्द का प्रयोग होगा और पट के लिए भी। ऐसी स्थिति में घट पट न कहकर सत्-सत् कहा जा सकता है। इसी प्रकार सत् और घट जब एक हैं तब 'सन् घटः' के स्थान पर 'सत्-सत्' या 'घट-घट' ऐसा भी प्रयोग होने लगेगा जोकि होता नहीं है। सत् और घट एक होते तो सत् के कभी उत्पत्ति-विनाश न होने के कारण घट के भी उत्पत्ति-विनाश नहीं होंगे और इस प्रकार असत्वापत्ति हो जायेगी। 'सत् घट' में विशेष्य-विशेषण भाव भी उपपन्न न होगा। अतः सत् घटादि भिन्न-भिन्न वस्तुरूप नहीं हैं।

सत् जाति रूप (सामान्य) धर्म भी नहीं, क्योंकि सत्ता जाति द्रव्य-गुण-कर्ममात्र-

---

1. पंचपादिका विवरण, पृष्ठ 212

वृत्ति है, सामान्यः विशेष, समावाय, अभाव आदि में सत्ता जाति नहीं है। किन्तु सत् सामान्यादि सभी पदार्थों में रहता है, अन्यथा उन पदार्थों का अनस्तित्व हो जायेगा। अभाव में भी सत् है। जैसे घट में पट का अभाव है, यहाँ पर 'है' पद द्वारा सत्ता का ही बोध होता है। ऐसी वस्तु नहीं है, जिसमें सत् नहीं हो, सत् के बिना वस्तु अवस्तु हो जायेगी। अवस्तु मिथ्या में जो मिथ्यात्व है उसमें भी 'है' का भाग सत् का ही है। सत् अपरिच्छिन्न होने के कारण सर्वत्र पहुँचा हुआ है, अतः सत् किसी का धर्मरूप नहीं है, अपितु धर्मिरूप है। घटादि में सत् नहीं है अपितु सत् में घटादि अध्यस्त है।[1] सत् के साथ तादात्म्यभावापन्न हुए बिना घटादि की प्रतीति नहीं हो सकती। सत् का यद्यपि वस्तुतः अध्यास नहीं होता, फिर भी संसर्गाध्यास का आरोप उसमें किया जाता है। फिर भी सत् अपापविद्ध रह जाता है। इसलिए ब्रह्मानन्द-सरस्वती के अनुसार सत् अध्यस्त वस्तुओं का हमें दो प्रकार से अनुभव होता है—'सन्तं घटं जानामि, घटं सन्तं जानामि'।[2]

'सत्सं ज्ञानं अनन्तम्' आदि स्वरूपलक्षण वाक्यों में सत् को न्याय एवं वैष्णव दार्शनिकगण ब्रह्म का गुण कहते हैं, किन्तु अद्वैतवादी सत् को ब्रह्मस्वरूप मानते हैं। इस अर्थ में सत् और ब्रह्म में किसी प्रकार का भेद सम्भव नहीं। पूर्णतया एकार्थक होने पर भी असद्व्यावर्तक होने के कारण वह सार्थक भी है। इसी अर्थ में सत्यपद का ब्रह्म के साथ सामानाधिकरण्य भी होता है।

हमने ब्रह्मस्वरूप लक्षण के अन्तर्गत सत्-पद का विचार निषेध मुख से व्यावर्तक के अर्थ में और विधिमुख से ब्रह्मपरकत्व के अर्थ में किया है। वहाँ हमने पहले बतलाया है कि ये दोनों विधि-निषेध पद्धतियाँ विषयनिष्ठ पद्धति के अन्तर्गत आती हैं। अब आगे हम ब्रह्मस्वरूप लक्षण के अन्तर्गत 'ज्ञानं' अर्थात् चित् पद के विषय में विधि-निषेध दोनों पद्धतियों के माध्यम से विचार प्रस्तुत करेंगे।

ब्रह्म ज्ञान अर्थात् चित् स्वरूप है—ब्रह्म के स्वरूप लक्षण के अन्तर्गत ब्रह्म को ज्ञानस्वरूप कहा गया है। निषेध-मुख से विचार करने पर ज्ञान पद अज्ञान एवं अज्ञानोपादानक जड़ पदार्थों का व्यावर्तक है। ब्रह्म ज्ञानस्वरूप है, इसका अर्थ है—ब्रह्म में अज्ञान या जड़त्वादि लेशमात्र भी नहीं हैं। ज्ञान सम्पूर्ण अज्ञान कार्यों की व्यावृत्ति करता है, साथ में ज्ञान पद का अर्थ ब्रह्म में एकीभूत होकर ब्रह्म को चित्स्वरूप बतलाना भी है। इस प्रकार यहाँ पर ज्ञान एवं ब्रह्म में पूर्वोक्त प्रकार से सामानाधिकरण्य होने में किसी प्रकार की असंगति नहीं है। ज्ञानपद का अभिधा अर्थ इतरव्यावर्तकव्य है तथा लक्ष्यार्थ ब्रह्मस्वरूप है। ज्ञान ब्रह्मस्वरूप है, ब्रह्म ज्ञान स्वरूप है। यहाँ पर ज्ञान पद से वृत्ति ज्ञान को नहीं लेना है। वृत्ति ज्ञान अद्वैत मत में अध्यस्त ज्ञान है, वह मिथ्या है, क्योंकि उसकी व्यावृत्ति हो जाती है। यहाँ पर ज्ञान पद से शुद्ध ज्ञान, शुद्ध चित् ब्रह्म को समझना है। ब्रह्म ज्ञानस्वरूप है, इसीलिए शास्त्र ब्रह्म को दृक्-रूप कहते हैं, ब्रह्म दृश्य नहीं है। दृश्य तो जड़ है। इसलिए आनन्दबोध ने सम्पूर्ण दृश्य प्रपंच को दृक्-अध्यस्त होने के कारण

---

1. पटादयः स्वानुगत प्रतिभासेवस्तुनि कल्पिताः विभक्तत्वात्। अद्वैतसिद्धि, पृ० 316
2. लघुचन्द्रिका, पृ० 45

दृश्यत्व रूप हेतु द्वारा मिथ्या सिद्ध किया है।[1] इसी प्रकार जड़त्व को हेतु मानकर दृश्य प्रपंच की मिथ्यात्वसिद्धि अद्वैत वेदान्ती करते हैं। दृश्य प्रपंच को दृक्भिन्न एवं जड़त्व हेतु से मिथ्या सिद्ध करने के लिए, दृश्यत्व क्या है, इस पर अद्वैत वेदान्तियों ने पर्याप्त विचार किया है। विश्व प्रपंच दृक्स्वरूप नहीं है, यह तो सभी दार्शनिक मानते हैं, किन्तु प्रपंच मिथ्या है, यह बात वैष्णव दार्शनिकगण स्वीकार नहीं करते। दृश्यत्व के वृत्ति-व्याप्यत्व आदि अनेक अर्थ करके उसकी परिभाषा प्रस्तुत की गयी है। इसी प्रकार जड़त्व का अर्थ अज्ञानत्व एवं अनात्मत्व के रूप में अद्वैत वेदान्ती करते हैं। ब्रह्म के स्वरूप लक्षण वाक्य में चित् पद द्वारा अचित् अर्थात् दृश्य जड़ मात्र की व्यावृत्ति हो जाती है और व्यावृत्ति स्वयं निषेधरूप में अधिकरणस्वरूप है, अतः चित्पद व्यावर्तक होता हुआ भी तादात्म्यरूप से ब्रह्मस्वरूप है।

अब विधिमुखेन POSITIVELY चित् स्वरूप का विवरण दिया जाता है। विधि, निषेध दोनों ही व्यवहार में हैं, इसीलिए विधिमुख से जो प्रतिपादन होता है उसका भी पर्यवसान निषेध में ही होता है। कोई भी पद्धति चाहे वह विधि या निषेध ही क्यों न हो, ब्रह्म को आत्मसात् करने में समर्थ नहीं है, क्योंकि सत् को किसी पद्धति में नहीं लाया जा सकता। पद्धति के अन्दर लाने पर वह समस्त विरोधों से मुक्त न रहकर विरोधयुक्त होगा, ऐसी स्थिति में शंकर, नागार्जुन,[2] ब्रेडले जैसे प्रत्ययवादीगण उसे सत् नहीं मान सकते, क्योंकि इन प्रत्ययवादी दार्शनिकों के अनुसार सत् समस्त विरोधों से मुक्त निरपेक्ष सत् है। फिर भी विधिमुख से विवरण देते हुए अद्वैतवेदान्ती 'चित्' को स्वयं प्रकाश मानते हैं।

चित् का स्वप्रकाशत्व—चित् ब्रह्म है, ब्रह्म चित्स्वरूप है। चित् ज्ञानस्वरूप होने के कारण अज्ञेय है। ज्ञान का व्यवहार उसमें सम्भव नहीं है, इसीलिए वह स्वयंप्रकाश है। अन्य प्रमाणों द्वारा प्रकाश्य नहीं है। वह स्वतःप्रमाण, स्वतःसिद्ध स्वयं ज्योति है। इस प्रकार चित् का स्वयं-प्रकाशत्व रामानुज आदि वैष्णववेदान्तियों द्वारा स्वीकृत नहीं हुआ है। रामानुज ने श्रीभाष्य में अद्वैत के स्वयंप्रकाशत्व के लक्षण का जोरदार खण्डन किया है। इसी प्रकाश निम्बाकीचार्यों ने भी अद्वैत के स्वयंप्रकाशत्व के लक्षण का खण्डन किया है। निम्बार्क आचार्यगण ब्रह्म को स्वयंप्रकाश नहीं मानते। स्वयंप्रकाश मानने पर उनके अनुसार शास्त्रादि उपदेश—अर्थात् शास्त्रादि प्रमाण व्यर्थ हो जायेंगे। शास्त्रादि प्रमाणों से जब ब्रह्म परे होगा तो शास्त्रों के अनुसार उपासना भी व्यर्थ हो जायेगी।[3] इसलिए ब्रह्म स्वयं-प्रकाश नहीं हो सकता।

अद्वैत वेदान्त के प्रकाण्ड पण्डित आचार्य चित्सुख ने अनुभूति के स्वयं-प्रकाशत्व की सिद्धि अपने ग्रन्थ तत्वप्रदीपिका में की है। उनके अनुसार अनुभूति के स्वप्रकाशत्व का

---

1. विवादपदं मिथ्या दृश्यत्वात्। न्याय दीपावलि, आनन्दबोध, पृ० 1
2. तस्मान्नभावोनाभावो न लक्ष्यं नापिलक्षणं। इत्यादि नागार्जुन के विचार देखें—मध्यमकशास्त्र, पृ० 53
3. A History of Indian philosophy, page 407 Dasgupta.

लक्षण असम्भव नहीं है। स्वप्रकाशत्व का अर्थ है—'जो ज्ञेय न बनता हो साथ में अपरोक्ष व्यवहार विषय की उसमें योग्यता हो'।[1]—इसी प्रकार उन्होंने अनुमान प्रमाण भी अनुभूति के स्वप्रकाशत्व में प्रस्तुत किया है—अनुभूतिः, अनुभूति व्यवहार हेतु प्रकाशः अनुभूतित्वात्,···यथा घटः।[2] अर्थात् अनुभूति स्वव्यवहार हेतु प्रकाश है, क्योंकि वह अनुभूति है जो ऐसा नहीं है, वह अनुभूति भी नहीं है, जैसे घट। घट अनुभूति अर्थात् ज्ञान नहीं है, इसीलिए अपने प्रकाश का हेतु नहीं बनता। वह अपने आपको प्रकाशित नहीं कर सकता, उसको प्रकाशित करने के लिए ज्ञान की आवश्यकता है। अर्थात् वह अन्य द्वारा प्रकाशित है। अन्य उसके लिए ज्ञान है। ज्ञान द्वारा ही वह प्रकाश्य है। ज्ञान न होगा तो उसका प्रकाश भी सम्भव नहीं है। अर्थात् वह ज्ञानाधीन है। इसीलिए वह जड़ भी है, किन्तु अनुभूति या ज्ञान अद्वैत वेदान्त के अनुसार अन्य द्वारा प्रकाश्य नहीं है, वह स्वप्रकाश है। आचार्य रामानुज आदि वैष्णव वेदान्ती एवं न्यायदार्शनिक अनुभूति को स्वप्रकाश नहीं मानते। आचार्य रामानुज ने श्री भाष्य में अनुभूति के स्वप्रकाशत्व को पूर्वपक्ष के रूप में प्रस्तुत करके उसका खण्डन किया है। रामानुज के अनुसार ज्ञानोदय होने के पश्चात् ज्ञाता ज्ञेय विषय को जान लेता है। उसी समय विषय को जानने के साथ-साथ विषय के भासक ज्ञान भी उसके लिए प्रकाशित हो जाता है, इसलिए ज्ञान सब समय प्रकाशमय नहीं है। ज्ञान प्रत्येक व्यक्ति में भिन्न-भिन्न है। ज्ञान किसी में प्रकाशित होता है तो दूसरे व्यक्ति में अप्रकाशित रहता है। अद्वैत वेदान्त के अनुसार अनुभूति अनुभाव्य नहीं होती। अनुभूति के अनुभाव्य हो जाने पर उसमें जड़त्व आ जाता है। रामानुज के अनुसार अनुभूति अनुभाव्य हो सकती है। अनुभाव्य होने पर वह अनुभूति नहीं रहेगी, ऐसी बात नहीं। इसी प्रकार वैष्णव वेदान्तीगण अनुभूति के नित्यत्व एवं एकत्व का भी खण्डन करते हैं। रामानुज के अनुसार ज्ञानमात्र ही अनित्य एवं सविषयक है। प्रत्येक विषय का ज्ञान भी भिन्न-भिन्न है। घट-ज्ञान, पट-ज्ञान आदि भिन्न-भिन्न ज्ञानों का हम अनुभव करते हैं। रामानुज के अनुसार अनुभूति का अर्थ है—'जो वर्तमान दशा में अपनी सत्ता से अपने आश्रय में प्रकाशित होती हो, या जो प्रकाशित होने के लिए स्वयं माध्यम हो'। एवंभूत ज्ञान या अनुभूति स्वप्रकाश नहीं होती।[3] रामानुज आदि वैष्णव दार्शनिकों के अनुसार ज्ञान आत्मा का गुण है। इसी प्रकार चित् ब्रह्म का गुण है, जबकि अद्वैत वेदान्त के अनुसार वास्तविक अर्थ में ज्ञान और चित् एक हैं और दोनों ही आत्मा या ब्रह्मस्वरूप हैं। ब्रह्म को निर्विशेष, निर्गुण सिद्ध करने के लिए ही अद्वैत वेदान्ती अनुभूति को स्वप्रकाश, एक और नित्य मानते हैं, क्योंकि अद्वैत वेदान्ती ब्रह्म को ज्ञानस्वरूप कह चुके हैं, इसीलिए उनके लिए यह आवश्यक हो जाता है कि ज्ञान को स्वप्रकाश, नित्य एवं एक सिद्ध करें।

---

1. अवेद्यत्वेसति अपरोक्ष व्यवहारविषयत्वं वा। तद्योग्यत्वं वा। वेदान्त प्रक्रिया प्रत्यभिज्ञा, पृ० 639 : चित्सुखाचार्य प्रस्थान परीक्षा।
2. वही।
3. अनुभूतित्वं नाम वर्तमान दशायां स्वसत्तयैव स्वाश्रयंप्रति प्रकाशमानत्वं स्वसत्तयैव स्वविषय साधनत्वं वा—श्रीभाष्य, पृष्ठ 84

यह बात नहीं है कि अद्वैत वेदान्ती व्यवहार क्षेत्र में भिन्न-भिन्न ज्ञान स्वीकार नहीं करते। प्रत्येक व्यक्ति में भिन्न-भिन्न ज्ञान है, ज्ञानों में तारतम्य भी है। ज्ञान नष्ट होता है, उत्पन्न होता है—ये बातें व्यवहार में हैं, पर एवंप्रकारक ज्ञान अध्यस्त ज्ञान है, अविद्या से जन्य ज्ञान है जिसे वृत्तिज्ञान कहते हैं। ब्रह्मस्वरूप ज्ञान की दृष्टि से आध्यासिक होने के कारण वृत्ति ज्ञान मिथ्या ज्ञान है। वास्तविक अर्थ में शुद्ध ज्ञान न होकर वह ज्ञेय ही है। अखण्डाकार बोध में इस वृत्तिज्ञान का भी बाध हो जाता है। जिस प्रकार अनुभूति के स्वप्रकाशत्व की सिद्धि अद्वैत वेदान्ती करते हैं, उसी प्रकार आत्मा के भी स्वप्रकाशत्व की सिद्धि करते हैं। अद्वैत वेदान्ती के अनुसार आत्मा अनुभूतिस्वरूप है। अनुभूति ब्रह्मस्वरूप है अथवा अनुभूति आत्मस्वरूप है, आत्मा ब्रह्मस्वरूप है। स्वयं प्रकाश,[1] अनुभूतिस्वरूप आत्मा एवं आत्मस्वरूप ब्रह्म एक ही है। 'अत्रायं पुरुषः स्वयं ज्योतिः' इति श्रुतेश्चात्मा स्वयंप्रकाश इत्यादि प्रमाणों से अनुभूतिस्वरूप आत्मा एवं आत्मस्वरूप ब्रह्म स्वयंप्रकाश सिद्ध होता है।

ब्रह्म के स्वरूपलक्षण में उक्त चित् अध्यस्त सम्पूर्ण दृश्य या ज्ञेय अर्थात् जड़ वस्तुओं का निषेध हो जाता है। इस प्रकार चित् पद व्यावर्तक होकर सार्थक हो जाता है और स्वयं चित् ब्रह्मस्वरूप होकर ब्रह्म का भी बोध कराता है। इस प्रकार से सामानाधिकरण्य की स्थापना हो जाती है।

ब्रह्म अनन्तस्वरूप—ब्रह्म के स्वरूपलक्षण में तीसरा पद अनन्त पद है। विधि मुख से अनन्त पद द्वारा लक्षणा से ब्रह्म का ही बोध होगा। निषेधमुख से यह पद सभी अन्तों का व्यावर्तक होता है। अन्त का अर्थ है परिच्छिन्न। तीन प्रकार के परिच्छिन्न हो सकते हैं—देशकृत, कालकृत एवं वस्तुकृत। अत्यन्त अभाव प्रतियोगित्व ही देशकृत परिच्छिन्नत्व है। जिसका कहीं न कहीं पर अभाव हो वह परिच्छिन्न है। संसार की सभी वस्तुएँ इस प्रकार के अभावों से ग्रसित हैं। यहाँ पर स्थित घट यहीं पर है, इसी देश में है। इस घट का अन्य देशों में अत्यन्त अभाव है, इसलिए घट अपने देश में ही सीमित है। इस प्रकार संसार की सम्पूर्ण वस्तुओं के विषय में समझना चाहिए। अभाव प्रतियोगित्व को कालकृत परिच्छिन्नत्व कहते हैं। प्रत्येक वस्तु किसी न किसी काल में अस्तित्ववान् है। अन्य काल में उसका अस्तित्व नहीं है। उत्पत्ति से पहले वस्तु नहीं होती, ध्वस के पश्चात् भी वस्तु नहीं होती, मात्र वर्तमान काल में वस्तु होती है।[2] इसीलिए जागतिक वस्तुओं के प्रागभाव एवं ध्वंसाभाव हैं। प्रागभाव वस्तु की पूर्व सीमा है, ध्वंसाभाव वस्तु की पश्चात्भावी सीमा है। ये ही परिच्छिन्नताएँ हैं। अन्योन्याभाव प्रतियोगित्व को वस्तुकृत परिच्छिन्नत्व कहते हैं। प्रत्येक वस्तु स्व में स्थित है, अन्य में उसका अभाव है। घट घट में ही है; पट में नहीं। कुर्सी का अस्तित्व कुर्सी में है, मेज में नहीं। दूसरे शब्दों में कुर्सी कुर्सी है, मेज मेज है, सब एक दूसरे से भिन्न हैं। इस प्रकार प्रत्येक वस्तु की अपनी

---

1. वेदान्त प्रक्रिया प्रत्यभिज्ञा, पृष्ठ 640, नीचे की टिप्पणी।
2. अव्यक्तादीनिभूतानि व्यक्तमध्यानि भारत
   अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ।। गीता 2।28

सीमा है, वह अपने तक सीमित है। कोई भी वस्तु अपने अस्तित्व की सीमा का अतिक्रमण नहीं कर सकती।[1] इसलिए वस्तुएँ सीमित हैं। पूर्वोक्त तीनों प्रकार की सीमाओं अर्थात् परिच्छिन्नताओं से संसार की सभी वस्तुएँ सीमित हैं। इसलिए अद्वैतसिद्धिकार ने परिच्छिन्नत्व को हेतु मान करके प्रपंच की मिथ्यात्वसिद्धि की है। आचार्य गौड़पाद ने माण्डूक्य कारिका में काल परिच्छिन्नता से युक्त वस्तुओं को वितथ अर्थात् मिथ्या कहा है।[2]

ब्रह्म में उक्त परिच्छिन्नताओं का अभाव है। ब्रह्म में देशकृत, कालकृत एवं वस्तु कृत सीमाएँ नहीं हैं। इन अन्तों से वह अतिक्रान्त है। इसीलिए ब्रह्म को अनन्त कहा गया है। स्वरूपलक्षण के अनन्त पद द्वारा इस प्रकार परिच्छिन्न या सीमित वस्तुओं की व्यावृत्ति की गई है। परिच्छिन्न वस्तुएँ मिथ्या हैं। मिथ्या वस्तुओं की व्यावृत्तिपूर्वक अनन्त पद ब्रह्म का बोधक होता है। इसीलिए अनन्त पद अपने अर्थ में सार्थक होता हुआ लक्षणा से ब्रह्म की ओर भी संकेत करता है। अतः ब्रह्म के साथ सामानाधिरण्य में किसी प्रकार की असंगति नहीं है। इस प्रकार "सत्यं ज्ञानं अनन्तं" यह लक्षण इतरव्यावर्तक होता हुआ अर्थात् मिथ्या, जड़ एवं परिच्छिन्न की व्यावृत्ति करता हुआ ब्रह्म के स्वरूप का अवबोधक होता है।

अखण्डार्थ—ब्रह्म के स्वरूप बोधक उक्त प्रकार के लक्षण वाक्यों द्वारा जो ब्रह्म का बोध होता है, उस प्रक्रिया में ब्रह्म को बोध्य या अनुभाव्य न समझा जाय। वहाँ पर अखण्डाकार तद्रूप ही बोध होता है। बोध एवं बोध के विषय में कोई अन्तर नहीं होता। ज्ञान एवं ज्ञेय वहाँ पर एकीभूत हो जाते हैं। इसीलिए उक्त प्रकार ज्ञान को अद्वैत वेदान्ती अखण्डार्थबोध कहते हैं। अखण्डार्थबोध में वाक्य में स्थित पदों का परस्पर सम्बन्ध बोध नहीं होता। अपितु समिष्टरूप से वाक्य के रहस्य के रूप में यथार्थ ज्ञान उत्पन्न होता है।[3] अन्य अर्थ में यह कहा जायेगा कि जो शब्द पर्यायार्थक नहीं हैं, उन शब्दों की समष्टि के सम्बन्ध ज्ञान के बिना ही सामग्रिकभाव से जो निर्विषयक ज्ञान का उदय होता है, वह अखण्डार्थ बोध है।[4] इस प्रकार अखण्डार्थ बोध ही तत्त्व अर्थात् ब्रह्म-साक्षात्कार है।

अद्वैत वेदान्त में प्रतिपादित इस अखण्ड अर्थबोध के विरुद्ध निम्बार्क दार्शनिक माधव मुकुन्द ने अपने ग्रन्थ परपक्षगिरिवज्र में तीव्र विरोध प्रकट किया है। उनका कहना है कि अखण्डार्थबोध में कोई प्रमाण नहीं है। 'सत्यं, ज्ञानं, अनन्तं ब्रह्म' आदि ब्रह्मस्वरूप-लक्षण वाक्यों में निम्बार्क दार्शनिकों के अनुसार प्रत्येक पद विशिष्ट का बोधक है न कि निर्विशेष वस्तु का। अद्वैतवादियों की ओर से सत्यादि वाक्यों को अखण्डार्थनिष्ठ सिद्ध करने

---

1. अद्वैतसिद्धि, पृष्ठ 315
2. आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत् तथा।
   वितथैः सदृशा सन्तो वितथा इव लक्षिताः॥—माण्डूक्य कारिका 2।6
3. चित्सुखी, पृ० 109
4. अपर्यायशब्दानामसंसर्गागोचर प्रमिति जनकत्वं वा तेषामेकप्रातिपदिकार्थमात्र-पर्यवसायित्वं व अखण्डार्थत्वम्। अद्वैतसिद्धि, पृ० 663

के लिए माधव मुकुन्द ने अनुमान प्रस्तुत किया है एवं पश्चात् उसका युक्ति एवं तर्कों सहित प्रत्याख्यान किया है। अनुमान इस प्रकार है—'सत्यादि वाक्यं अखण्डार्थनिष्ठं, प्रकृष्ट प्रकाशश्चन्द्र, इतिवाक्यवत्'[1] प्रकृष्ट प्रकाशचन्द्र यह वाक्य चन्द्र स्वरूप मात्र का बोधक है, इसी प्रकार सत्यादि वाक्य भी ब्रह्मस्वरूप मात्र का बोधक है। इस अनुमान के खण्डन में आचार्य माधवमुकुन्द ने अनुमान के दृष्टान्त को 'असद्दृष्टान्त' सिद्ध किया है। अखण्डार्थ बोधक अनुमान के लिए 'प्रकृष्ट प्रकाश चन्द्र' वाक्य दृष्टांत नहीं हो सकता, क्योंकि दृष्टान्त वाक्य सखण्डार्थ बोधक है। उक्त वाक्य से 'प्रकर्ष का आश्रय प्रकाश-विशिष्ट चन्द्र' इस प्रकार का बोध होता है, इसीलिए यह अखण्डार्थ बोधक वाक्य नहीं है। अखण्ड वस्तु प्रमाणसिद्ध नहीं है। निम्बार्क मत में सभी ज्ञान सविकल्पक होते हैं। निर्विशेष अखण्ड वस्तु अप्रसिद्ध है, इसीलिए उक्त अनुमान में साध्य-अप्रसिद्ध दोष भी है। आचार्य माधवमुकुन्द ने अखण्डार्थ के विरुद्ध अनुमान प्रस्तुत किया है। 'वेदान्तजन्याप्रमासप्रकारिका, विचार-जन्य-ज्ञानत्वात् संशयादिनिवर्तकत्वात् च, कर्मकाण्डजन्य ज्ञानवत्। वेदान्त जन्या प्रमा ब्रह्मप्रकारविषया, ब्रह्मधर्मिकसंशयादि विरोधित्वात् ब्रह्मविचार-जन्य-ज्ञानत्वाद् वा, कर्म-काण्ड विचार-जन्य-ज्ञानवत्।[2] अर्थात् सत्य, ज्ञानं इत्यादि वाच्य-जन्य-प्रमाज्ञान सप्रकारक क्योंकि वह प्रमाज्ञानजन्य ज्ञान है। विचारजन्य ज्ञान मात्र ही सप्रकारक होता है—जैसे वेद के कर्मकाण्डीय वाक्य विचारजन्य ज्ञान सप्रकारक हुआ करता है उसी प्रकार ब्रह्म प्रतिपादक वेदान्त-वाक्य-जन्य प्रमा ब्रह्मनिष्ठ धर्म-विषयक है, क्योंकि वह प्रमा ब्रह्म विषयक संशय एवं भ्रमविरोधी है, जो प्रमा ज्ञान जिस धर्मिविषयक संशयादि का विरोधी होता है वह प्रमाज्ञान धर्मिगतप्रकारविषयक होता है, इसलिए वेदान्तवाक्य सप्रकारक होने से अखण्डार्थ नहीं हो सकता।

उक्त प्रकार से आचार्य माधवमुकुन्द ने परपक्ष गिरिवज्र में अद्वैत वेदान्त अभिप्रेत अखण्डार्थ का प्रत्याख्यान किया है। माधवमुकुन्द के अतिरिक्त अन्य वैष्णव दार्शनिक भी अखण्डार्थ का विरोध करते हैं। आचार्य मधुसूदन सरस्वती ने अद्वैतसिद्धि में पूर्व पक्ष में अखण्डार्थ के खण्डन में प्रयुक्त प्रमुख युक्तियों को प्रस्तुत किया है।[3] अद्वैत वेदान्त के अन्य आचार्यों ने भी अखण्डार्थ के लक्षण दिए हैं। आचार्य पद्मपाद के अनुसार 'संसर्ग अगोचर अपर्याय शब्दों का जो कि परस्पर आकांक्षा नहीं रखते, अव्यतिरिक्त एक प्रातिपदिकार्थ मात्र अन्वय ही अखण्डार्थता है।'[4] कल्पतरुकार के अनुसार 'अविशिष्ट अपर्याय अनेक शब्द प्रकाशितं एकं वेदान्तनिष्णाता अखण्डं प्रतिपेदिरे' अखण्डार्थ है। कल्पतरुकार ने अखण्डार्थ प्रतिपादन में अनुमान भी प्रस्तुत किया है। 'सत्यादि वाक्य विशिष्टार्थपरक नहीं है, क्योंकि

---

1. परपक्षगिरिवज्र, पृ० 548-549
2. अद्वैतसिद्धि, पृ० 662, 663, 664
3. वही, पृ० 663 में उद्धृत।
4. वही, पृ० 674 में उद्धृत।

वह लक्षण वाक्य है। प्रकृष्ट प्रकाशादि वाक्य के समान'।[1] इस प्रकार उन्होंने अखण्डार्थ का प्रतिपादन किया है। वाचस्पति मिश्र ने ब्रह्म साक्षात्कार को मानते हुए भी ब्रह्म को सर्वोपाधिरहित स्वयंज्योति कहा है। ब्रह्म स्वयं-ज्योति, स्वयं प्रकाश है, उसमें किसी भी प्रकार के विशेष धर्म नहीं हैं। विशेष धर्म मानने पर भी वे काल्पनिक हैं, अतः ब्रह्म में एवं वेदान्त वाक्यों में अखण्डार्थता बनी रहती है।[2] आचार्य ब्रह्मानन्द सरस्वती ने अखण्डार्थ के समर्थन में जोरदार युक्तियों का अवतरण किया है।[3] उनका कहना है कि सत्यादि पदों द्वारा प्रवृत्ति-निवृत्ति-भेद स्वीकार करते हुए लक्षणा से उनको शुद्ध ब्रह्मपरक मानने पर अखण्डार्थता में किसी प्रकार असंगति नहीं है। यद्यपि विशुद्ध ब्रह्म के साथ किसी प्रकार सम्बन्ध नहीं हो सकता फिर भी काल्पनिक सम्बन्ध को मानकर लक्षणा हो सकती है। भ्रमकाल में प्रतीत रजत का सम्बन्ध शुक्ति के साथ काल्पनिक ही होता है। अद्वैत वेदान्त के अनुसार सम्पूर्ण कल्पनाओं का आस्पद शुद्ध ब्रह्म ही हो सकता है, क्योंकि ब्रह्म सबका अधिष्ठान है।

वस्तुतः ब्रह्मलक्षण वाक्यों द्वारा निषेधात्मक दृष्टि से ब्रह्मेतर की व्यावृत्ति ही प्रधान लक्ष्य है। अतः एक अद्वितीय ब्रह्म के अतिरिक्त आध्यारोपित प्रपंच की सत्ता नहीं है। जो कुछ भी है एक ब्रह्म ही है। सत्यादि पदों द्वारा अखण्डार्थ में एक ब्रह्म के प्रतिपादन करने में तात्पर्य इतना ही है कि उन पदों द्वारा अभिप्रेत अर्थ ब्रह्म को कहीं स्पर्श न कर जाय। ब्रह्म में गुणतः भी द्वितीय भाव की शंका हमें न हो, तदर्थ अखण्डार्थ की स्वीकृति है। इसीलिए तात्पर्यतः वेदांत वाक्य ब्रह्म का बोधन कराते हैं। ब्रह्म बोधक जितने प्रमाण एवं वाक्य हैं वे सब ज्ञातृनिष्ठ अज्ञान आवरण की निवृत्तिमात्र के लिए हैं। ब्रह्म तो स्वयं प्रकाश है, उसके प्रकाश के लिए किसी की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि अद्वैत वेदान्ती ब्रह्म में वास्तविक अर्थ में वृत्तिविषयता भी नहीं मानते, जो भी वृत्ति का विषय होगा, वह मिथ्या होगा। वेदान्त वाक्यों की अखण्डार्थता का प्रतिपादन इसलिए किया जाता है कि निषेधात्मक दृष्टि से ब्रह्म में धर्मों का निषेध करने पर भी कथन तो ब्रह्म का ही होता है। इसीलिए पारमार्थिक दृष्टि से देखने पर विधि-निषेध आदि किसी भी प्रकार से ब्रह्म को कथन का विषय नहीं बना सकते। फिर भी व्यवहारार्थ प्रतिपादन तो करना ही पड़ता है। इसीलिए कल्पतरुकार के अनुसार जब ब्रह्म का साक्षात्कार होता है तो ब्रह्म की साक्षात्कारात्मक वृत्ति की निवृत्ति के लिए भी एक ज्ञान की आवश्यकता होती है। उसके लिए फिर एक ज्ञान की आवश्यकता होती है। इसीलिए अनवस्था भय से साक्षात्कार वृत्ति साक्षात्कार अनंतर स्वयं ही शांत हो जाती है, माना जाता है।[4] जैसे ईंधन को

---

1. सत्यादि वाक्यं विशिष्टार्थपरत्वरहितं लक्षणवाक्यत्वात् प्रकृष्ठप्रकाशादिवाक्यवत्। वेदान्त कल्पतरु, पृ० 95
2. भामती, पृ० 57 कल्पतरु परिमल भी।
3. लघुचन्द्रिका, पृ० 665-674
4. निरुपाधिब्रह्मेति विषयीकुर्वाणवृत्तिः स्वस्वेतरोपाधिनिवृत्तिहेतुरुदयते, स्वस्य अप्युपाधित्वाविशेषात्। वेदान्त कल्पतरु, पृ० 57

जलाने के पश्चात् अग्नि स्वयं ही शान्त हो जाती है, उसी प्रकार साक्षात्कार वृत्ति भी अन्त में शान्त हो जाती है। वस्तुतः अद्वैत मतानुसार अखण्डार्थ में ज्ञान, ज्ञेय, ज्ञातृ, प्रतिपादक, प्रतिपाद्य, विशेषण-विशेष्य लक्षण-लक्ष्य आदि भाव नहीं रह जाते। एक निर्विशेष ब्रह्म में सबका पर्यवसान हो जाता है। इसीलिए अद्वैत वेदान्ती ब्रह्म में स्वगतः—स्वजातीय-विजातीय भेद नहीं मानते। ब्रह्म इन भेदों से रहित एकमेवाद्वितीय है। जैसे एक वृक्ष को उदाहरणार्थ लिया जाये तो वृक्ष के पत्र-पुष्प आदि भेद को स्वगत भेद समझना चाहिए, क्योंकि वह वृक्षों के अंगों का भेद है वस्तुतः वृक्ष एक है, फिर भी उसके अंग नाना हैं। वृक्षों का अन्य वृक्षों से भेद स्वजातीय भेद है अर्थात् आम के वृक्ष से इमली के वृक्ष का भेद स्वजातीय भेद है, क्योंकि वृक्ष होने के कारण दोनों सजातीय हैं। शिलादि से वृक्ष का भेद विजातीय भेद है, क्योंकि शिलादि भिन्न-जातीय पदार्थ हैं।[1] ब्रह्म में अद्वैत वेदान्त के अनुसार उक्त तीनों भेद नहीं हैं जबकि वैष्णव-दार्शनिकगण ब्रह्म में स्वगत भेद स्वीकार करते हैं। अद्वैत वेदान्ती ब्रह्म में स्वगत भेद भी नहीं मानते। अर्थात् गुणगत भेद भी ब्रह्म में नहीं है।[2]

'सत्यं ज्ञानं, अनन्तं, ब्रह्म' आदि वाक्यों को ब्रह्म का स्वरूपलक्षण कहा गया है। क्या वस्तुतः ब्रह्म का स्वरूप लक्षण सम्भव है? स्वरूप मात्र बोधक को स्वरूपलक्षण कहते हैं, जो कि यावत्द्रव्यभावी होता है। द्रव्य और द्रव्य के स्वरूप में कोई अन्तर नहीं है। क्या उस स्वरूप को उस वस्तु को, उस वस्तु का लक्षण बनाया जा सकता है? स्वरूप लक्षण में उक्त सत्यादि को स्वरूपमात्र मानने पर वे लक्षण नहीं हो सकते, क्योंकि लक्ष्य-लक्षण-भाव स्वरूप में नहीं होता। अतः औपचारिक लक्ष्य-लक्षण मानना पड़ेगा। औपचारिक लक्ष्य-लक्षण-भाव स्वरूप में यावत् द्रव्यभावी नहीं हो सकता। इसीलिए प्रस्तावित स्वरूप लक्षण में सत्यादियों को ब्रह्म में आरोपित मानना होगा। आरोपित मानकर ही लक्षण के लिए उनका प्रयोग सम्भव है। जब तक आरोपित मानकर के लक्ष्य से लक्षण को पृथक् नहीं करेंगे तब तक लक्षण का प्रयोग सम्भव नहीं है। पृथक् मानने का अर्थ सत्यादि आरोपित धर्म हुए, आरोपित धर्म ब्रह्मस्वरूप में यावत् द्रव्यभावी नहीं होते, इसीलिए सत्यादि को अयावत् द्रव्यभावी मानना होगा। इस प्रकार सत्यादि लक्ष्यैक देश में रहने के कारण ब्रह्म का स्वरूप लक्षण न होकरके तटस्थ लक्षण हो जाते हैं। लक्ष्यैक देश में होने के कारण बाद में आरोपित सत्यादि धर्मों का बाध भी हो जाता है। उपर्युक्त अर्थ में ब्रह्म का मात्र तटस्थ लक्षण ही बन सकता है, स्वरूप लक्षण नहीं। तात्पर्य इतना है कि स्वरूपमात्र लक्षण नहीं बन सकता, स्वरूप से हट करके आरोपित धर्म मानने पर वह तटस्थलक्षण हो जाता है।

ब्रह्म का तटस्थ लक्षण—अद्वैत वेदान्त में ब्रह्म को जगत्-जन्मादि का कारण

---

1. वृक्षस्य स्वगतो भेदः पत्र पुष्प फलादिभिः।
   वृक्षान्तरात् सजातीयो विजातीयः शिलादितः॥
   पंचदशी, पृ० 49। विद्यारण्य, वाराणसी।
2. शंकरोत्तर अद्वैत वेदान्त में मिथ्यात्व निरूपण, पृ० 126। डॉ० अभेदानन्द।

मानकर तटस्थ लक्षण द्वारा उसका प्रतिपादन किया जाता है। लक्षण की परिभाषा आचार्य धर्मराजाध्वरीन्द्र ने वेदान्त परिभाषा में दी है। 'जो सम्पूर्ण लक्ष्य में स्थित न होता हुआ भी व्यावर्तक होता है, अर्थात् लक्ष्य के एक देश में होता है, साथ में इतर व्यावर्तक भी होता है, वही तटस्थ लक्षण है'।[1]—जैसे गन्धत्व पृथ्वी का लक्षण है। महाप्रलय में परमाणुओं में तथा उत्पत्तिकाल में घटादि में गन्ध नहीं रहती, फिर भी गन्धत्व को नैयायिक पृथ्वी का लक्षण मानते हैं।[2] वादरायण ने 'जन्माद्यस्ययत' (ब्र० सू० 1।1।2) सूत्र द्वारा ब्रह्म का तटस्थलक्षण प्रस्तुत किया है। भाष्यकारों के अनुसार 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' इत्यादि वेदान्त वाक्यों का अनुसरण करते हुए सूत्रकार ने उक्त लक्षण ब्रह्म का प्रस्तुत किया है। ब्रह्म में जगत् जन्मादिकारणत्व यावत्द्रव्यभावी नहीं है। लक्ष्यैक देश में कहीं पर आरोपितरूप से जगत्कारणत्व है। इसलिए तटस्थतया ब्रह्म का प्रतिपादन अधिक संगत है। तटस्थ लक्षण में जिन धर्मों को मानकर तटस्थ लक्षण का विधान किया जाता है, उन धर्मों की स्थिति वस्तु में कदाचित् एवं कथंचित होती है। जैसे देवदत्त के गृह को खोजता हुआ कोई व्यक्ति आता है एवं पूछे जाने पर कोई देवदत्त को बतलाता है कि वह देवदत्त का घर है जिसके सामने गौ खड़ी है। देवदत्त के गृह के लिए गौ की पहिचान अनिवार्य नहीं है, गौ गृह के सामने सदा सर्वदा रहेगी, यह बात निश्चित नहीं है। फिर भी वह व्यक्ति देवदत्त के घर को जान जाता है अर्थात् गौ की पहिचान से वह देवदत्त के घर को पहचान लेता है। इस प्रकार गौ के साथ देवदत्त के गृह का अनिवार्य संसर्ग न होते हुए भी गौ उस मोहल्ले के इतर गृहों का व्यावर्तक होती है। साथ में गौ देवदत्त के गृह का ही बोधक होती है। इसे तटस्थ लक्षण समझना चाहिए। विद्यारण्यमुनि ने अपने ग्रन्थ विवरणप्रमेयसंग्रह में ब्रह्म के लक्षण के विषय में पूर्वपक्षियों के द्वारा उत्थापित आक्षेपों का प्रत्याख्यान करते हुए कहा है कि जन्मादि को मानकर ब्रह्म का तटस्थ लक्षण सम्भव है, 'काकाधिकरणत्ववदुपपत्तेः'[3] अर्थात् काक आदि को चिन्ह मान कर जिस प्रकार गृह का पहिचान हो जाता है, उसी प्रकार जन्मादि को मानकर ब्रह्म का लक्षण हो जायेगा। काक अधिकरणत्व लक्षण में काक अधिकरणत्व गृह के अन्तर्भूत नहीं होता, क्योंकि गृह के अन्तर्भूत मान लेने पर काक के उड़ जाने से गृह का एक भाग नष्ट हुआ है, ऐसी वृत्ति हो जायेगी, इसलिए काक अधिकरणत्व गृह के लिए औपाधिक मात्र है।[4] लक्ष्य का अंग नहीं है। केवल लक्षण के ही अन्तर्गत है। काक मात्र उपलक्षण होकर के ही गृह का लक्षण

---

1. वेदान्त परिभाषा, पृ० 159
2. न्याय के अनुसार, 'उत्पन्नं द्रव्यं क्षणं निर्गुणं निष्क्रियं च तिष्ठति' इसी कारण उत्पत्ति क्षण के घट में गन्धवत्व पृथ्वी का लक्षण घटित नहीं होता, फिर भी जाति घटित लक्षण मानकर गन्धत्व को पृथ्वी का लक्षण माना जाता है।
3. विवरण प्रमेय संग्रह, पृ० 646। विद्यारण्यमुनि, अच्युत ग्रंथमाला कार्यालय, काशी, संवत् 1996
4. काकाधिकरणत्वं हि न···अतो गृहस्याऽधिकरणत्वं नामौपाधिको धर्म—इत्यादि, वही पंचपादिका विवरण, पृ० 625, मद्रास।

होता है। इसी प्रकार जन्मादि ब्रह्म के उपलक्षण हैं और जन्मादि धर्म ब्रह्म के औपाधिक धर्म हैं। वे धर्म लक्षण के अन्तर्गत हैं, न कि लक्ष्य के अन्तर्गत। जन्मादि धर्मों से ब्रह्म का संसर्ग नहीं है, इसलिए ब्रह्म में जन्मादिकारणत्व का अन्तर्भाव नहीं होता। साथ में जगत् प्रपंच की कारणता ब्रह्म की है, सिद्ध होता है। आचार्य अप्पय दीक्षित ने 'कल्पतरु परिमल' में तटस्थ का लक्षण करते हुए कहा है कि लक्षण को सकल इतर का व्यावर्तक होना चाहिए, साथ में लक्ष्य-बोधन में समर्थ भी होना चाहिए। जगत् जन्मादि कारणत्व जो ब्रह्म का लक्षण है वह 'शाखाग्रेचन्द्रः' के समान पटस्थलक्षण है। 'शाखाग्रेचन्द्रः' वाक्य चन्द्र को अन्य तारों से व्यावृत्त करता है। इसमें इतर व्यावर्तकत्व है। साथ में चन्द्र का बोध भी हो जाता है।[1] इसीलिए इसे तटस्थ लक्षण का उदाहरण समझना चाहिए। तटस्थ लक्षण के अन्तर्गत समस्त अध्यारोपित कारणता 'जगत्कर्तृत्व' जीवेश्वर विभागादि आते हैं। वे सब जितने भी विभाजन हैं ब्रह्म में तटस्थतया ही हैं।

ब्रह्म की जगत्कारणता—अद्वैत आचार्यों ने ब्रह्म को जगत् कारण कहा है। ब्रह्म में जगत् कारणता तटस्थतया ही क्यों न हो, पर ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य कोई जगत् कारण नहीं है। यही अद्वैताचार्यों का मत है। ब्रह्म में आरोपित जगत्प्रपंच का निषेध है। यदि आरोपित जगत् प्रपंच किसी अर्थ में है तो ब्रह्म में ही स्थित है। यही अद्वैत सिद्धान्त है। अतः प्रश्न यह उठता है कि अद्वैत वेदान्ती ब्रह्म को किस रूप में जगत् कारण मानते हैं? मुख्यतः घटोत्पत्ति के लिए उपादान एवं निमित्त दोनों की आवश्यकता होती है। मिट्टी घट का उपादान है, कुम्हार निमित्त कारण है। जगत्प्रपंच कार्य के लिए ब्रह्म उपादान कारण है या निमित्त कारण अथवा दोनों है? दोनों कारणों में से एक कारण मानने पर ब्रह्म की व्यापकता नष्ट हो जायेगी। और ब्रह्म को दोनों कारण मानने के लिए कोई प्रमाण नहीं मिलता। इस प्रकार पूर्वपक्षी आक्षेप उठाते हैं।[2] इसके उत्तर में विद्यारण्य मुनि ने कहा है कि ब्रह्म उपादान एवं निमित्त दोनों ही कारण है। सूत्र में 'यतः' शब्द से यही अभिप्रेत है[3] ब्रह्म निमित्त कारण है। इसके लिए 'यतोवा' आदि श्रुति प्रमाण हैं ही। ब्रह्म जगत् का उपादान कारण है उसमें 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम् इदं सर्वं यदयमात्मा,[4] आत्मैवेदं सर्वम्'[5] इत्यादि श्रुतियाँ प्रमाण हैं, क्योंकि अद्वैत वेदान्त में ब्रह्म अतिरिक्त वस्तु स्वीकृत नहीं है, इसीलिए अन्तिम कारणता ब्रह्म में ही जाती है। सर्वज्ञात्म मुनि के अनुसार एकमात्र परब्रह्म ही जगत्-योनि है। उनके अनुसार शुद्ध ब्रह्म ही जगत् का उपादान

1. सकलेतरव्यावृत्य लक्ष्य-बोधन समर्थं इह लक्षणं—शाखाग्रेचन्द्रः इतिवत् तटस्थ-लक्षणम्। कल्पतरु परिमल, पृ० 84 निर्णय सागर, 1938
2. ब्रह्मण्यंगीक्रियमाणं कारणत्वं कीदृशम्? किं निमित्तत्वमेव? उतोपादानत्वमेव, अथोभयम्? न तावत् प्रथमद्वितीयौ ··· प्रमाणाभावात् विवरणप्रमेयसंग्रह, पृ० 647
3. सूत्रगतया 'यतः' इतिपंचम्या द्विविध कारणत्वस्य विवक्षितत्वात्। विवरणप्रमेय संग्रह, पृ० 648
4. छान्दोग्य 6।8।7
5. बृहदारण्यक उपनिषद् 2।4।6

कारण है। चूंकि कूटस्थ ब्रह्म स्वरूपतः जगत् का कारण नहीं बन सकता, इसलिए माया को अद्वैत वेदान्तियों ने द्वारकारण माना है। माया के बिना ब्रह्म में जीव-जगत् का विवर्तन सम्भव नहीं है। अप्पय दीक्षित ने संक्षेपशारीरककार सर्वज्ञात्ममुनि के मत को उद्धृत करते हुए सिद्धान्तलेशसंग्रह में कहा है 'केचित आहुःशुद्धमेवोपादानम्'।[1] विवरणकार के अनुसार शुद्ध ब्रह्म जगत् का उपादान नहीं हो सकता अर्थात् परिणामी उपादान कारण ब्रह्म नहीं बन सकता। ब्रह्म को विवर्तकारण अर्थात् विवर्त कार्य का अधिष्ठान कहा जा सकता है। परिणाम को दृष्टि में रखते हुए माया को ही कारण कहना होगा। अप्पय दीक्षित ने विवरणकार के मत को प्रस्तुत करते हुए लिखा है कि 'सर्वज्ञत्वादि विशिष्टं माया शबलमीश्वर रूपमेव उपादानम्'।[2] अर्थात् सर्वज्ञत्वादि विशिष्ट माया रूप उपाधि से विशिष्ट ब्रह्म ही जगत् का उपादान है। परन्तु परिणामी उपादान के लिए माया को ही ब्रह्माश्रित रूप से कारण मानना होगा, क्योंकि जगत् परिणाम का आरोप ब्रह्म में सीधा नहीं माना जा सकता। अथवा संक्षेपशारीरककार के समान बीच में माया को माध्यम रखना होगा। इसीलिए वाचस्पति मिश्र ने माया को सहकारी कारण कहा है। ब्रह्मसूत्रभाष्यभामती के मंगल श्लोक में वाचस्पति मिश्र ने कहा है "अनिर्वाच्याविद्याद्वितयसचिवस्यप्रभवतो-विवर्तायस्यैतेवियदनिल तेजोऽबवनयः।"[3] आचार्य शंकर के अनुसार माया शक्तिमान् ब्रह्म जगत् का कारण है। माया जगत् का उपादान है। उस उपादान का आश्रय ब्रह्म है, इसीलिए उपादान कारण है। सुरेश्वर आचार्य ने आचार्य शकर का अनुसरण करते हुए बृहदारण्यक भाष्यवार्तिक में अज्ञान को उपादान कारण तथा उस अज्ञान को आश्रित करके ब्रह्म को जगत् कारण कहा है।[4] माया का स्वरूप अनिर्वचनीय है। इसीलिए शुद्ध ब्रह्म में आश्रित होने पर भी वह शुद्ध ब्रह्म को स्पर्श नहीं करती। इस प्रकार से ब्रह्म को ही निमित्त एवं उपादान दोनों ही कहा जा सकता है।[5] जिन आचार्यों ने शुद्ध ब्रह्म को उपादान नहीं माना, उनका तात्पर्य इतने से ही है कि अधिष्ठानता शुद्ध ब्रह्म की होने पर भी वह उपादानत्व कुक्षि में प्रवेश नहीं करता। वह अस्पृष्ट ही रहता है। इसी दृष्टि से शुद्ध ब्रह्म की निमित्त एवं उपादान कारणता का भी निषेध किया जा सकता है, साथ में माया को माध्यम मानकर दोनों करणताओं का आरोप उसमें किया भी जा सकता है। इसीलिए पदार्थतत्वनिर्णयकार ने ब्रह्म और माया दोनों को ही जगत् उपादान कहा है।[6] ब्रह्म को शुद्ध बतलाने के लिए सिद्धान्तमुक्तावलीकार प्रकाशानन्द सरस्वती ने माया शक्ति को

---

1. छान्दोग्य 7-2-12
2. सिद्धान्त लेश संग्रह, पृ० 62
3. सिद्धान्त लेश संग्रह, पृ० 63
4. भामती, मंगल श्लोक, पृ० 1
5. बृहदारण्यक भाष्य वार्तिक 1।4।371
6. सिद्धान्तलेशसंग्रह, पृ० 74

ही उपादान कारण कहा है, ब्रह्म को नहीं।[1]

इस प्रकार ब्रह्म की कारणता के विषय में मतभेद-सा दीखता है, परन्तु बात एक ही है, अद्वैत वेदान्त के सामने एक ही समस्या है—ब्रह्म को कार्यकारणभाव से परे रखकर किसी द्वितीय की स्वीकृति के बिना आरोपित प्रपंच की व्याख्या प्रस्तुत करना। इसी समस्या के समाधान में भिन्न-भिन्न युक्तियों से अद्वैताचार्यों ने कारणता की व्याख्या की है। माया के माध्यम से कारणता कहने का अर्थ है ब्रह्म को निर्विशेष सिद्ध करना। साथ में माया का भी वास्तविक अर्थ में निषेध करना है।

परिणाम और विवर्तवाद—ब्रह्म की कारणता के प्रसंग में यह भी बात समझ लेनी चाहिए कि अद्वैतवादी जगत्-प्रपंच को ब्रह्म का विवर्त मानते हैं, साथ में माया का परिणाम मानते हैं। धर्मराजाध्वरीन्द्र ने 'उपादान समसत्ताक कार्यापत्ति' को विवर्त कहा है।[2] अधय दीक्षित ने उपादान कारण का समान धर्मि अन्यथाभाव को परिणाम उससे विलक्षण अन्यथा भाव को विवर्त कहा है।[3] सीधे अर्थ में विलक्षण भाव को विवर्त कहा जा सकता है। कारण गुणों को लेते हुए परिवर्तन को परिणाम कहा जा सकता है। रज्जुसर्प भ्रमस्थल में सर्प रज्जुगत अज्ञान का परिणाम है तथा रज्जु का विवर्त है। दूध जिस प्रकार दधि में परिणित हो जाता है, उसे परिणाम कहते हैं। परन्तु विभ्रम स्थल की वस्तु को विवर्त ही कहा जायेगा।

पूर्वोक्त अर्थों में सम्पूर्ण कार्य जगत् ब्रह्म का विवर्त है, क्योंकि ब्रह्म ही कार्य जगत् का अधिष्ठान है। ब्रह्म कारण के अतिरिक्त कार्य जगत् का अस्तित्व नहीं है।[4] इसी प्रकार रत्नप्रभाकार तथा न्यायनिर्णयकार ने भी अपनी टीकाओं में कार्य जगत् को कारण-अनन्य कहा है।[5] माया की दृष्टि से जगत् परिणाम है, इसलिए अद्वैत वेदान्त में इस प्रकार परिणाम एवं विवर्त दोनों वाद स्वीकृत हुए। माया की दृष्टि से परिणामवाद स्वीकृत हुआ तथा ब्रह्म की दृष्टि से विवर्तवाद। वैष्णव दार्शनिकगण ब्रह्म परिणामवाद स्वीकार करते हैं तथा सांख्य दर्शन प्रकृति परिणामवाद को स्वीकार करता है। इन दृष्टिकोणों का खण्डन अद्वैताचार्यगण ब्रह्मसूत्र-भाष्य-टीकाओं में करते हैं, क्योंकि उनको ब्रह्म परिणामवाद स्वीकार नहीं है। इसी प्रकार न्याय दर्शन का मात्र निमित्त-कारणवाद भी अद्वैत वेदान्त को

---

1. सिद्धान्तमुक्तावली कृतस्तु-मायाशक्तिरेवोपादानं न ब्रह्म 'तदेतद् ब्रह्मापूर्वमनपरम-बाह्यम्' 'नतस्यकार्यं कारणं च विद्यते' इत्यादि श्रुतेः। सिद्धान्त लेश संग्रह, पृ० 80
2. वेदान्त परिभाषा पृ० 58, पंचपादिका विवरण में भी—सतत्त्वतो अन्यथाभावः परिणामः कहा है। पृ० 635 मद्रास
3. कारणसलक्षणो अन्यथाभावः परिणामः, तद्विलक्षणो विवर्त इति वा, कारणभिन्न कार्यं परिणामः तदेभेदं विनैव तदव्यतिरेकेन दुर्वचं कार्यं विवर्तः। सिद्धान्त लेश संग्रह, पृ० 58-60
4. तथा च सर्वविकार जातं तस्मादवस्तु सत्। शांकर भाष्य, भामती तथा कल्पतरु परिमल भी, पृ० 455
5. रत्नप्रभा-न्याय-निर्णय, सूत्र 2।1।13, पृ० 372-374

स्वीकार नहीं। न्याय दार्शनिक परमाणुओं को उपादान तथा ईश्वर को निमित्त कारण मानते हैं। इस प्रकार के द्वैतवाद के अद्वैत वेदान्ती घोर विरोधी हैं।

ब्रह्म का ईश्वरभाव:—अद्वैत वेदान्त में जब माया को उपादान कह दिया जाता है, तब ईश्वर को निमित्त कारण कह दिया जाता है। वस्तुत: ब्रह्म का ईश्वर भाव भी मिथ्या ही है। 'मायिनं तु महेश्वरम्' इस उक्ति के अनुसार ईश्वर की उपाधि माया है। विशुद्ध चेतन मायोपाधि से उपहित होकर ईश्वर कहलाता है।[1] माया में प्रतिबिम्बित चैतन्य ही ईश्वर है। ईश्वर माया को अपने वश में करके स्थित होता है, इसलिए वह सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान है। अप्पय दीक्षित ने सिद्धान्त-लेश-संग्रह में प्रकटार्थ विवरण के मतानुसार माया में चित् प्रतिबिम्ब को ही ईश्वर कहा है।[2] संक्षेपशारीरक कार के मत को उद्धृत करते हुए वे कहते हैं कि 'कार्योपाधिरयं जीव:, कारणोपाधि. ईश्वर:'[3] वस्तुत: विशुद्ध चेतन महाकाश के समान एक है। घटादि से जिस प्रकार महाकाश सीमित हुआ-सा लगता है, उसी प्रकार अविद्यादि उपाधि से विशुद्ध चेतन भी सीमित हुआ-सा लगता है। यह ईश्वर सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् और जगत् का निमित्त कारण है। यही ईश्वर भक्तों द्वारा उपास्य भी है।[4] इसी ईश्वर के विषय में गीता में कहा गया है, "ईश्वर: सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुनतिष्ठति। भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया।"[5] यही ईश्वर सम्पूर्ण जगत् का शासक है। परन्तु अद्वैत वेदान्त का ईश्वर न्याय का ईश्वर नहीं है, न्याय दर्शन का ईश्वर निमित्त कारणमात्र है। उपादान कारण अन्तिम रूप से परमाणु है। अद्वैत वेदान्त में व्यावहारिक रूप से स्वीकृत उपादान कारण माया तथा निमित्त कारण ईश्वर—दोनों ही अन्तिम सत्य नहीं हैं। ईश्वर का ईश्वरत्व मिथ्या है, किन्तु विशुद्ध चैतन्य के रूप में ईश्वर परम सत्य है। माया उपाधि को हटा देने पर चेतनांश में ईश्वर शुद्ध चित् ही तो रह जाता है। इसलिए शुद्ध चित् की दृष्टि से ईश्वर परम सत् है और माया की दृष्टि से वह प्रतीयमान सत् है। ईश्वर सर्वज्ञ इसलिए है क्योंकि वह माया का वशीभूत नहीं है। जीव अविद्या का वशीभूत होता है, इसलिए अल्पज्ञत्व आदि से विशिष्ट होता है। ईश्वर माया को शक्ति के रूप में उपयोग में लाता है। जिस प्रकार घटाकाश अपने आप में शुद्ध रहता है, उसी प्रकार मायोपहित चेतन भी अपने आप में शुद्ध रहता है। ईश्वर भोक्ता नहीं, द्रष्टा है 'द्वासुपूर्णा' इत्यादि श्रुति द्वारा ईश्वर का द्रष्टृत्व सिद्ध है। चेतन का ईश्वर-भावत्व अर्थात् शुद्ध ब्रह्म का ईश्वरभावत्व, उसका तटस्थ लक्षण भी है, क्योंकि यावत् ब्रह्म में ईश्वरत्व की कल्पना नहीं की जाती। न्यायदार्शनिक ईश्वरसिद्धि में अनुमान प्रमाण प्रस्तुत करते हैं अद्वैत वेदान्ती श्रुति प्रमाण को प्रधान प्रमाण मानते हुए अनुमान प्रमाण भी स्वीकार करते हैं। ईश्वरसिद्धि में अकेले अनुमान प्रमाण पर्याप्त नहीं हैं। आचार्य

---

1. मायोपाधेरद्वयस्येश्वरत्वम्। संक्षेप शारीरक 3।148
2. सिद्धान्तलेश संग्रह, पृ० 82
3. वही, पृ० 85
4. ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य, पृ० 82
5. गीता 18।61

शंकर ईश्वर की सत्ता के विषय में प्रस्तुत किये जाने वाले सभी प्रमाणों पर विचार करते हुए उनकी निष्फलता को दर्शाते हैं।[1] वैष्णव दार्शनिकगण ब्रह्म के जिस सगुण रूप को स्वीकार करते हैं, वह ईश्वर के रूप में अद्वैत वेदान्त में भी स्वीकृत है। इसीलिए इस दृष्टि से सगुण ब्रह्मवादियों के साथ अद्वैत वेदान्त का कोई विरोध नहीं है, किन्तु ब्रह्म के निर्विशेष रूप के विषय में वैष्णव वेदान्ती आपत्ति उठाते हैं। अद्वैत वेदान्त के अनुसार भी ईश्वर जीवकर्मसापेक्ष होकर ही सृष्टि का निर्माण करता है। ऐसा न करने पर ईश्वर के ऊपर वैषम्य और कठोरता का दोष दिया जा सकता है।[2] इसलिए जगत् की विषमता के लिए प्राणी स्वयं अपने कर्मों के कारण उत्तरदायी हैं, न कि ईश्वर। गीता में कहा है कि ईश्वर न किसी से पाप लेता है और न किसी से पुण्य लेता है। अज्ञान के कारण जीव का ज्ञान ढका हुआ रहता है तथा कर्म के रहस्य को नहीं समझता।[3] वैष्णव दार्शनिकगण जिस प्रकार ईश्वर को भक्तवत्सल तथा भक्त द्वारा उपास्य मानते हैं, उसी प्रकार अद्वैत वेदान्ती भी ईश्वर को भक्तवत्सल मानते हैं।

साक्षीस्वरूपविवेचन—सभी शरीरों में जीव से भिन्न रूप में उदासीन साक्षी चैतन्य होता है। जीव अन्तःकरणविशिष्ट होता है। अज्ञान से विशिष्ट होने के कारण वह प्रकाशक नहीं हो पाता। इसीलिए सूक्ष्म एवं स्थूल देहद्वयों का अधिष्ठानभूत कूटस्थ चैतन्य के रूप में साक्षी चेतन माना गया है। साक्षी का अर्थ द्रष्टा मात्र है। 'साक्षात् द्रष्टरि संज्ञायाम्' इस परिभाषा के अनुसार जो द्रष्टा होता हुआ भी उदासीन होता है, वह साक्षी है। लोक में भी उदासीन द्रष्टा को साक्षी कहते हैं।[4] यह कूटस्थ चैतन्य साक्षी जीव कोटि में भी नहीं है और न ईश्वर कोटि में है। यह उदासीन एवं प्रकाशक है। विशुद्ध चैतन्य ही जीव के साथ अभिन्न रूप से दोनों शरीरों का अधिष्ठान बनकर साक्षी कहलाता है। जीव भोक्ता होता है, इसीलिए विकारों से सुखी-दुखी होता है। किन्तु साक्षी भोक्ता नहीं होता द्रष्टामात्र होता है। यद्यपि जीव और साक्षी का भेद ज्ञात नहीं रहता, फिर भी साक्षी बिम्ब रूप है, जीव प्रतिबिम्ब रूप। अध्यास के कारण दोनों एक से लगते हैं। रंगमंच का प्रदीप जिस प्रकार सभी को प्रकाशित करता है, पर किसी भी अभिनेता के अभिनय से प्रभावित नहीं होता, उसी प्रकार साक्षी सब कुछ देखता हुआ भी जीवगत सुख-दुःखों से प्रभावित नहीं होता।[5] यह स्वयंज्योति स्वयंप्रकाश है। सुषुप्तिकाल में भी साक्षी जाग्रत रहता है। इसी कारण जाग्रत काल में सुषुप्ति का भी स्मरण हो आता है—कि 'मैं कुछ नहीं जानता था'। आचार्य चित्सुख के अनुसार जीवत्व, ईश्वरत्व आदि धर्मों से रहित उन-उन जीवों से तादात्म्य होकर प्रत्येक शरीर में भेद को प्राप्त होकर शुद्ध चेतन ही साक्षी रूप में प्रतीत होता है। वह ईश्वर कोटि में इसलिए नहीं आता, क्योंकि ईश्वर जगत्

1. Indian philosophy Vol II, page 542 Dr. Radhakrishnan.
2. ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य 2।1।34
3. गीता 5।15
4. सिद्धान्त लेश संग्रह, पृ० 180
5. पंचदशी, नाटक दीप प्रकरण 10-11

की सृष्टि करता है इसीलिए वह उदासीन नहीं होता।[1] कौमुदीकार एवं तत्वशुद्धिकार ने भी उदासीनस्वरूप साक्षी को माना है।[2] वस्तुतः अद्वैत वेदान्ती अनावृत साक्षी को जीव के द्रष्टा के रूप में मानते हैं। जीव अविद्या से ग्रसित होने के कारण स्थूल-सूक्ष्म शरीरों का द्रष्टा नहीं हो पाता। साक्षी के रूप में विशुद्ध चेतन ही जीव के साथ अभिन्न रूप से दोनों शरीरों का प्रकाशक होता है। यह जीव और शुद्ध चैतन्य में मध्यस्थता करता है। प्रत्येक शरीर में साक्षी एक होता हुआ भी भिन्न-भिन्न सा लगता है।

वस्तुतः ब्रह्म एक ही है। वह विशुद्ध एवं निर्विशेष है। इसी कारण मुमुक्षु के लिए जगत् की व्याख्या प्रस्तुत करने हेतु उसे ब्रह्म, ईश्वर, साक्षी, जीव आदि नाना रूपों में बतलाया जाता है। इन सभी रूपों में अविद्यांश मिथ्या है तथा चेतनांश शुद्ध ब्रह्म है। वस्तुतः ब्रह्म में अंश नहीं होता, फिर भी समझने के लिए तथा समझाने के लिए ऐसी भाषा का प्रयोग किए बिना उपाय नहीं है। पंचदशी में विद्यारण्यमुनि ने नित्य शुद्ध चैतन्य को अविद्या उपाधि भेद से ब्रह्मचैतन्य, कूटस्थ चैतन्य, ईश्वर चैतन्य एवं जीव चैतन्य-चतुर्विध रूप से वर्णित किया है।[3] संक्षेप शारीरककार के अनुसार जीव, ईश्वर और ब्रह्म—ये तीन विभाजन शुद्ध चेतन के हैं। विद्यारण्य मुनि कूटस्थ साक्षी चेतन को छोड़कर चार रूपों में चैतन्य का विश्लेषण करते हैं। एक ही महाकाश जिस प्रकार उपाधि भेद से घट के अन्दर सीमित होकर घटाकाश, घट मध्य में स्थित जल में प्रतिबिम्बित होकर जलाकाश, आकाश में मेघों में प्रतिबिम्बित होकर मेघाकाश एवं अनन्त, अपरिच्छिन्न नीलाकाश महाकाश के रूप में दिखाई देता है, उसी प्रकार स्थूल-सूक्ष्म दोनों देहों का अधिष्ठान कूटस्थ चैतन्य साक्षी है। अपरिच्छिन्न चैतन्य ब्रह्म है। अन्तःकरण में प्रतिबिम्बित चैतन्य जीव है तथा ब्रह्माश्रित अनादि माया में प्रतिबिम्बित चैतन्य ईश्वर है। अज्ञान के कारण साक्षी चैतन्य की दृष्टि से ओझल रहता है। सदानन्द ने वेदान्त सार में शुद्ध चैतन्य के चार विभाग करके बतलाया है कि जो अनुपहित चैतन्य है, वह तुरीय चैतन्य है। उसी को शिवं, अद्वैतं चतुर्थम् कहा है। विशुद्ध सत्व प्रधान माया को उपहित करके ईश्वर होता है, जो कि सर्वज्ञ है।[4] सूक्ष्म-शरीर का आधारभूत समष्टि अज्ञान में उपहित चैतन्य सूत्रात्मा या हिरण्यगर्भ है तथा जाग्रत् अभिमानी चैतन्य वैश्वानर या विराट् है।[5] इस प्रकार चार विभाजन होने पर भी चारों में एक ही शुद्ध चैतन्य की अनुवृत्ति है, इसीलिए वही अविद्या के माध्यम से एकमात्र अधिष्ठान है। वस्तुतः अध्यारोप की व्याख्या करने के लिए शुद्ध ब्रह्म की ये श्रेणियाँ या विभाजन दिखलाया गया है। इन अध्यारोपों से शुद्ध ब्रह्म में किसी प्रकार प्रभाव नहीं पड़ता, वह तो अस्पृष्ट रहता है, क्योंकि आत्म-अनात्मा आदि भाव, ग्राह्य-ग्राहक आदि भाव भी आत्मा में कल्पित हैं। आत्मा इनसे विवर्जित है। परमार्थतः आत्मा

1. सिद्धान्त लेश संग्रह, पृ० 184
2. वही, पृ० 184 एवं 186
3. पंचदशी 6।18
4. वेदान्तसार, पृ० 23
5. वही, पृ० 16

का न निरोध है न उत्पत्ति है नहीं जीवभाव है, वह तो एक शाश्वतरूप है।[1]

अद्वैत वेदान्त के अनुसार निर्गुण ब्रह्मवाद में सम्पूर्ण विरोधों का अवसान हो जाता है। निर्गुण ब्रह्म सत्यस्य सत्यम् है। सत्य का रूपान्तर नहीं होता। अद्वैत के अनुसार जिसका रूपान्तर होता है वह सत्य नहीं है, वह मिथ्या है। आत्मा या ब्रह्म के विषय में नाना मतों को देखते हुए ऐसा लगता है कि वास्तविक बात कुछ और ही है। उपनिषदों में अन्न को ब्रह्म कहा गया है। कहीं पर प्राण को, मन को, विज्ञान को भी आत्मा कहा गया है। अद्वैत वेदान्त के अनुसार क्रमशः निर्गुण ब्रह्म का प्रतिपादन करने के लिए अन्न आदि को भी आत्मा या ब्रह्म कहा गया है। तात्पर्यनिर्णय करने पर समस्त वेदान्त वाक्यों का निर्गुण ब्रह्म में ही अवसान है। सत् एक है, उसको विद्वान नाना रूपों में कहते हैं। नामरूप काल्पनिक हैं, कथनमात्र है। कहा भी है—"एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति। अग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः" ऋग्वेद 1-164।46।

---

1. न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः। न मुमुक्षर्न वैमुक्त इत्येषा परमार्थता। माण्डूक्य कारिका 2।32

3

अद्वैत वेदान्त में जीव

जीव का स्वरूप—परब्रह्म अद्वैत चिदानन्दस्वरूप है। जो देहाभिमानी अहं-प्रत्ययगम्य है, वह प्रकृत आत्मा नहीं है, वह अविद्या कल्पित अर्थात् अविद्या में प्रतिबिम्बित चैतन्य है, जिसे जीव कहते हैं।[1] तत्वविवेकार एवं प्रकटार्थ विवरणकार दोनों के अनुसार अविद्या में चित्प्रतिबिम्ब ही जीव है। अप्पय दीक्षित ने सर्वज्ञात्म मुनि के मत को उद्धृत करते हुए 'कार्योपाधिरयं जीवः' ऐसा कहा है।[2] अविद्या प्रतिबिम्ब जीव है, इसका समर्थन विवरणकार ने भी किया है।[3] सूर्य जिस प्रकार विभिन्न जलपूर्ण पात्रों में प्रतिबिम्बित होता है, उसी प्रकार शुद्ध चैतन्यस्वरूप ब्रह्म अन्तःकरण में प्रतिबिम्बित होकर जीव भावापन्न होता है।[4] परमेश्वर का माया में प्रतिबिम्बित ईश्वरभाव जिस प्रकार मिथ्या है, उसी प्रकार जीवभाव भी मिथ्या है। वस्तुतः परमात्मा शुद्धअंश में जीवाभिन्न है। वह असीम, अनन्त होते हुए भी सीमित के समान, अभिन्न होकर भी भिन्न के समान, अकर्ता होकर भी कर्ता के समान, अभोक्ता होकर भी भोक्ता के समान, अज्ञाता होकर भी ज्ञाता के समान, मन-वाणी के द्वारा अगोचर होकर भी अहं-प्रत्ययगोचर होकर जीव भावापन्न हो जाता है। अनन्त महाकाश जिस प्रकार घटादि उपाधिभेद से सखण्ड एवं भिन्न-भिन्न प्रतीत होने लगता है, उसी प्रकार अखण्ड चैतन्य भी अविद्या उपाधियोग से इन्द्रिय, मन एवं शरीर के धर्मों से विशिष्ट होकर प्रतीत होने लगता है। इस प्रकार शुद्ध चैतन्य ही अहं-अभिमानी जीव कहलाता है।[5] ब्रह्म के जीवभाव की व्याख्या में अद्वैत वेदान्तियों में मतभेद दिखाई देते हैं। इनमें से अवच्छेदवाद एवं प्रतिबिम्बवाद उल्लेखनीय हैं।

अवच्छेदवाद एवं प्रतिबिम्बवाद—अवच्छेदवादी के मत में अन्तःकरण अवच्छिन्न चेतन ही जीवात्मा है। यह अन्तःकरण प्रत्येक व्यक्ति में भिन्न-भिन्न है। इसी कारण

---

1. सिद्धान्त लेश संग्रह, पृ० 82
2. वही, पृ० 85
3. पंचपादिका विवरण, पृ० 264
4. ब्रह्म सूत्र शांकर भाष्य, पृ० 2 3 50
5. अध्यास भाष्य भामती, पृ० 38

जीवात्मा भी नाना है। इस मत में जीव घटाकाश के समान तथा ब्रह्म महाकाश के समान है। अवच्छेदवाद के समर्थन में अवच्छेदवादी 'अंशोनाना व्यपदेशात्' (ब्रह्म सूत्र 2।3।43) यह सूत्र प्रस्तुत करते हैं। उपनिषद् में कहीं-कहीं पर जीव का ब्रह्माग्नि के स्फुलिंग के रूप में वर्णन किया गया है। इस प्रकार से अवच्छेदवाद मान लेने पर ब्रह्म जीव में उपास्य-उपासक भाव भी बन सकता है।

प्रतिबिम्बवादी जीव को शुद्ध चेतन का प्रतिबिम्ब मानते हैं और अपने मत के समर्थन में 'आभास एव च' (ब्रह्मसूत्र 2।3।50) यह सूत्र प्रस्तुत करते हैं। इस सूत्र के अनुसार जीव ब्रह्म का अभास है अर्थात् प्रतिबिम्ब है। ब्रह्म बिम्ब है, जीव प्रतिबिम्ब है। जिस प्रकार सूर्य और जलस्थित सूर्य के प्रतिबिम्ब में भेद नहीं होता, उसी प्रकार ब्रह्म और ब्रह्म प्रतिबिम्ब जीव में भेद नहीं है। फिर भी प्रतिबिम्ब के आधार के नाना होने से जिस प्रकार प्रतिबिम्बभाव से सूर्य नना हो सकता है, उसी प्रकार नाना अन्तःकरणों में प्रतिबिम्बित ब्रह्म भी नाना जीव रूप से प्रतीत होता है। प्रतिबिम्बवादी 'अंशो नाना' इस सूत्र के भाष्य की व्याख्या करते हुए इव सूत्र को भी अपने ही समर्थन में प्रस्तुत करते हैं। सूत्र के शांकर भाष्य में 'अंश इस अंश' न हि निरवयवस्य मुख्योऽशः सम्भवति' 2।3।43, अर्थात् अवयवरहित शुद्ध चैतन्य का अंश सम्भव नहीं है, इसलिए जीव को प्रतिबिम्ब ही मानना चाहिए। ब्रह्म के साथ जीव का अंशांशीभाव सम्बन्ध सम्भव नहीं है। 'आभास एव च' इस सूत्र में 'एव' शब्द होने के कारण प्रतिबिम्बवाद ही समर्थित होता है। आचार्य गोविन्दानन्द शांकरभाष्यरत्नप्रभा में 'एव' शब्द के ऊपर जोर देकर सूत्रकार द्वारा प्रतिबिम्बवाद ही अभिप्रेत है, समर्थन किया है।[1]

आचार्य सुरेश्वर के मत में बिम्ब और प्रतिबिम्ब अभिन्न नहीं, प्रतिबिम्ब बिम्ब की छाया अर्थात् आभास है। मुख की छाया मुख से भिन्न है, इस प्रकार ब्रह्म की छाया अर्थात् आभास ब्रह्म से भिन्न है। छाया सत्य नहीं, मिथ्या है। इसलिए प्रतिबिम्ब भी सत्य नहीं, मिथ्या है। समष्टि माया का आभास ईश्वर एवं व्यष्टि अविद्या का आभास जीव है।

प्रतिबिम्बवाद की विस्तृत व्याख्या तथा विभिन्न आचार्यों के मत—प्रतिबिम्बवादी उक्त आभासवाद में अरुचि प्रकट करते हैं।[2] उनके अनुसार जीव की व्याख्या प्रतिबिम्बवाद से अधिक संगत हो सकती है। दर्पण में प्रतिबिम्बित मुखप्रतिबिम्ब वस्तुतः मुख से पृथक् वस्तु नहीं है। इस प्रकार बुद्धिदर्पण में प्रतिबिम्बित चित् प्रतिबिम्ब चिदात्मा से भिन्न नहीं है। बिम्ब से प्रतिबिम्ब को पूर्णतः यदि भिन्न माना जाय, तो बिम्ब-प्रतिबिम्ब-भाव ही नहीं बन सकता। इसलिए प्रतिबिम्ब को बिम्ब से भिन्न नहीं मानना चाहिए। इस मत में जब 'दर्पण में मुख नहीं है,' ऐसा करके बाध-ज्ञान का उदय होता है, तो उस समय मुख के साथ दर्पण के सम्बन्ध का ही बाध होता है। इससे प्रतिबिम्ब से बिम्ब भिन्न नहीं सिद्ध होता। यहां पर शंका हो सकती है कि जैसे दर्पणगत मुखप्रतिबिम्ब ज्ञानशून्य होता

1. रत्नप्रभा, सूत्र, 2।3।50, गोविन्दानन्द कृत भाष्य।
2. विवरण प्रमेय संग्रह, पृ० 232

है, उसी प्रकार जीव भी ज्ञानशून्य होगा।[1] अर्थात् जीव अपने आत्मा के साथ अपना भेद नहीं जान सकता, क्योंकि वह प्रतिबिम्ब है, जैसे दर्पण में मुख का प्रतिबिम्ब। दर्पण में स्थित जो मुखप्रतिबिम्ब है, वह मुख के साथ अपना अभेद नहीं समझ सकता। क्योंकि वह अचेतन है। प्रतिबिम्ब को चेतन नहीं मान सकते, क्योंकि चेतन मानने पर मुख में चेष्टा हुए बिना ही प्रतिबिम्ब में चेष्टा होने लगेगी, परन्तु मुख में चेष्टा हुए बिना प्रतिबिम्ब में चेष्टा नहीं होती। जीव में चैतन्य गुण जीवभाव के समय में भी होता है। इसके उत्तर में यही कहा जायेगा कि दृष्टान्त सर्वांश में नहीं दिया जाता। दृष्टान्त में इतना ही लेना चाहिए कि प्रतिबिम्ब और बिम्ब में जिस प्रकार भेद नहीं है, प्रतिबिम्ब वस्तुतः बिम्ब ही है, उसी प्रकार अन्तःकरण आदि उपाधियों को छोड़ने पर जीव ब्रह्म ही है। दर्पण में स्थित मुख प्रतिबिम्ब को मुख से भिन्न नहीं कहा जा सकता, क्योंकि ऐसा कहने पर मुख के बिना भी प्रतिबिम्ब की स्थिति की आपत्ति होगी। कुछ अद्वैत वेदान्तियों के अनुसार प्रतिबिम्ब-बोध पूर्णतया भ्रान्तिमात्र है। जब प्रतिबिम्ब गृहीत होता है तब नेत्र रश्मि दर्पण से टकरा-कर वापिस आकर पुनः बिम्ब रूप मुख का ही ग्रहण कराती है। ग्रहण मुख का ही होता है परन्तु प्रतिबिम्ब ग्रहण का भ्रम होता है।[2] इसी कारण प्रतिबिम्ब विपरीत रूप में गृहीत होता है। अवच्छेदवाद में प्रतिबिम्बवादी दोष देते हुए कहते हैं कि जब चैतन्य अन्तःकरण द्वारा परिच्छिन्न होता है तब वही परिच्छिन्न चैतन्य मृत्यु के पश्चात् नहीं रह सकता। जिस प्रकार घट को इधर-उधर ले जाया जा सकता है उसी प्रकार अन्तःकरण का परलोक-गमन सम्भव है, किन्तु घट को स्थानान्तरित करने पर घट के अन्दर स्थित पूर्वाकाश नहीं रहता, अपितु जहाँ तट पर घट को ले जाया गया वहाँ का आकाश घट के अन्दर होता है, क्योंकि आकाश का गमन-आगमन सम्भव नहीं।[3]—इसी प्रकार शरीरपात के अनन्तर अन्तःकरण जब परलोकगमन करता है तब इहलोक में अन्तःकरण अवच्छिन्न चेतन के साथ परलोकगमन नहीं करता, क्योंकि महाकाश स्थानीय चेतन का गमनागमन सम्भव नहीं है। परलोकगामी अन्तःकरण परलोकस्थ चैतन्य प्रदेश को ही अवच्छेद करेगा, इस लोक के चैतन्य प्रदेश को नहीं। ऐसी स्थिति में इहलोक-परलोक चैतन्य भागों के भिन्न-भिन्न होने के कारण अन्तःकरण के एक होने पर भी जीव भिन्न-भिन्न होंगे तथा प्रतिकर्म व्यवस्था नहीं बनेगी। इससे कृत-नाश एवं अकृत-आगम दोष होगा।[4] एक जीव शुभ कर्म करके भी परलोक में जीव भिन्न हो जाने के कारण उस शुभ कर्म का फल नहीं पा सकेगा, इसी प्रकार अशुभ कर्म के लिए भी समझना चाहिए। यदि इह लोक परलोक में चैतन्य में काल्पनिक भेद नहीं मानेंगे तो जीवेश्वर भेद करना भी कठिन होगा। जिस प्रकार इहलोक परलोक में एक चैतन्य है, उसी प्रकार भिन्न-भिन्न अन्तःकरणों में एक ही चैतन्य होने के कारण प्रतिकर्म-व्यवस्था नहीं बन पायेगी। जो चैतन्य राम के अन्तःकरण द्वारा परिच्छिन्न

1. विवरण प्रमेय संग्रह, पृ० 229
2. सिद्धान्तलेश संग्रह, पृ० 317 पंचपादिका विवरण भाव प्रकाशिका, पृ० 285-286
3. सिद्धान्तलेश संग्रह में उद्धृत, पृ० 118
4. कृतहानाकृताभ्यागम प्रसंगात्। सिद्धान्त लेश संग्रह, पृ० 285-86

हुआ है, वही चैतन्य श्याम के भी अन्तःकरण द्वारा परिच्छिन्न होगा। इस प्रकार सुख-दुख-भोग में अव्यवस्था होगी। प्रतिबिम्बवादियों का कहना है कि प्रतिविम्बवाद में इस प्रकार के दोष नहीं दिये जा सकते। उनका कहना है कि अवच्छेदवाद में जिस प्रकार अवच्छेद्य के गमनागमन की आपत्ति होती है, प्रतिबिम्बवाद में उसकी सम्भावना नहीं।[1] प्रतिबिम्ब वाद में बिम्ब एक है, इसलिए भिन्न-भिन्न अन्तःकरण रूप दर्पणों में एक ही बिम्बभूत चैतन्य के नाना प्रतिबिम्ब हो सकते हैं। फिर भी नाना प्रतिबिम्ब एक बिम्ब से अभिन्न हैं। अतः वे प्रतिबिम्ब अन्तःकरण भेद से नाना लगने पर भी वस्तुतः एक ही हैं। इस मत में शुद्ध चैतन्य बिम्ब स्थानीय है। वह किसी भी उपाधि से परिच्छिन्न नहीं होता।

कुछ लोग ईश्वर को भी शुद्ध चेतन का प्रतिबिम्ब मानते हैं और जीव को भी। कुछ लोग ईश्वर को बिम्ब और जीव को प्रतिबिम्ब कहते हैं। प्रकाशात्मयति के अनुसार ईश्वर बिम्ब स्थानीय है और जीव उसका प्रतिबिम्ब। अविद्या में चैतन्य का आभास ही जीव है।[2] उनके अनुसार जीवेश्वर भेद-साधक उपाधि अज्ञान है। अनादि अज्ञान के बिना जीवेश्वर भेद नहीं होता। अज्ञान के विनाश होने पर जीव ब्रह्मस्वरूप हो जाता है। ब्रह्म के प्रतिबिम्ब ग्रहण करने में समर्थ अविद्या ही है। एक उपाधि में एक ही प्रतिबिम्ब पड़ सकता है। दो प्रतिबिम्बों के लिए दो उपाधियाँ चाहिए, परन्तु ऐसा सम्भव नहीं। इस-लिए जीव और ईश्वर—दोनों ही प्रतिबिम्ब हैं, यह मत नहीं माना जा सकता। ईश्वर बिम्ब है, जीव प्रतिबिम्ब, इस प्रकार का सिद्धान्त ही ठीक है। बिम्ब होने के कारण ईश्वर में स्वातन्त्र्य आदि गुणों के होने में असंगति भी नहीं है और इस प्रकार जीव ईश्वराधीन भी रहेगा।[3] इसी से ईश्वर को बिम्ब मानने से स्वतन्त्र ईश्वर के लिए 'लोकवत्तुलीलाकैवल्यम्' 2।1।33, इस सूत्र की भी संगति बैठ जाती है। लोक में भी दर्पण में पड़े हुए अपने प्रतिबिम्ब के ऋजु-वक्र आदि भावों को देखकर बिम्बभूत व्यक्ति खेलता है, प्रसन्न होता है। वैसे ही ब्रह्म अविद्या में प्रतिबिम्बित अपने ही रूप जीवों को देखकर खेलता है। इसी अर्थ में अर्थात् ईश्वर स्वतन्त्रतापूर्वक सृष्टिलीला रचता है, इस अर्थ में ईश्वर बिम्ब और जीव प्रतिबिम्ब, यह सिद्धान्त अधिक संगत लगता है। प्रति-बिम्ब ईश्वरवादियों के अनुसार ईश्वर की स्वतन्त्रता की कल्पना क्लिष्ट कल्पना होगी।[4] जो लोग अन्तःकरण में प्रतिबिम्बित चैतन्य को जीव कहते हैं, उनके सिद्धान्त की व्याख्या सुसंगत नहीं है, अथवा उनके सिद्धान्त की व्याख्या कि जीव अविद्या प्रतिबिम्बित चैतन्य है, इस मत के अनुसार हो जायेगी। अविद्या में चित् प्रतिबिम्ब ही जीव है, फिर भी भिन्न-भिन्न अन्तःकरणों के साथ तादात्म्य-अध्यास होने के कारण उन-उन अन्तःकरणप्रयुक्त जीवों में सुख-दुख, कर्तृत्व-भोक्तृत्व आदि धर्म सम्भव हो सकते हैं। इन धर्मों के लिए अन्तःकरण ही विशेष अभिव्यक्ति का स्थान है। अन्तःकरण अविद्या का ही परिणाम है।

---

1. सिद्धान्त लेश संग्रह, पृ० 86
2. वही, पृ० 102
3. वही, पृ० 104
4. वेदान्त कल्पतरु, पृ० 482

इसीलिए अविद्या में प्रतिबिम्ब चेतन जीव है, इसकी व्याख्या अन्तःकरण में प्रतिबिम्बित चैतन्य जीव है, इस प्रकार करने पर भी किसी प्रकार की असंगति नहीं है।[1]

बिम्ब से प्रतिबिम्ब भिन्न या अभिन्नत्व का विचार —प्रतिबिम्ब बिम्ब से भिन्न या अभिन्न है? सत्य या मिथ्या है? इन प्रश्नों के उत्तर में कुछ अद्वैत वेदान्ती प्रतिबिम्ब को बिम्ब से अभिन्न कहते हैं। भेद की जो प्रतीति होती है, वह भ्रमात्मक है। इस मत के अनुसार बिम्ब-अभिन्न होने के कारण प्रतिबिम्ब भी सत्य है। अनुमान के रूप में प्रतिबिम्ब की सत्यता की सिद्धि इस प्रकार होगी—'बिम्ब के समान प्रतिबिम्ब भी सत्य है, प्रतिबिम्ब से अभिन्न होते हुए भी बाधाभाव होने के कारण'। इस प्रकार अभिन्नतया प्रतिबिम्ब सत्य सिद्ध होता है। कुछ आचार्यों के मत में बिम्ब एवं प्रतिबिम्ब अभिन्न नहीं हैं।[2] बिम्ब सत्य है, प्रतिबिम्ब मिथ्या है। उनके अनुसार मुख का प्रतिबिम्ब दर्पण में है, ग्रीव में स्थित मुख दर्पणस्थ मुख नहीं हो सकता। ग्रीवास्थ मुख और दर्पणस्थ मुख परस्पर विपरीत होते हैं। जो लोग 'दर्पण में अपना मुख देखा है', ऐसा अभेद कथन करते हैं, वह कथन भ्रमपूर्ण है। और भी बात यह है कि छोटे दर्पण में मुख बड़ा होने पर भी छोटा ही दिखाई देगा। इस प्रकार प्रतिबिम्बभेदवादी के अनुसार प्रतिबिम्ब बिम्ब से भिन्न ही सिद्ध होता है। इसीलिए अद्वैत विद्याचार्य प्रतिबिम्ब को मिथ्या ही कहते हैं। विवरणाचार्य आदि के अनुसार दर्पण को देखकर मनुष्य कहता है कि 'मेरा मुख मलिन है, मेरा मुख दीख रहा है', इत्यादि, इस प्रकार बिम्ब और प्रतिबिम्ब के अभेद व्यवहार से सिद्ध होता है कि प्रतिबिम्ब बिम्बाभिन्न है। भेद-व्यवहार औपचारिक है।[3]

विवरण अनुसारी आचार्यों का और भी कहना है कि प्रतिबिम्ब यदि बिम्ब से भिन्न हुआ एवं मिथ्या हुआ तो 'अहं ब्रह्मास्मि' एवं 'तत्त्वमसि' आदि वेदान्त वाक्यों में प्रतिपादित जीव ब्रह्मैक्य की सिद्धि कैसे होगी?[4] इन वाक्यों में जीव को ब्रह्म ही कहा गया है। और ब्रह्म होने के कारण जीव वस्तुतः नित्य शुद्ध स्वरूप है। ऐसे जीव को बिम्ब से प्रतिबिम्ब को भिन्न मानकर मिथ्या कह देने पर श्रुति वाक्यों की असंगति होगी, इसीलिए प्रतिबिम्ब को बिम्बाभिन्न मानना चाहिए तथा उसे सत्य मानना चाहिए। विवरणाचार्य के इस मत का अनुसरण विद्यारण्य मुनि आदि आचार्य भी करते हैं।

प्रतिबिम्बभिन्नवादी अद्वैतविद्याआचार्य आदि का कहना है कि पूर्वोक्त प्रतिबिम्ब अभिन्न एवं सत्यवाद को मानने पर जीव प्रतिबिम्बतया सत्य सिद्ध होगा जबकि अहं-बुद्धि-गम्य जीव अध्यस्त होने के कारण मिथ्या हुआ करता है।

वस्तुतः अद्वैत वेदान्त के अनुसार जीवगत शुद्ध चेतन ही ब्रह्म है। 'अहं ब्रह्मास्मि' वाक्यों द्वारा लक्षणा से उसी का शुद्ध चेतन से अभेद कहा गया है, न कि अध्यस्त अहं के

---

1. सिद्धान्त लेश संग्रह, पृ० 105
2. वही, श्लोक 21, पृ० 321
3. सिद्धान्त लेश संग्रह, अच्युत ग्रन्थमाला द्वारा प्रकाशित सम्वत् 2011, पृ० 322 में टिप्पणी भी देखें।
4. पंचपादिका, पृ० 108

साथ। अध्यस्त अहन्तादि धर्मों की व्यावृत्ति करके ही जीवब्रह्माभेद सिद्ध होता है, इस प्रकार जीव को अध्यस्ततया मिथ्या भी कहा जा सकता है तथा शुद्ध चैतन्यतया ब्रह्माभिन्न होने के कारण सत्य भी कहा जा सकता है। इसीलिए पूर्वोक्त प्रतिबिम्ब सत्य एवं प्रतिबिम्ब मिथ्यावाद में विशेष कोई असंगति नहीं है। दर्पणस्थ प्रतिबिम्ब पृथक् रूप से मिथ्या है, और बिम्ब रूप से सत्य है। इसलिए उक्त दोनों मतों में बहुत सैद्धान्तिक मतभेद नहीं दीखता।

नीरूप का प्रतिबिम्ब कैसे सम्भव—अवच्छेदवाद के समर्थक आचार्य कहते हैं कि जिसका रूप नहीं है, उसका प्रतिबिम्ब नहीं हो सकता। जलाशय आदि में सूर्य-चन्द्र आदि का प्रतिबिम्ब पड़ता है। नीरूप कूटस्थ ब्रह्म के प्रतिबिम्ब की कल्पना निराधार है। इस पर प्रतिबिम्बवादी का कहना है कि जिस प्रकार नीरूप आकाश का प्रतिबिम्ब जल में पड़ सकता है, उसी प्रकार अविद्या में ब्रह्म का प्रतिबिम्ब भी पड़ सकता है। अवच्छेदवादियों का कहना है कि जलाशय आदि में प्रकाश के प्रतिबिम्ब को ही आकाश का प्रतिबिम्ब लोग समझते हैं। प्रतिबिम्बवादियों का उत्तर है कि प्रतिबिम्ब आरोपित रूपवान पदार्थ का भी पड़ सकता है। इसलिए 'आकाश नीला है' इत्यादि आरोपित नीलाकाश का प्रतिबिम्ब जलाशय में पड़ सकता है एवं देखा जाता है।[1] आकाश के अमूर्त होने पर भी रूप का भ्रम होता है और उस आरोपित रूपवान् आकाश का प्रतिबिम्ब जलाशय में दीखता है तथा मेघ एवं नक्षत्र आदि से युक्त आकाश का जल में प्रतिबिम्ब पड़ता है। इसीलिए ऐसा नहीं कहा जा सकता कि अमूर्त द्रव्य का प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता।[2] दूसरा आक्षेप प्रतिबिम्बवाद में यह किया जा सकता है कि प्रतिबिम्ब का आधार क्या है? प्रतिबिम्बवादी आचार्यगण "ब्रह्मैवअविद्याप्रतिबिम्बितमिति" कहते हैं।[3] परन्तु अविद्या जो आधार है, उसका तो अवश्य रूप होना चाहिए। वायु में किसी का प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता और निराधार प्रतिबिम्ब सम्भव नहीं है। इसीलिए अवच्छेदवाद ही स्वीकार करना चाहिए। भामतीकार वाचस्पति मिश्र अवच्छेदवादी प्रतीत भी होते हैं। घटाकाश आदि दृष्टान्तों से अवच्छेदवाद का अधिक समर्थन होने लगता है। अवच्छेदवाद के अनुसार अन्तःकरण विशेषण बनता है। विशेषण ही अवच्छेदक होता है।[4] जीव को घटाकाश के समान कहने पर जिस

---

1. कल्पतरु परिमल, अप्पय दीक्षित, पृ० 7, 8
2. विवरण प्रमेय संग्रह, विद्यारण्यमुनि, पृ० 231
3. पंचपादिका विवरण एवं चित्सुखाचार्य की तात्पर्य दीपिका, पृ० 707
4. ईश्वर को जब मायोपहित कहा जाता है तब माया उपाधि होती है, विशेषण नहीं और जब चैतन्य को अन्तःकरण विशिष्ट अथवा अन्तःकरणावच्छिन्न कहा जाता है, तब अन्तःकरण विशेषण होता है, उपाधि नहीं। उपाधि और विशेषण में अन्तर है। विशेषण विशेष्य के स्वरूप में प्रविष्ट होकर विशेष्य को अन्य वस्तुओं से पृथक् करता है जैसे नीलोत्पल, दण्डी-पुरुष आदि उदाहरणों में। इनमें विशेषण विशेष्य को विशिष्ट बनाता हुआ अन्य वस्तुओं से पृथक् करता है। उपाधि वस्तु को अन्य वस्तुओं से पृथक् करती है, परन्तु वह उपाधि वस्तु के स्वरूप में प्रवेश नहीं करती। वह

प्रकार घट के सहित आकाश का वस्तुतः कोई सम्बन्ध नहीं होता, आकाश एक असीम महाकाश है, उसी प्रकार अन्तःकरण के साथ महाचैतन्य का वास्तविक कोई सम्बन्ध नहीं होता। अविद्या के तिरोहित होते ही जीव ब्रह्मभाव को प्राप्त कर लेता है। वाचस्पति मिश्र प्रतिबिम्बवाद के अनुकूल भी युक्तियाँ प्रस्तुत करते हैं। "अवस्थितेरितिकाशकृत्स्नः" 1।4।22 ब्र० सू०, इस सूत्र की भाष्य-टीकाओं में जीव को ब्रह्म का प्रतिबिम्ब स्पष्ट शब्दों में कहा है। उनका कहना है कि निर्मल बिम्ब से प्रतिबिम्ब वस्तुतः अभिन्न होने पर जिस प्रकार नीलाकाश आदि भिन्न-भिन्न उपाधियों के कारण भिन्न-भिन्न लगते हैं तथा उपाधियों की मलिनता एवं स्वच्छता के कारण प्रतिबिम्ब भी मलिन एवं स्वच्छ लगने लगते हैं, उसी प्रकार शुद्ध चैतन्य बिम्बरूप एक एवं स्वच्छ है और उससे अभिन्न प्रतिबिम्ब रूप जीव भी स्वच्छ एवं शुद्ध है, फिर भी भिन्न-भिन्न अन्तःकरणों में प्रतिबिम्बित होने के कारण वह अशुद्ध सा लगने लगता है। उसमें काल्पनिक भेदबुद्धि होने लगती है। अन्तःकरण, अविद्या आदि को गुहा कहा गया है और उन गुहाओं में प्रतिबिम्बित जीव नाना रूपों से प्रतिभात होता है। वस्तुतः बिम्ब और प्रतिबिम्ब, चेतन और जीव अभिन्न हैं।[1] वाचस्पति मिश्र 'अंशो नाना', इस सूत्रभाष्य-टीका में प्रतिबिम्बवाद के समर्थन में युक्तियाँ प्रस्तुत करते हैं।[2] दर्पण को हटा लेने पर जिस प्रकार प्रतिबिम्ब बिम्ब रूप में हो जाता है, उसी प्रकार अविद्या के विलीन होने पर जीव ब्रह्मरूप हो जाता है।[3] ब्रह्म सूत्र 2।2।28 में भामती एवं कल्पतरु में जीव ब्रह्म का प्रतिबिम्ब है, इस मत का ही समर्थन हुआ है। ब्रह्मसूत्र चतुःसूत्री की समाप्ति में अप्पय दीक्षित ने अपने वेदान्त-कल्पतरु परिमल में अवच्छेदवाद तथा प्रतिबिम्बवाद—इन दोनों के ऊपर विचार प्रस्तुत किये हैं। इन दोनों वादों में से कौन-सा अधिक आचार्यों द्वारा अधिक अभिप्रेत है, इस बात को स्पष्ट करने का प्रयास करते हुए अप्पय दीक्षित ने दोनों वादों का निपुणता से विश्लेषण प्रस्तुत किया है। दोनों के पक्ष में एवं विपक्ष में अनुकूल तथा प्रतिकूल युक्तियों को प्रस्तुत किया है। प्रतिबिम्बवाद के विरुद्ध जो आरोप किया जाता है कि नीरूप ब्रह्म का प्रतिबिम्ब नहीं पड़ सकता, इसके खण्डन में अप्पय दीक्षित कहते हैं कि जिसका रूप नहीं है, उसका प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता, यह कथन समीचीन नहीं है। उनका कहना है कि रूप का तो कोई रूप नहीं होता, गुण का कोई गुण नहीं होता, फिर भी अरूप रूप का दर्पण में प्रतिबिम्ब क्यों पड़ता है? यदि अविच्छेदवादी यह कहें कि अरूप के प्रतिबिम्ब पड़ने पर भी रूप गुण है, द्रव्य ही और गुण के प्रतिबिम्ब पड़ने में कोई असंगति नहीं है, किन्तु ब्रह्म द्रव्य पदार्थ है तथा रूप-

---

व्यावर्तक अवश्य होती है जैसे रक्तस्फटिक में। इसमें रक्तता स्फटिक में सर्वदा नहीं रहती है। न ही उसका स्वाभाविक धर्म है, परन्तु वह स्फटिक का इतर व्यावर्तक अवश्य होती है।

1. भामती, पृ० 421
2. वही, पृ० 2।3।43
3. वही, पृ० 623

शून्य है, इसीलिए ब्रह्म का प्रतिबिम्ब सम्भव नहीं।[1] इसके उत्तर में अप्पय दीक्षित कहते हैं कि अरूप द्रव्य का प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता, यह कहना संगत नहीं है। कहा यह जा सकता है कि अरूप द्रव्य का प्रत्यक्ष नहीं होता। इसी कारण उसके प्रतिबिम्ब का भी प्रत्यक्ष नहीं होता। अरूप द्रव्य का प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता, ऐसा कहने में कोई प्रमाण नहीं है।[2] वस्तु के अस्तित्व में प्रत्यक्ष ही एकमात्र प्रमाण नहीं है। अरूप द्रव्य का प्रत्यक्ष नहीं होता फिर भी अन्य प्रमाणों से उसका अस्तित्व सिद्ध किया जा सकता है। इसी प्रकार अरूप द्रव्य के प्रतिबिम्ब का भी अस्तित्व सिद्ध किया जा सकता है। श्रुति प्रमाण बल से आत्मा के प्रतिबिम्ब मान लेने में कोई बाधा नहीं है। दूसरी बात यह है कि पूर्वपक्षी यह बतायें कि द्रव्य क्या है? यदि गुणाश्रय या गुणाधिकरण को द्रव्य कहा जाय तब एक, दो आदि में एकत्व एवं द्वित्व संख्या के रहने के कारण वे भी द्रव्य हो जायेंगे, क्योंकि संख्या गुण है। इसीलिए गुणाश्रय एक एवं दो आदि हुए।

अद्वैतवाद के अनुसार आत्मा नित्य है, इसलिए गुणाश्रय न होने के कारण नैयायिकों का द्रव्य-लक्षण उसमें नहीं घटता। इसीलिए प्रतिवादी आत्मा को द्रव्य नहीं कह सकते। शब्द नीरूप है फिर भी प्रतिध्वनिरूप प्रतिबिम्ब शब्द का होता है। इसी प्रकार नीरूप चैतन्य का भी प्रतिबिम्ब सम्भव है। उक्त प्रकार से अप्पय दीक्षित प्रतिबिम्बवाद का समर्थन करते हैं। "आभास एव च, अतएव चोपमासूर्यकादिवत्" आदि सूत्रों से प्रतिबिम्बवाद का ही समर्थन होता है। इसलिए प्रतिबिम्बवाद सूत्रकार आदि द्वारा समर्थित है, ऐसा अप्पय दीक्षित आदि विद्वानों के विचारों द्वारा प्रतीत होता है। उन्होंने कल्पतरु परिमल में कई स्थलों में प्रतिबिम्बवाद की ओर झुकाव दिखाया है।[3] अप्पय दीक्षित ने प्रतिबिम्ब पक्ष का उपपादन करके अवच्छेदवाद के साथ भी सूत्र का कोई विरोध नहीं है, इसमें भी प्रमाण देने की चेष्टा की है। अविच्छेदवादी के अनुसार "न स्थानतोऽपि" ब्र०सू० 3।2।11, इत्यादि सूत्रों के भाष्य में भाष्यकार ने स्वयं प्रतिबिम्बवाद का निराकरण किया है। "अम्बुवदग्रहणात्तु न तथात्वम्" 3।2।19 ब्र० सू०, इस सूत्र भाष्य में भाष्यकार ने कहा है कि जल में सूर्य का जब प्रतिबिम्ब पड़ता है तब वहाँ पर सूर्य मूर्तिमान द्रव्य है तथा सूर्य जल से बहुत दूर देश में स्थित है, इस प्रकार दूर स्थित मूर्तिमान पदार्थ का ही प्रतिबिम्ब पड़ता है, ऐसा दृष्टान्त से प्रतीत होता है। चिदात्मा सर्वव्यापी है तथा सर्वान्तर्यामी है, इसीलिए चिदात्मा के लिए दूर और निकट कुछ नहीं है। वह तो सर्वत्र पहुँचा हुआ है। चिदात्मा अमूर्त है, इसलिए सूर्य प्रतिबिम्ब वाला दृष्टान्त उपयुक्त नहीं है। उन्होंने भाष्य में कहा है "सूर्यादिभ्यो हि मूर्तेभ्यः पृथग्भूतं विप्रकृष्टदेशं मूर्तं जलं गृह्यते, तत्र युक्तः सूर्यादि प्रतिबिम्बोदयः, नत्वात्मा मूर्तो न वास्मात् पृथग्भूतो विप्रकृष्ट देशाश्चोपाधयः, सर्वगत्वात् सर्वानन्यत्वाच्च तस्मादयुक्तोऽयं दृष्टान्त इति' (ब्र० सू०, पृ० 710) अप्पय दीक्षित ने सूत्र 1।2।4 की कल्पतरुपरिमल टीका में भाष्यकार के इस विचार को

1. कल्पतरु परिमल, पृ० 8
2. रूपवतः प्रतिबिम्ब इति न नियमः। कल्पतरु परिमल, पृ० 7
3. कल्पतरु परिमल, पृ० 156, 157

उद्धृत किया है कि सूर्यादि दृष्टान्तों का तात्पर्य है कि जिस प्रकार सूर्य जल में प्रतिबिम्बित होकर ह्रास, कम्पन आदि उपाधि धर्मों का आधीन होता है, ऐसा लगता है, वैसे ही शुद्ध चेतन अन्तःकरण आदि से परिच्छिन्न होकर अन्तःकरणस्थित सुख-दुःख, शोक-मोह आदि धर्मों का आधीन होता है।[1] ब्रह्म सूर्य के समान प्रतिबिम्बित होता है, यह दृष्टान्त का तात्पर्य नहीं है। इस प्रकार अप्पय दीक्षित यद्यपि स्पष्ट रूप से अपने विचार किसी एक पक्ष में नहीं देते हैं फिर भी पूर्वोक्त विचारों से तथा उद्धरणों से यह सिद्ध होता है कि वे प्रतिबिम्बवाद के ही पक्षपाती हैं। आचार्य पद्मपाद ने प्रतिबिम्ब पक्ष को ही ग्रहण किया है। उन्होंने कहा है कि बिम्ब से प्रतिबिम्ब भिन्न वस्तु नहीं है।[2] विद्यारण्य मुनि ने भी विवरणप्रमेयसंग्रह में जीव के घटाकाश के समान उपाधि अवच्छिन्न होने का निषेध किया है। इस प्रकार वे भी प्रतिबिम्ब पक्ष के ही समर्थक हैं।[3]

आचार्य शंकर प्रतिबिम्ब पक्ष का समर्थन इसलिए करते हैं कि इस पक्ष में प्रतिबिम्ब की मलिनता से बिम्ब अर्थात मौलिक वस्तु अछूती रह जाती है। जिस प्रकार दर्पणों के भेद के कारण प्रतिबिम्बों में भेद होते हैं, बिम्ब एक ही होता है, उसी प्रकार परब्रह्म एक है।

हमने पहले ही यह निवेदन कर दिया था कि अवच्छेद पक्ष एवं प्रतिबिम्ब पक्ष—दोनों में कोई महान अन्तर नहीं है। दृष्टान्त रूप में सूक्ष्म विचार करने पर दोनों पक्षों में कुछ अन्तर भी दिखाई दे, पर द्राष्टान्तिक रूप में एक ही बात अभिप्रेत है कि जीव रूप में शुद्ध चेतना सुखी-दुःखी होता-सा लगने पर भी वस्तुतः वह निर्लेप है—जिस प्रकार घटाकाश अथवा जल में स्थित सूर्य प्रतिबिम्ब। घटाकाश पक्ष में भी आकाश निर्लेप है। सूर्य प्रतिबिम्ब पक्ष में भी सूर्य निर्लेप है। दृष्टान्त को सर्वांश में न लेकर अभिप्रेत अंश में लेना चाहिए। इसलिए अवच्छेद पक्ष में भी हमें किसी प्रकार की असंगति नहीं दिखाई देती। दोनों ही पक्षों में प्रतिकर्म-व्यवस्था की भी असंगति की कोई बात नहीं है। अन्तःकरणों के भिन्न-भिन्न होने का कारण प्रतिबिम्ब पक्ष में भी सर्वगत एक चैतन्य होने पर भी प्रतिकर्म-व्यवस्था होने में कोई बाधा नहीं है।[4] इसी प्रकार अवच्छेद पक्ष में भी समझना चाहिए।

कुछ अद्वैत आचार्य जीव के स्वरूप के विषय में अवच्छेदवाद एवं प्रतिबिम्बवाद, इनमें से किसी भी मत का अनुमोदन नहीं करते। उनका कहना है कि जिस प्रकार कुन्ती पुत्र कर्ण कुन्ती पुत्र रहकर भी राधेय अर्थात् राधापुत्र कहलाया, उसी प्रकार परब्रह्म भी स्वयं अविकृत परब्रह्म रहकर भी अपनी अविद्या के प्रभाव से अपने आप को जीव रूप में प्रकट करता है। जीव वस्तुतः शुद्धचेतन का न अवच्छिन्न है, न प्रतिबिम्ब है,[5] क्योंकि पर-

1. कल्पतरु परिमल, पृ० 157
2. पंचपादिका, पृ० 104
3. विवरण प्रमेय संग्रह, पृ० 232
4. पंचपादिका विवरण, पृ० 246
5. सिद्धान्त लेश संग्रह, पृ० 119

मात्मा वस्तुतः जीव होकर विकृत नहीं होता। वह अविकारी परब्रह्म रंगशाला में अभिनय के समान सुखी-दुःखी होने का अभिनय करता है। वस्तुतः वह सदापूर्ण, नित्य, शुद्ध वस्तु-स्वरूप है। इस विषय में और भी दृष्टान्त अद्वैत आचार्यगण दिया करते हैं। उदाहरणार्थ जिस प्रकार कोई राजपुत्र बाल्यकाल से खोया हुआ व्याधकुल में प्रतिपालित होता है एवं अपने आपको व्याधपुत्र समझता है, राजपुत्र नहीं समझता। स्वयं उच्चकुल उत्पन्न तथा शूरवीर है, यह भूल जाता है। ऐसी स्थिति में किसी सत्यवादी पुरुष द्वारा उसके वास्तविक परिचय का उद्घाटन करने पर उसका वास्तविक स्वरूप उसको स्मरण हो आता है। तब वह समझता है कि 'मैं राजपुत्र हूँ, शूरवीर हूँ।' इस दृष्टान्त से यह सिद्ध होता है कि वस्तुतः वह व्याधपुत्र नहीं था, वह राजपुत्र ही था। वह अपने स्वरूप को भूला हुआ था और व्याधों के साथ उनके सुख-दुःखों में सुखी-दुःखी हुआ करता था। जब उसको ज्ञान हुआ तो अपने स्वरूप को जान गया। इसी प्रकार परमेश्वरस्वरूप जीव भी अपने स्वरूप को भूलकर अविद्याग्रस्त हो रहा है। जब गुरु-उपदेश से अविद्या का विनाश होगा तब वह 'अहं ब्रह्मास्मि' का अनुभव करेगा। वस्तुतः वह जीव नहीं होता, अविद्या के कारण अपने आपको ऐसा समझने लगता है।[1] कुछ लोग एक और दृष्टान्त प्रस्तुत करते हैं कि जिस प्रकार एक सिंह शावक भेड़ों में खोया जाता है और उन्हीं के साथ पोषित होकर अपने आपको भेड़ ही समझता है तथा भेड़ों के समान मिमियाता है, सिंह और व्याघ्रों से डरता है, उन्हें देखकर डर से भागता है। किसी दिन एक सिंह ने उसे समझाया कि तू तो हमारे ही समान सिंह है। तू भेड़ों में क्यों रहता है? विश्वास दिलाने के लिए कुएँ में उसको उसका प्रतिबिम्ब दिखाया तब वह अपने स्वरूप को समझकर सिंह के समान दहाड़ता हुआ भेड़ों के शिकार में लग गया। इसी प्रकार जीव के विषय में भी समझना चाहिए।

जीव का परिमाण—अद्वैत वेदान्त के अनुसार जीव वस्तुतः शुद्ध चैतन्य ही है, यह बात इससे पूर्व कही जा चुकी है। इस कारण वस्तुतः जीव का कोई परिमाण नहीं हो सकता फिर भी जिस प्रकार अपरिमित आकाश को परम महत् अर्थात् विभु कह दिया जाता है, उसी प्रकार जीव भी विभु परिमित है। जीव के परिमाण के विषय दर्शनिकों में मतभेद है। न्याय दार्शनिक अद्वैत वेदान्त के समान जीव को विभु परिमाण मानते हैं। जैन दार्शनिकगण जीव को देह परिमित मानते हैं। वैष्णव वेदान्ती रामानुज, मध्व, निम्बार्क आदि दार्शनिकगण जीव का परिमाण अणु मानते हैं। इनके मत में मात्र परमेश्वर ही विभु हैं।

देह परिमित जीववाद का खण्डन—जैन दार्शनिक जीवात्मा को देह परिमित के रूप में मानते हैं। उनके अनुसार जीवात्मा जैसा शरीर ग्रहण करता है, उस सम्पूर्ण शरीर में उतने ही परिमाण में परिमित होता है। चींटी के शरीर में चींटी के परिमाण के बराबर तथा हाथी के शरीर में हाथी के शरीरपरिमाण के बराबर बन जाता है। इस प्रकार शरीर के अनुकूल जीव का संकोच-विकास होता है। जैन दर्शन के इस मध्यम परिमिति जीववाद का अद्वैत वेदान्त तथा वैष्णव वेदान्तियों ने एवं न्याय दार्शनिकों ने भी खण्डन

1. सिद्धान्त लेश संग्रह, पृ० 119 पर टिप्पणी।

किया है। आचार्य शंकर ने 'एवं चात्मा कात्स्न्यम्' सूत्र 2।2।34 के भाष्य में इस देह परिमिति जीव-वाद का प्रत्याख्यान किया है।[1] जैन दार्शनिक आत्मा का विनाश नहीं मानते। ऐसी स्थिति में वे आत्मा अर्थात् जीवात्मा का मध्यम परिमाण स्वीकार नहीं कर सकते। जीव नाना देह धारण करता है। नाना जन्मों में भ्रमण करने वाला जीव जब चींटी का शरीर छोड़कर हाथी के शरीर में प्रवेश करता अर्थात् हाथी के रूप में जन्म लेता है, उस समय जीवात्मा को जो कि चींटी परिमाण था; हस्तिपरिमाण बनना होगा। निरवयव जीव छोटा-बड़ा कैसे हो सकता है? बढ़ना-घटना तो भौतिक वस्तुओं में ही सम्भव है। इसलिए चींटी-शरीर वाला अथवा मनुष्य-शरीरवाला जीव अन्य जन्मों में हस्तिशरीर धारण नहीं कर सकता।[2] अन्य जन्म की बात छोड़ भी दी जाय, इसी जन्म में बाल्यकाल से लेकर वृद्धावस्था तक शरीर की अभिवृद्धि होती है। शरीर परिमित जीव को मानने पर शरीर की अभिवृद्धि के साथ जीव की भी अभिवृद्धि होगी। अभिवृद्धि अवयवी की ही होती है। अवयवी अनित्य होता है। जीव को इस प्रकार अनित्य मानने पर कृतनाश एवं अकृत आगम का दोष होगा। अर्थात् शरीपात अनन्तर उस जीव के न रहने के कारण उसे अपना कर्मफल नहीं मिल सकेगा तथा पूर्व कर्मफल के बिना नया जीवन प्राप्त होने लगेगा।[3] जैन दार्शनिकों का कहना है कि जिस प्रकार प्रदीप विशाल गृह को आलोकित करता है, साथ में छोटे गृह में रखने पर उस गृह को भी आलोकित करता है, उसी प्रकार मध्यम परिमाण रहता हुआ जीव छोटे-बड़े सभी शरीरों को प्रकाशित कर सकता है।[4] अद्वैत वेदान्ती का कहना है कि प्रदीप का दृष्टांत संगत नहीं है, क्योंकि प्रदीप छोटे गृह में रखने पर अधिक प्रकाश फेंकता है जबकि बड़े गृह में उसका प्रकाश कम हो जाता है। बड़े घर में प्रकाश अधिक स्थान में फैलने के कारण कम लगता है। छोटे स्थान में कम स्थान होने के कारण अधिक प्रकाश फैलता है। इस दृष्टान्त को मानने पर हस्तिशरीर में ज्ञान का प्रकाश कम होना चाहिए और चींटी-शरीर में अधिक। परन्तु ऐसा होता नहीं है। ऐसा होने पर कीट-पतंग बड़े ज्ञानी हो जायेंगे और मनुष्य कीट-पतंगों से कम ज्ञानी होंगे। इसलिए जीव प्रदीप के समान संकोच-विकासशील है, ऐसा नहीं माना जा सकता। और भी बात यह है कि जब जीव पतंग का शरीर छोड़कर अगले जन्म में हस्तिशरीर प्राप्त करता है, उस समय हस्तिशरीर के बराबर जीवात्मा में नये अवयवों का संयोग होगा। ये नये अवयव आयेंगे कहाँ से? पुनः जब पतंग शरीर में जन्म लेगा तो वे अवयव घटेंगे कैसे?[5] जीव भौतिक पदार्थ नहीं है। अवयवों का आगमन और

---

1. शरीरपरिमाणो हि जीव इत्याहंता मन्यन्ते। शरीरपरिमाणतायां च सत्यामकृत्स्नो असर्वगतः परिच्छिन्न आत्मेत्यतो घटादिवदनित्यत्वमात्मनः प्रसज्येत। ब्र०सू० शांकर भाष्य, पृ० 562
2. मनुष्यकाय परिमाणो हि जीवो न हस्तिकायं कृत्स्नं···भामती, पृष्ठ 562, 563
3. सर्वदर्शनसंग्रह—शांकर दर्शन, पृ० 781
4. भामती, पृ० 563।
5. ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्यभामती, पृ० 564

गमन भौतिक पदार्थ में ही सम्भव हो सकते हैं। इस प्रकार अवयवों के संयोग एवं वियोग के कारण जीव का स्वरूप निर्धारण नहीं हो पायेगा। जीवात्मा में अवयव मानने पर सभी अवयवों में जीवात्मा की चेतना रहती है, मानना पड़ेगा। यदि सभी अवयवों में चेतना मानी जाय तब कुछ अवयवों के वियोग से चेतना की भी कमी हो जायेगी।[1]

मुक्ति-अवस्था में जीव का शरीर नहीं होता। शरीर के बिना वह अपने स्वरूप में विराजमान होता है। उस अवस्था में जीवात्मा का क्या परिमाण होगा? उस समय चींटी का परिमाण नहीं रहेगा और न ही हाथी का। ऐसी स्थिति में भी जीवात्मा का परिमाण-निर्धारण नहीं हो पायेगा। जैन दार्शनिकगण मुक्ति-अवस्था में जीव के परिमाण को नित्य परिमाण कहते हैं। नित्य परिमाण तो तब कहा जाय जबकि परिमाण का निर्धारण हो जाय। इस प्रकार जैन दार्शनिकों द्वारा प्रतिपादित जीव का मध्यम परिमाण-वाद मुक्तिसंगत नहीं प्रतीत होता। अद्वैत आचार्यों ने मध्यम परिमाणवाद का जोरदार खण्डन किया है। यहाँ तक कि रामानुज आदि वैष्णव दार्शनिकों ने भी इस सिद्धान्त का अपने-अपने ग्रन्थों में खण्डन किया है। उनकी खण्डन युक्तियाँ भी पूर्वोक्त प्रकार की ही हैं।[2]

जीवविषयक अणुपरिमाण का खण्डन—रामानुज, मध्व तथा निम्बार्क आदि दार्शनिक जीव को अणुपरिमित मानते हैं। उपनिषदों में जीव के लिए 'अणु' शब्द का बहुत प्रयोग हुआ है "एषोऽणूरात्माचेतसावेदितव्यो···इत्यादि, मुण्डक उपनिषद् 3।1।9, बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च भागो जीव···इत्यादि श्वेताश्वर उपनिषद् 5।9" आदि उपनिषदों के अनेक स्थलों में जीव को अणु कहा गया है। अणु जिस प्रकार अति-सूक्ष्म होता है, उसी प्रकार जीव भी सूक्ष्म है। उसे बालाग्रशतभाग का भी शत भाग कहा गया है। उपनिषदों में जीव के विषय में कहा गया है कि वह शरीर से निर्गत होकर परलोकगमन करता है। पुनः परलोक से आगमन करता है। अर्थात् शरीर से शरीरान्तर को जाता है।[3] इस प्रकार गमनागमन आदि अणुपरिमित जीव का ही सम्भव है, विभु परिमाण जीव के लिए गमनागमन सम्भव नहीं, क्योंकि आकाश का गमनागमन नहीं हुआ करता। जो सर्वव्यापी है, उसके विषय में गमनागमन कथन निरर्थक है। वह तो सर्वदेश में पहले से ही स्थित है। गति सीमित की ही हो सकती है। उपनिषदों में तथा ब्रह्मसूत्र में भी जो जीव के विषय में गति का उल्लेख मिलता है,[4] उससे यह सिद्ध होता है कि जीव अणुपरिमित है।[5] अद्वैत सिद्धिकार ने जीव अणुत्ववाद को पूर्व पक्ष के रूप में अनुमान द्वारा

1. ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्यभामती, पृ० 563
2. मनुजशरीरपरिमाणोजीवोमातंगदेहं कृत्स्नं प्रवेष्टुं न प्रभवेत्···इत्यादि, सर्वदर्शन-संग्रह, रामानुज दर्शन, पृ० 184
3. बृहदारण्यक उपनिषद् 6।4।2, कौषीतकी उपनिषद् 1।2 तथा बृहदारण्यक उपनिषद् 6।4।6
4. उत्क्रान्ति गत्यागतीनाम्, ब्रह्मसूत्र 2।3।18
5. सिद्धान्त लेश संग्रह, पृ० 398

प्रस्तुत किया है—जैसे 'जीव व्यापक नहीं है, उत्क्रान्तिमान् होने से, गतिमान् होने से, क्रियावान् होने से, पक्षी के शरीर के समान।[1] अर्थात् जीव की उत्क्रान्ति होती है, जीव गतिमान् है, जीव क्रियावान् है, इसलिए व्यापक नहीं है। जिस प्रकार पक्षी का शरीर गतिशील है, क्रियावान है और वह व्यापक भी नहीं होता, उसी प्रकार जीव के विषय में भी समझना चाहिए। व्यापक होने पर उसमें गति आदि सम्भव नहीं।

उक्त जीवाणुत्ववाद का अद्वैत वेदान्तियों ने अपने-अपने ग्रन्थों में खण्डन किया है। आचार्य शंकर ने 'तद्गुणसारत्वात्तु तद्व्यापदेशः प्राज्ञवत्' 2।3।29 सूत्र के भाष्य में उक्त अणुवाद का खण्डन किया है।[2] उनका कहना है कि जीवात्मा को अणु परिमाण मानने पर वह सर्वांग शरीर में व्याप्त नहीं रह सकता। चेतना जीवात्मा का गुण है और वह सम्पूर्ण गुणी में व्याप्त रहती है। चेतना की उपलब्धि सम्पूर्ण शरीर में होती है। सर्दी, गर्मी की अनुभूति सर्वांग शरीर में होती है। यदि जीव अणुपरिमाण होता तो उसकी स्थिति शरीर के किसी एक अंग में होती तथा सम्पूर्ण शरीर में चेतना की उपलब्धि सम्भव न होती। गुण कभी भी गुणी को छोड़कर नहीं रहता,[3] इसलिए जीवात्मा को अणु नहीं कहा जा सकता। श्रुति में जीव को कहीं पर अणु कहा है, तो कहीं पर 'स वा एष महानज आत्मा' बृ० उपनिषद् 4।4।22,' 'महतो महीयान्' कठ उपनिषद्, इत्यादि श्रुतियों द्वारा जीव को महान् अर्थात् विभु भी कहा गया है। इससे जीव विभु है, यह सिद्ध होता है। यदि जीवाणुत्ववादी यह कहे, कि प्रदीप प्रभा के समान एक स्थान में रहता हुआ भी जीव की चेतना सर्व शरीर में हो सकती है, तो भी संगति नहीं बैठती।[4] प्रदीप प्रभा स्वयं द्रव्य है। प्रदीप की ज्वाला तथा प्रदीप की प्रभा दोनों द्रव्य हैं। उनमें गुण-गुणी भाव नहीं है। जहाँ प्रदीप की प्रभा होती है वहाँ भी तेज द्रव्य होता है अन्यथा पृथ्वी को छोड़कर गन्ध रहने लग जायेगी। और गुण-गुणी का जो अनिवार्य सम्बन्ध है, वह भंग होगा। इसी प्रकार अणुत्ववादी चन्दन बिन्दु का दृष्टान्त देते हैं। चन्दन बिन्दु जिस प्रकार शरीर के एक अंश में रहकर भी सम्पूर्ण शरीर में सुगन्ध एवं शीतलता से आनन्द का संचार करता है, उसी प्रकार जीव भी शरीर के एक अंश हृदय में स्थित रहकर सम्पूर्ण देह में चेतना का संचार करता है। इसलिए अंगुष्ठ मात्र पुरुष होता हुआ भी उसकी चेतना सर्व शरीर में हो सकती है।[5] न्यायमत के अनुसार चन्दन गन्धवत्द्रव्य है, गन्ध उसका गुण। जहाँ चन्दन होगा वहाँ चन्दन की गन्ध भी होगी। इस प्रकार गन्ध गुण चन्दन को छोड़कर नहीं रह सकता। यदि चन्दन की सुगन्धि सर्व शरीर में उपलब्ध है तो सूक्ष्म रूप से चन्दन के कण भी सर्व शरीर में व्याप्त होंगे, क्योंकि गुणी के बिना गुण नहीं रहता। इस नियम के अनु-

---

1. अद्वैतसिद्धि, पृ० 851
2. ब्रह्म सूत्र शांकरभाष्य, भामती भी, पृ० 609-611
3. गुणत्वमेव हि गुणिनमनाश्रित्य गुणस्य हीयेत। ब्रह्म सूत्र-शांकरभाष्य, पृ० 609
4. तेषामणुत्वेऽपि ज्ञान सुखादीनां प्रदीपप्रभान्यायेन···सुखानुपलब्धिः। सिद्धान्तलेश-संग्रह, पृ० 398-399
5. ब्रह्मसूत्र-माध्वभाष्य, सूत्र 2।3।23

सार पार्थिव द्रव्य चन्दन को छोड़कर गन्ध गुण नहीं रह सकता, इसीलिए चन्दन का दृष्टान्त भी उपयुक्त नहीं है। चेतना गुण चैतन्य आत्मा को छोड़कर नहीं रह सकता। घट को छोड़कर घट का रूप कभी भी पृथक् नहीं रह सकता। अतः यह मानना होगा कि जीव की व्याख्या अणु परिमित करके नहीं हो सकती।[1]

इसी प्रकार पुष्प गन्ध का दृष्टान्त भी जीवाणुवाद को सिद्ध करने में समर्थ नहीं हो सकता। जब पुष्प को छोड़ करके अन्यत्र गन्ध मिलती है, गन्ध के साथ उन-उन स्थलों में पुष्प रेणु भी घ्राण का विषय बनते हैं, अत्यन्त सूक्ष होने के कारण पुष्प रेणु प्रत्यक्ष नहीं होते। द्रव्यनिराश्रित गन्ध का ग्रहण वहाँ पर भी नहीं होता। आचार्य शंकर ने 'व्यतिरेको गन्धवत्' 2।3।26 ब्र० सू० भाष्य में तथा अद्वैतसिद्धिकार ने अद्वैतसिद्धि में युक्ति और तर्कों से पुष्परेणु वाले दृष्टान्त का खण्डन किया है।[2] यहाँ पर एक बात और ध्यान देने की है कि आत्मा निरवयव तत्त्व है। दृष्टान्तों में जिन तत्त्वों का उल्लेख है, वे सावयव द्रव्य हैं। इसलिए भी दृष्टान्त निरवयव आत्मा की चेतना की व्याख्या स्पष्ट करने में असमर्थ हैं। जीवाणुत्ववादी कहते हैं कि स्पर्शेन्द्रिय सर्व शरीर व्यापी है। आत्मा अणुपरिमित होने पर भी चन्दन आदि के स्पर्श में स्पर्शेन्द्रिय के माध्यम से चन्दन आदि के स्पर्श को हृदय में स्थित होकर भी ग्रहण कर सकती है। स्पर्शेन्द्रिय के साथ चन्दन का संयोग होता है तथा आत्मा के साथ स्पर्शेन्द्रिय का। इस प्रकार समग्र शरीर में चन्दनहेतुक सुख-स्पर्श की उपलब्धि होने में बाधा नहीं है। इसके उत्तर में विभुत्ववादी कहते हैं कि वृहत् एवं अणु के संयोग होने पर अणु परिमित वस्तु बृहत् वस्तु को व्याप्त नहीं कर सकती। बृहत् वस्तु के किसी अंश में अणु परिमित वस्तु का संयोग होगा। जब पैर के नीचे काँटा लगता है, उस कंटक संयोग से पैर के तले में कष्ट होता है। कष्ट समग्र शरीर में नहीं होता।[3] इससे यह सिद्ध होता है कि अणुत्व का संयोग बृहद् वस्तु के साथ सर्वव्यापी नहीं होता। ऐसी स्थिति में अणु जीवात्मा की सर्वशरीर व्यापी स्पर्शेन्द्रिय के संयोगहेतुक सर्वशरीर व्यापी उपलब्धि नहीं मानी जा सकती। चेतना की उपलब्धि सर्वशरीर में होती है। इसीलिए जीव को विभु ही मानना। आत्मा को अणु मानने पर अद्वैतसिद्धिकार मधुसूदन सरस्वती का आक्षेप है कि एक ही समय में पैर में सुख और सिर में कष्ट का अनुभव नहीं हो सकेगा।[4] अद्वैतवाद के अनुसार जीवात्मा विभु है तथा चेतना आत्मस्वरूप है। समग्र शरीर में चेतना की उपलब्धि होने का अर्थ है कि समग्र शरीर में आत्मा का अस्तित्व।

जीव विभु परिमित है—हमने पूर्व ही निवेदन किया था कि उपनिषदों में जीव अणु परिमित और विभु परिमित प्रतिपादक वचन मिलते हैं। कहीं पर अंगुष्ठ परिमित पुरुष आत्मा है जो कि हृदय के अन्दर रहता है, कहा गया है। कहीं पर अणु और महत्

---

1. अद्वैतसिद्धि, पृ० 853
2. वही, पृ० 853
3. ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य तथा भामती, पृ० 609
4. अद्वैतसिद्धि तथा लघु चन्द्रिका, पृ० 853

से महत्तर जीव को कहा गया है।[1] इन सब परस्पर विरोधी श्रुतिवाक्यों की मीमांसा आचार्य शंकर ने तथा उनके अनुयायी टीकाकारों ने ब्रह्मसूत्र 2।3।।9-28 में की है। उन लोगों का जीव परिमाण के विषय में मूल वक्तव्य यह है कि जीवात्मा के अणुपरिमाण के समर्थन में अणुवादियों ने जो तर्क प्रस्तुत किये हैं, विश्लेषण करने पर वे टिकते नहीं। अद्वैत के अनुसार परमेश्वर एवं जीवात्मा में वस्तुतः भेद नहीं है। जो कुछ भी भेद दिखाई देता है, वह अन्तःकरण उपाधि के कारण है। परमात्मा विभु परिमाण है, इसलिए वस्तुतः जीव भी विभु परिमाण है। उपनिषदों में जहाँ-जहाँ पर जीव को अणु परिमित कहा गया है, वहाँ उपाधि को लेकर के ही ऐसा कहा गया है। श्वेताश्वतर में स्पष्ट भाषा में कहा है 'बुद्धेर्गुणेनात्म गुणेन चैव आराग्र मात्रो ह्यवरोऽपिदृष्टः 6।8' अर्थात् अणुत्व बुद्धि का गुण है, उसको आत्मा में आरोपित करके आत्मा का गुण कहा जाता है। वस्तुतः आत्मा विभु है, फिर भी आराग्र परिमित-सा लगता है। उपनिषदों में हृदय को गुहा तथा जीव देह को ब्रह्मपुर कहा है। ब्रह्मपुर में दहर आकाश है, ऐसा छान्दोग्य उपनिषद् में कहा है।[2] वह दहर आकाश अति सूक्ष्म है। सूक्ष्म दहर आकाश जीव चैतन्य की उपाधि है, इसीलिए उपाधि की सूक्ष्मता के कारण जीव को भी अणु कहा जाता है। उपाधि के कारण ही जीव को अंगुष्ठ मात्र भी कहा जाता है। परिमलकार अप्पय दीक्षित ने दहर शब्द के द्वारा औपाधिक अणुत्व का ही प्रतिपादन हुआ है, ऐसा परिमल में दहर अधिकरण की व्याख्या के प्रसंग में कहा है। स्वाभाविक रूप से जीव व्यापक है, यही तात्पर्य है।[3] जीवविषयक उत्क्रान्ति भी स्वाभाविक नहीं है, अपितु औपाधिक है। आत्मा में वस्तुतः गमन-आगमन सम्भव नहीं हैं। प्राण-उपाधिवश उत्क्रान्ति आदि आत्मा में मानी जाती हैं।[4]

आत्मा के परिमाण के विषय में न्याय-वैशेषिक भी विभुवादी हैं, यह पहले ही कहा जा चुका है। अद्वैत वेदान्ती आत्मा के परिमाण के विषय में न्याय-वैशेषिकों का ही अनुसरण करते हैं। वैष्णव वेदान्तियों को मध्यम परिमाण तथा विभु परिमाण पसन्द नहीं हैं। शास्त्रप्रमाण खोजने पर दोनों ही प्रमाण मिलते हैं। ऐसी स्थिति में जीव के परिमाण के विषय में क्या निष्कर्ष निकाला जाय? अद्वैत वेदान्तियों ने तथा वैष्णव वेदान्तियों ने भी जैन दर्शन अभिप्रेत मध्यम परिमाण का खण्डन किया है। क्या जैन दार्शनिक जीवात्मा के विषय में वैसा ही परिमाण मानते हैं, जैसा कि घटादि भौतिक वस्तुओं का? ऐसा निश्चित ही नहीं मानते। आत्मा अभौतिक तत्त्व है। अभौतिक तत्त्व जब किसी शरीर के साथ संयुक्त होता है तब उसे उस शरीर का परिमाण मान लेने में क्या उसमें अवयव मानने पड़ेंगे? जो बात भौतिक वस्तुओं के विषय में अर्थात् भौतिक परिमाण के विषय में

---

1. अंगुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः। श्वेताश्वर उप० 3।13 तथा नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मम्। मुण्डक उपनिषद् 1।1।6
2. ब्रह्म सूत्र शांकर भाष्य, पृ० 289-290
3. तत्र प्रथमं ब्रह्मणो दहर शब्देनाणुत्वमुक्त्वा तस्योपाधिकमणुत्वं, स्वाभाविकंतु व्यापकमिति। कल्पतरु परिमल, पृ० 298
4. ब्रह्म सूत्र शांकर भाष्य, पृ० 610 तथा 611

लागू की जाती है, क्या वे ही बातें अभौतिक तत्त्व के विषय में भी लागू की जाएँगी ? हमारे विचार में आत्मा के अभौतिक तत्त्व होने के कारण तद्विषयक परिमाण का विवाद ही खड़ा नहीं होना चाहिए। आत्मा के विषय में मध्यम परिमाण, अणु परिमाण तथा विभु परिमाण भी औपाधिक माना जाना चाहिए, क्योंकि परिमाण वस्तुतः भौतिक पदार्थ का ही हो सकता है। आत्मा का जब परिमाण हो ही नहीं सकता, तब आत्म-विषयक तीनों ही परिमाण आरोपित हैं। अर्थात् काम चलाऊ हैं। जिस प्रकार रामानुज आदि द्वारा प्रतिपादित जीवविषयक अणुत्ववाद आरोपित है, उसी प्रकार महत् परिमाण भी आरोपित ही समझना चाहिए, क्योंकि महत् परिमाण युक्त जितने भी तत्त्व हमें दिखते हैं, अर्थात् प्रतीत होते हैं वे सब भौतिक तत्त्व हैं—जैसे आकाश काल, दिक्। अद्वैत के अनुसार आत्मा अतिभौतिक है, इसीलिए आत्मा में जो विभु-परिमाण है, वह विभु परिमाण आत्मा को परिमित नहीं करता है। अपरिमित का परिमाण कैसे ? इसीलिए अणुवादी को भी यही कहना कि आत्म-विषयक अणु परिमाण आरोपित है। किन्हीं भौतिक तत्त्वों के सम्पर्क में आकर आत्मा अणु परिमित होती है। इस अर्थ में अर्थात् भौतिक तत्त्वों के सम्पर्क में आने पर जीवात्मा को अणु परिमाण से अवच्छिन्न अद्वैत वेदान्ती भी मानने को तैयार हो जाएँगे, क्योंकि अध्यस्ततया आत्मा में अणुत्वादि भी सम्भव है। अध्यास को लेकर आत्मा में शरीर परिमाण अद्वैत वेदान्त के अनुसार भी सम्भव हैं, क्योंकि अध्यस्त व्यक्ति 'मैं साढ़े तीन हाथ का हूं' इस प्रकार अहं-प्रत्यय द्वारा देहपरिमाण का बोध करता है। इसके विपरीत विभु परिमाण का बोध हमें नहीं हो पाता। अर्थात् जीवात्मा के विषय में विभु परिमाण की उपलब्धि नहीं होती। मेरे कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि युक्ति से आत्म-विषयक विभु परिमाण की सिद्धि न होती हो। तात्पर्य इतना ही है कि वस्तुतः आत्मा अपरिमित है। अपरिमाण का नाम यदि विभु परिमाण दिया जाता है, तब तो कोई बात नहीं, पर यह बात ध्यान में रखनी है कि आकाशविषयक विभु परिमाण में हम आकाश को किसी-न-किसी प्रकार परिमित करके बुद्धिगम्य बनाने का प्रयास करते हैं। आकाश के दृष्टान्त से आत्म-विषयक किसी प्रकार विभ्रम नहीं होना चाहिए। आत्म-विषयक विभु परिमाण में अन्तःकरण आदि उपाधि को मानकर प्रतिकर्म-व्यवस्था तथा व्यक्तिभेद निमित्त सुख-दुःखादि की व्यवस्था हो जाती है। इसी कारण भैरवदत्त के दुःख में यज्ञदत्त दुःखी नहीं होता तथा यज्ञदत्त के सुख में सुखानुभूति भैरवदत्त को नहीं होती, जबकि अद्वैत के अनुसार आत्मा विभु है। आत्मा वस्तुतः विभु है और स्वरूपतः विभु है, औपाधिक अणुत्व, मध्यम परिमाणत्व तथा अंगुष्ठमात्रत्व आदि उपाधिविशिष्ट परिमाणों को तो अद्वैत आचार्य भी स्वीकार करते हैं—जैसा कि ब्रह्मसूत्र परिमल पृ० 298 से हमने अप्पय दीक्षित का उद्धरण इतः पूर्व दिया है।

एक-जीववाद तथा अनेक-जीववाद—जीव के विषय में न्याय-वैशेषिक, सांख्ययोग तथा वैष्णव वेदान्तीगण नाना जीववादी हैं। इन दार्शनिकों के अनुसार प्रत्येक शरीर में भिन्न-भिन्न जीव हैं। असंख्य जीव अपने कर्मफल के अनुसार जन्म-मरण के चक्र में नाना योनियों में भ्रमण करते हैं तथा मुक्ति अवस्था में इन दार्शनिकों के अनुसार जीव अपना व्यक्तित्व ईश्वर तथा अन्य जीवों से भिन्न बनाये रखता है। अनीश्वरवादी सांख्य भी जीव

को नाना मानते हैं। यद्यपि सांख्य दर्शन के अनुसार अन्तःकरण आदि उपाधि रहित अर्थात् प्रकृति से विविक्त पुरुष सब एकजातीय हैं, तथापि सांख्य उन्हें नाना मानता है।

अद्वैत वेदान्त के अनुसार जीव वस्तुतः ब्रह्मस्वरूप है। इसलिए व्यावहारिक रूप में जीवभाव को स्वीकार किया जाता है। यह जीव एक है या अनेक, इस विषय में अद्वैत आचार्यों में मतभेद है। कुछ अद्वैत आचार्य अविद्या को एक मानते हैं तथा उनके अनुसार एक अविद्या से उपहित चेतन एक ही जीवभावापन्न होता है, इसीलिए वे लोग एक जीववाद के पक्षपाती हैं। अन्य अद्वैत आचार्य अविद्या के एक होते हुए भी नाना अन्तःकरणों को लेकर एक ही शुद्ध चेतन के नाना जीवभावों को स्वीकार करते हैं। इस मत को अनेक-जीववाद कहते हैं।

एक-जीववाद—एक जीववादी के अनुसार एक अविद्या में उपहित चैतन्य ही जीव है। नाना जीव जो कि दिखाई देते हैं, वे सब स्वप्नों में देखे जाने वाले प्राणियों के समान वस्तुतः निर्जीव हैं। मानो एक जीव को स्वप्न में नाना जीवों का दर्शन हो रहा हो। यह समस्त जगत् भी उसी एक जीव का सपना है। जब तक अविद्या का विनाश नहीं होता, स्वप्न नहीं टूटता। अविद्या के विनाश होते ही नाना जीव-जगत् का दर्शन समाप्त हो जाता है तथा अविद्या में उपहित एक जीव मुक्त हो जाता है। जीव-जगत् का सम्पूर्ण व्यवहार जब तक अविद्या का नाश नहीं होता, तभी तक है।[1] इस मत में एक-जीव होने के कारण बद्ध-मुक्त-व्यवस्था भी स्वप्न में ही है। यदि कोई प्रश्न करे कि एक जीववाद में द्वितीय कोई नहीं है तो एकमात्र जीव को ब्रह्मविद्या का उपदेश कौन करेगा? और उपास्य पृथक् न होने के कारण उपासक एवं उपास्य भाव कैसे हो पायेगा? इसके उत्तर में एक-जीववादी का कहना है कि जिस प्रकार स्वप्न में सभी व्यवहार देखे जाते हैं, उसी प्रकार कल्पित गुरु-शिष्य भाव, उपासक-उपास्यभाव, आदि समस्त व्यवहार हो सकते हैं। शास्त्र में शुक-मुक्ति आदि जो सुना जाता है, वह भी कल्पित ही समझना चाहिए। एक जीववादी का परामर्श है कि इस सिद्धान्त में जितने भी प्रकार की शंकाएँ उत्पन्न होती हैं उन सबका समाधान अर्थात् शंकारूपी पंक का प्रक्षालन स्वप्नदृष्टान्तरूप जलधारा से कर लेना चाहिए।[2] इस एक-जीववाद में कुछ अद्वैत आचार्य सूत्रात्मा हिरण्यगर्भ को ही प्रधान जीव कहते हैं। अन्य सभी जीवों को जीवाबास मानते हैं। वह हिरण्यगर्भ शुद्ध ब्रह्म का ही प्रतिबिम्ब है। जिस प्रकार चित्रपट में लिखित मनुष्यमूर्ति के वस्त्र वस्तुतः वस्त्र नहीं होते, वस्त्राभास होते हैं, उसी प्रकार हिरण्यगर्भ के प्रतिबिम्बभूत समस्त जीव जीवाभासमात्र हैं, मुख्य जीव नहीं। इस जीववाद को 'सविशेष-अनेक-शरीरैक-जीववाद' कहते हैं।[3] इस मत में यह आपत्ति हो सकती है कि यदि सभी शरीरों में एक ही जीव अधिष्ठित है तो एक

1. केचिदाहुः एको जीवः चैकमेव शरीरं सजीवम्···इत्यादि, सिद्धान्त लेश संग्रह, पृ० 121
2. अत्र च संभावितसकलशंकापंकप्रक्षालनं स्वप्नदृष्टान्त सलिलधारयैव कर्त्तव्यमिति। वही, पृ० 121
3. वही, पृ० 122, 123

शरीर का सुख-बोध अन्य शरीरों में क्यों नहीं उत्पन्न होता ? राम के शरीर में जो जीव है, श्याम के शरीर में भी वही जीव है, ऐसी स्थिति में जो राम को सुख-दुःख-बोध होता है, वही सुख-दुःख-बोध श्याम को क्यों नहीं होता ? एक जीववादी का उत्तर है कि देहान्तर में सुख-दुख की उपलब्धि का प्रतिबन्धक वहाँ पर भिन्न शरीर है। शरीर-भेद होने के कारण एक शरीर का सुख-दुःख बोध दूसरे शरीर में नहीं होता। इस बात को अनेक जीववादी को भी स्वीकार करना होगा। अनेक जीववादी के अनुसार भी एक ही जीव जो पूर्व जन्म में किसी अन्य शरीर को लेकर था, वही इस जन्म में राम के शरीर में है। पूर्व जन्म में जो जीव था, वही जीव जब इस जन्म में राम के शरीर में है तो जीव के एक होने पर राम के शरीर में स्थित जीव अपने पूर्वजन्म के सुख-दुःखों का बोध क्यों नहीं करता ? अथवा पूर्व जन्म की बातों को क्यों नहीं स्मरण करता ? यहाँ पर एक ही उत्तर हो सकता है कि शरीर-भेद होने के कारण अनुभव-भेद होता है। दूसरी बात एक और है कि एक-जीववादी के अनुसार जीव विभु परिमित है, इसलिए वह एक शरीर में सीमित नहीं है। ऐसी स्थिति में राम के शरीर में सुख-दुःख-बोध श्याम के शरीर में स्थित जीव को क्यों नहीं होता ? इसका उत्तर अनेक जीववादी भी नहीं दे सकते। इसलिए शरीर-भेद को अन्य के सुख-दुःख-बोध होने में प्रतिबन्धक मानना ही होगा।[1]

संक्षेपशारीरककार सर्वज्ञात्ममुनि ने एक-जीववाद का समर्थन करते हुए भी बद्ध-मुक्त व्यवस्था का प्रतिपादन किया है। सर्वज्ञात्ममुनि प्रतिबिम्बवादी हैं। उनके अनुसार अविद्या में चित्प्रतिबिम्ब ही जीव है। अविद्या एक है, इसलिए अविद्या प्रतिबिम्ब जीव भी एक है। एक अविद्या में नाना प्रतिबिम्ब नहीं पड़ सकते। परन्तु अन्तःकरण नाना हैं तथा अविद्या में कल्पित हैं। अन्तःकरणों द्वारा अविद्या में प्रतिबिम्बित एक जीव भी भिन्न-भिन्न जीवों के रूप में प्रतिभासित होता है और इस प्रकार जिस अन्तःकरण में ब्रह्म-साक्षात्कार होता है, उसी अन्तःकरण में अविद्या का नाश होता है तथा वह जीव मुक्त होता है। अन्य अन्तःकरणों में स्थित जीव मुक्त नहीं होते। इसी प्रकार सुख-दुःख की व्यवस्था भी अन्तःकरण के भेदों को मानकर हो जाती है। अन्तःकरणों को मानकर उपास्य-उपासक आदि भाव भी बन जाते हैं।

इस प्रकार एक-जीववाद में भी काल्पनिक बद्ध-मुक्त-व्यवस्था तथा सुख-दुःखानुभूति में किसी प्रकार की असंगति नहीं होती तथा 'अथब्रह्मैव संसरति ब्रह्मैवमुच्यते' इत्यादि श्रुति भी चरितार्थ होती है।

अनेक-जीववाद:—अनेक-जीववादी अद्वैताचार्यगण एक जीववाद के द्वारा दी गयी बद्धमुक्ति की व्यवस्था की युक्ति से असन्तुष्ट होकर अनेकजीववाद के पक्ष में तर्क प्रस्तुत करते हैं। उनका कहना है कि ब्रह्मात्मैक्य-बोध तथा मुक्ति के लिए शास्त्रों का उपदेश है। इसलिए उपास्य-उपासक-भाव आदि व्यवस्थाओं को कल्पना कहकर समाप्त नहीं किया जा सकता। श्रुति में 'तद्योदेवानां प्रत्युबुध्यत स एव तदभवत्' अर्थात् देवताओं के बीच

---

1. सिद्धान्त लेश संग्रह, पृ० 124
2. संक्षेप शारीरक, श्लोक 2।163

में जिस देव ने आत्मा का साक्षात्कार किया है, वह ब्रह्मरूप हो गया है, वह मुक्त हो गया है, इत्यादि मुक्ति के विषय में प्रमाण मिलते हैं तथा स्मृति में भी 'यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम' (गीता)[1] मुक्ति के विषय में कहा गया है। इसलिए श्रुतिस्मृति-शास्त्रों में प्रतिपादित बद्धमुक्त-व्यवस्था को बनाये रखने के लिए अनेक-जीववाद अधिक संगत है। 'प्रतिषेधादिति चेन्न शारीरात् ब्र० सू० 4।2।12' इस सूत्र के भाष्य में आचार्य शंकर ने भी जीवविषयक बन्धनमुक्ति का समर्थन किया है। एक-जीववादी अद्वैताचार्य सर्वज्ञात्म-मुनि, मधुसूदन सरस्वती आदि प्रमुखाचार्यों को भी अन्तःकरण उपाधि को लेकर ही सही, औपाधिक अनेक-जीववाद तो स्वीकार करना ही पड़ा है।[2] उन लोगों ने भी अन्तःकरण को जीव का विशेष अभिव्यक्ति-स्थान स्वीकार किया है। जीव-भेद जब प्रत्यक्ष अनुभूत है तब प्रत्यक्ष-सिद्ध अनेक जीव मान लेने में क्या दोष है? इस मत में भी अज्ञान को वस्तुतः एक मानने पर बद्धमुक्त-व्यवस्था का समाधान नहीं हो पाता। इसीलिए अविद्यांश स्वीकार किया जाता है। अज्ञान एक होने पर भी वह निरंश नहीं है। अज्ञान के अंश से बद्धमुक्ति की व्यवस्था हो जाती है। आचार्य शंकर ने जीवन्मुक्ति तथा विदेहमुक्ति स्वीकार की है। जीवन्मुक्ति अवस्था में अज्ञान का लेश रह जाता है। उस अज्ञान के लेश के कारण शरीर चलता रहता है। एक जीव के मुक्त होने पर अविद्या एकांश में नष्ट होती है। अन्यांशों में अविद्या के बने रहने से जीव-जगत् भाव भी बना रहता है।[3] जिस उपाधि को अथवा अन्तःकरण को लेकर ब्रह्मसाक्षात्कार होता है, उसी उपाधिगत जीव की मुक्ति होती है, अन्य की नहीं। अज्ञान के साथ सम्पर्क ही बन्धन है और अज्ञानसम्पर्कविच्छेद ही मुक्ति है। इसीलिए एक अज्ञान पक्ष में भी अज्ञान के साथ जिस जीव का सम्बन्ध होता है, वह बद्ध और जिसका सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है, वह मुक्त होता है। जिस प्रकार घटत्वजाति समस्त घटों में होती है, उसी प्रकार अज्ञान एक होकर भी समस्त अन्तःकरणों में विद्यमान होता है। जिस प्रकार एक घट के नष्ट होने पर उस घट में घटत्व नहीं रहता, अपितु अन्य घटों में रहता है, उसी प्रकार एक जीवगत अज्ञान के नष्ट होने पर अन्य जीवों में अज्ञान बना ही रहता है। इस प्रकार एक अज्ञान पक्ष में जीवन्मुक्ति तथा बद्धभाव की व्यवस्था हो जाती है। जो आचार्यगण अज्ञान को नाना मानते हैं, उनके अनुसार नाना अज्ञानों में से एक के नष्ट होने से एक जीव मुक्त होता है, शेष बन्धन में रहते हैं।

वस्तुतः एक-जीववाद तथा अनेक-जीववाद में कोई महान् अन्तर नहीं है। ये दोनों ही वाद अविद्याविषयक सिद्धान्त को लेकर प्रवृत्त हुए हैं। शुद्ध चैतन्य एक है तथा वास्तविक रूप से अविद्या भी एक है। जो लोग अविद्या को नाना मानकर नाना अविद्याओं में प्रतिबिम्बित एक शुद्ध चैतन्य को नाना जीवों में मान लेते हैं, उनके अनुसार प्रत्येक अविद्या को एक अन्तःकरण मान करके उससे सीमित चेतन को जीव कहने पर उसकी मुक्ति में दूसरों की मुक्ति का प्रसंग नहीं होगा। अविद्या को नाना मानने वाले आचार्य भी वस्तुतः

---

1. गीता, 15।6
2. ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य, पृ० 977 सिद्धांत लेश संग्रह, पृ० 125, 126
3. सिद्धान्त लेश संग्रह, पृ० 126

अर्थ में एक ही मानते हैं। जो लोग अविद्या को एक मानते हैं वे भी सम्पूर्ण अन्तःकरणों में उसको व्यापक मानते हैं। इसलिए भी अन्तःकरणों को लेकर भी जीव-भेद की व्यवस्था हो जाती है। चाहे एक अविद्या मानकर उसे खण्ड-खण्ड रूप में विभाजित मानें, चाहे अखण्डरूप से सभी अन्तःकरण में उसे व्यापक मानें, दोनों स्थितियों में जीव-भेद, बद्धमुक्त व्यवस्था आदि में किसी प्रकार की असंगति नहीं है। इसीलिए एक जीववादी भी औपाधिक रूप से अनेक-जीववाद को स्वीकार करते हैं। तथा अनेक-जीववादी को भी वास्तविक रूप से एक-जीववाद को स्वीकार करना पड़ता है। आचार्य वाचस्पति मिश्र के अनुसार दोनों वादों में समन्वय हो जाता है। उन्होंने भामती में कहा है कि आत्मा के एक होने पर भी उन-उन बुद्धि-भेदों के कारण भिन्न-भिन्न लगता है, शुद्ध होने पर भी अशुद्ध लगने लगता है, मुक्त होने पर भी बद्ध लगता है। अविद्या को एक मानने पर भी सांख्य के प्रधान के समान सर्व जीवों में उसे एक नहीं कहते जिससे कि बद्ध मुक्त व्यवस्था न हो सके। प्रत्येक जीव में अविद्या-भेद औपाधिक रूप से मान लेने पर किसी भी प्रकार की असंगति नहीं है।[1] वास्तविक अर्थ में शुद्ध चेतन ही अविद्या के माध्यम से नाना जीवों में प्रतीत होता है। नानात्व अविद्या में अध्यस्त है। इसीलिए नाना जीव अविद्या में कल्पित हैं। फिर भी व्यावहारिक रूप से नाना जीवों को मान लेने से अद्वैतवाद में असंगति नहीं होती। पारमार्थिक रूप से न एक जीव है और न नाना जीव हैं। एकमात्र ब्रह्म ही परमार्थ है। नानात्व, एकत्व और नाना जीववाद, एक-जीववाद मात्र व्याख्या-कौशल है।

जीव कर्तृत्व एवं ज्ञातृत्व—अद्वैत वेदान्ती जीवात्मा के कर्तृत्व, भोक्तृत्व एवं ज्ञातृत्व आदि को आध्यासिक मानते हैं। आध्यासिक होने के कारण वे वस्तुतः आत्मा के धर्म नहीं हैं, अपितु मिथ्या हैं। जीवात्मा के कर्तृत्व, ज्ञातृत्व आदि धर्मों के विषय में अद्वैत वेदान्तियों के मत का वैष्णव वेदान्ती रामानुज, मध्व, निम्बार्क आदि सभी ने खण्डन किया है। वैष्णव दार्शनिकगण आत्म-विषयक कर्तृत्व, ज्ञातृत्व आदि को वास्तविक मानते हैं। उनके अनुसार आत्मा यथार्थरूप में कर्तृत्व, ज्ञातृत्व गुण वाला है। रामानुज आचार्य ने अपने श्रीभाष्यजिज्ञासाधिकरण के महासिद्धान्त में आत्मा के ज्ञातृत्व आदि गुणों को वास्तविक सिद्ध किया है। उनके अनुसार आत्मा ज्ञाता, भोक्ता तथा कर्ता है।[2] रामानुज के समान निम्बार्क दार्शनिकगण भी आत्मा के उक्त गुणों को यथार्थ मानते हैं। आचार्य माधवमुकुन्द ने भी अपने परपक्षगिरिवज्र ग्रन्थ में अहमर्थ के अनात्मत्व का खण्डन किया है तथा आत्म-विषयक कर्तृत्व, भोक्तृत्व तथा ज्ञातृत्व को यथार्थ बतलाया है एवं उनके अध्यस्त होने का खण्डन किया है। द्वैत वेदान्ती जयतीर्थ ने बादावली में तथा व्यासराज ने न्यायामृत में उक्त कर्तृत्व-ज्ञातृत्व-अध्यासवाद का जोरदार शब्दों में प्रत्याख्यान किया है। इन सभी दार्शनिकों का कहना है कि आत्मा में अहमर्थ स्वाभाविक है, मिथ्या नहीं। इसी प्रकार ज्ञानकर्तृत्व आदि भी आत्मा में स्वाभाविक गुण हैं। जीव-

---

1. वेदान्त-प्रक्रिया-प्रत्यभिज्ञा, भामती प्रस्थान परीक्षा, पृ० 407
2. श्रीभाष्य, महासिद्धान्त पक्ष द्रष्टव्य

कर्तृत्व तथा ज्ञातृत्व अद्वैत वेदान्त के अनुसार मिथ्या हैं। आचार्य शंकर ने अहं-मम आदि लोक-व्यवहार अध्यासपूर्वक हैं, ऐसा अपने ब्रह्मसूत्र भाष्य में कहा है।[1] उनके अनुसार अहं-व्यवहार भी अध्यासपूर्वक है, इसलिए अहं आत्मा नहीं है। आचार्य मधुसूदन सरस्वती ने अद्वैतसिद्धि में आत्मा के उक्त गुणों को अध्यस्त ही कहा है। उन्होंने अनेक युक्ति तर्कों द्वारा यह सिद्ध किया है कि कर्तृव्य आदि गुण अन्तःकरण उपाधि के कारण हैं। वास्तविक अर्थ में उन गुणों का सम्बन्ध शुद्ध आत्मा से नहीं है। शुद्ध आत्मा तो आकाश के समान निर्लेप है।[2] यदि अहमर्थ आत्मा का वास्तविक स्वरूप होता तो सुषुप्ति अवस्था में आत्मा में उसका अभाव न होता। अद्वैतवाद के अनुसार अहं-प्रत्यय-गम्य आत्मा वस्तुतः अनात्मा है। मधुसूदन सरस्वती ने अद्वैतसिद्धि में अनुमान द्वारा अहमर्थ को अनात्मा सिद्ध किया है। अनुमान इस प्रकार है—'अहमर्थः अनात्मा, अहं-प्रत्यय-विषयत्वात्, शरीरवत्,'[3] अर्थात् अहं पद से जो अर्थ बोधित होता है वह आत्मा नहीं है क्योंकि वह अहं का विषय है—जैसे शरीर। शरीर में अहं शब्द का प्रयोग होता है और शरीर अनात्मा भी है, इसलिए अहं पद-वाच्य आत्मा वस्तुतः आत्मा नहीं है, वह अनात्मा ही है, इसी प्रकार अद्वैत-सिद्धिकार ने अहं पदार्थ को आत्मा से भिन्न रूप में अनुमान द्वारा सिद्ध किया है। अनुमान इस प्रकार है :—अहमर्थः आत्मान्यः, अहं शब्दामिधेयत्वात्, अहंकार शब्दाविधेयवत्'।[4] अर्थात् अहं पदार्थ आत्मा से भिन्न है, क्योंकि वह अहं ज्ञान का विषय है। जिस प्रकार अहंकार शब्द के द्वारा मैं स्थूल हूँ, मैं कृश हूँ, इस प्रकार अहं-प्रत्यय से शरीर का बोध होता है, आत्मा का नहीं, क्योंकि अहं-प्रत्यय-गम्य अध्यस्त आत्मा को आत्मा नहीं कहा जा सकता; जिस प्रकार शरीर में अहं बुद्धि आत्मा नहीं है, उसी प्रकार अहंकार भी आत्मा नहीं है। शरीर को आत्मा भौतिकवादी ही कह सकते हैं।[5] अभौतिकवादी कोई भी दार्शनिक शरीर को आत्मा नहीं कह सकते। इसीलिए अहं शब्द वाच्य आत्मा वास्तविक आत्मा से भिन्न है। वह वास्तविक आत्मा नहीं है। वैष्णव दार्शनिकगणों का कहना है कि अद्वैत वेदान्ती अहंकार के साथ चैतन्य का अध्यास मानते हैं। अध्यास के पश्चात् मिथ्या अहंकार की उत्पत्ति होती है। इसलिए अद्वैत वेदान्ती को मानना होगा कि शुद्ध चैतन्य अध्यस्त अहंप्रत्यय का विषय होगा। जब वह अहं प्रत्यय का विषय होगा तो अनात्मत्व उसमें भी सिद्ध होने लगेगा। इसलिए प्रथम अनुमान दूषित होता है। अद्वैतवादी का उत्तर है कि शुद्ध चैतन्य कभी भी अहं-प्रत्यय का विषय नहीं होता। अधिष्ठान रूप में उसके साथ अहं का मिथ्या संसर्ग भाग-त्याग-लक्षणा से माना जाता है, इसलिए शुद्ध चैतन्य अनात्म नहीं होता। इस प्रकार द्वितीय अनुमान में भी हेतु में वैष्णव वेदान्तीगण हेत्वाभास

---

1. परपक्षगिरिवज्र, अहमर्थानात्मत्वोक्तिनिरसनं तथा कर्तृत्वाध्यास निरसनम् प्रकरण द्रष्टव्य।
2. ब्रह्म सूत्र शांकरभाष्य, पृ० 16, 17
3. अद्वैतसिद्धि, पृ० 607।612
4. वही, पृ० 602, 601
5. वही, पृ० 602

दोष देते हैं। वैष्णव आचार्यगण नाना युक्ति-तर्कों द्वारा आत्मा को ज्ञाता, कर्ता तथा अहं-पदवाच्य सिद्ध करते हैं। परन्तु अद्वैतवेदान्ती आत्मा के उन गुणों को युक्ति-तर्कों द्वारा अध्यस्त ही सिद्ध करते हैं। अद्वैत वेदान्तीगण कहते हैं कि अन्तःकरण के साथ शुद्ध चैतन्य का अध्यास होने के कारण बुद्धि स्थित कर्तृव्य, भोक्तृत्व, ज्ञातृत्व आदि का आत्मा में आरोप होता है। वस्तुतः कर्तृव्य आदि बुद्धि एवं मन के धर्म हैं।[1] इसी कारण अज्ञानवश लोग अकर्ता आत्मा को कर्ता समझ बैठते हैं। आध्यासिक ज्ञातृत्व को लेकर आत्मा को ज्ञाता समझने लगते हैं। वस्तुतः ज्ञातृत्व आत्मा का स्वाभाविक धर्म नहीं है। आत्मा तो ज्ञानस्वरूप है। जीवात्मा में जो अहंकार है, उसके दो अंश हैं, अधिष्ठान रूप में शुद्धचिदंश तथा अन्तःकरण रूप में अविद्या परिणाम अचिदंश। अद्वैत वेदान्ती के अनुसार कर्तृव्य का सम्बन्ध अन्तःकरण के साथ है। बुद्धि में चिदध्यास होने के कारण जीवात्मा अपने आप को अहं-कर्ता के रूप में समझने लगता है।[2] पद्मपाद आचार्य ने पंचपादिका में कहा है कि जिस प्रकार पद्मराग मणि में जपाकुसुम की प्रतिबिम्बभूत लालिमा मिथ्या है, उसी प्रकार आत्मा का अहं-कर्तृत्व मिथ्या है। दूसरे स्थान में पंचपादिका में ही उन्होंने कहा है कि जिस प्रकार स्फटिक मणि में जपाकुसुम के सान्निध्य से लालिमा आती है, उसी प्रकार अन्तःकरण-उपराग से आत्मा में अहं-कर्तृत्व है। वस्तुतः वह मिथ्या ही है।[3]

इस विषय में प्रश्न हो सकता है कि 'कर्ता शास्त्रार्थवत्वात्' ब्र० सू० 2।3।33, 'ज्ञोऽत एव' ब्र० सू० 2।3।18, 'अनुज्ञापरिहारोदेहसम्बन्धाज्ज्योतिरादिवत्' ब्र० सू० 2।3।48, इन सूत्रों में सांख्योक्त अचेतन बुद्धि के कर्तृत्व का खण्डन किया गया है तथा चेतन जीव को कर्ता सिद्ध किया गया है। ऐसी स्थिति में यह क्यों कहा जा रहा है कि बुद्धि का कर्तृत्व आत्मा में आरोपित होता है। क्या ऐसा कहने में पूर्वोक्त सूत्रभाष्य में प्रतिपादित सिद्धान्त का विरोध नहीं होता? इस पर अद्वैत वेदान्तियों का उत्तर है कि 'कर्ता शास्त्रार्थवत्वात्' इस सूत्र-भाष्य में जीव का कर्तृत्व अवश्य बतलाया गया है; परन्तु यह नहीं कहा गया कि कर्तृव्य स्वाभाविक धर्म है। परवर्ती सूत्र 'यथा च तक्षोभयथा' ब्र० सू० 2।3।40 इसके सूत्रभाष्य में आध्यासिक आत्मा का कर्तृत्व स्वाभाविक नहीं है, इस बात का समर्थन 'न स्वाभाविकं कर्तृत्वं आत्मनः सम्भवति' अर्थात् आत्मा का स्वाभाविक कर्तृत्व सम्भव नहीं है, ऐसा कहकर किया गया है।[4] आत्मा का कर्तृत्व नाना युक्तियों द्वारा उक्त सूत्र भाष्य में आध्यासिक सिद्ध किया गया है। आत्मा का कर्तृत्व यदि स्वाभाविक होता तो उसका कर्तृत्व कभी नष्ट नहीं होता तथा आत्मा की मुक्ति सम्भव न होती।[5] आचार्यशंकर ने कर्तृत्व आदि को दुःख-रूप कहा है। कर्तृत्व गुण है, गुण

1. मनसः कर्तृत्वमात्मन्यारोप्यत इति, अद्वैतसिद्धि, पृ० 612
2. पंचपादिका, पृ० 32 मद्रास।
3. वही, पृ० 100, 101 मद्रास।
4. ब्रह्म सूत्र शांकर भाष्य, पृ० 616
5. कर्तृव्य स्वभावत्वे ह्यात्मनो न कर्तृत्वान्निर्मोक्षः सम्भवति, अग्नेरिवोष्ण्यात्, ब्र० सू० शांकर भाष्य, पृ० 616

अर्थात् धर्म के होने पर दुःख भी अवश्य होगा। यदि कर्तृत्व स्वाभाविक है तो दुख से विमुक्ति नहीं हो सकेगी। एक प्रश्न और होता है कि यदि कर्तृत्व आदि बुद्धि से सम्बन्धित है तो उससे जीवात्मा को क्यों दुःख होता है? और मुक्ति की भी क्या आवश्यकता है? इसका उत्तर यह है कि अध्यास के कारण जीव बुद्धि के धर्मों को अपने में मानता है। इस मिथ्याध्यास से ही मुक्त होना है। यह बात तो पहले ही कही जा चुकी है कि कर्तृत्व का आश्रय वस्तुतः आत्मा नहीं है। गीता में कहा गया है कि त्रिगुणमयी प्रकृति सर्व प्रकार कर्म-सम्पादन करती है। अहंकार के द्वारा जिसका चित्त विभ्रान्त है वह 'मैं कर्ता हूँ' ऐसा समझता है। जो शुद्ध आत्मा को कर्ता के रूप में देखता है, उसकी दृष्टि अज्ञान द्वारा आवृत्त है। वह तत्वदर्शी नहीं है।[1] आत्मा के स्वाभाविक कर्तृत्व का उपपादन करने के लिए वैष्णव दार्शनिकगण अनुमान का प्रयोग करते हैं। अद्वैतसिद्धिकार ने पूर्व पक्ष के रूप में अनुमान प्रस्तुत करके उसका खण्डन किया है। अनुमान इस प्रकार है—'आत्मा' मोक्षसाधनविषयकृतिमान्, तत्फलान्वयित्वात्, सम्मतवत्।'[2] अर्थात् आत्मा मोक्ष साधन-विषयकर्तृत्ववाला है, क्योंकि उसके फल से आत्मा ही सम्बन्धित है। इस अनुमान में यदि आत्मा का कर्तृत्व अर्थात् कृतिमत्व आध्यासिक माना जाये तो अद्वैतवादी को किसी प्रकार आपत्ति नहीं है। किन्तु स्वाभाविक कृतिमत्व आत्मा में नहीं माना जा सकता। लघुचन्द्रिकाकार ने उक्त अनुमान के हेतु को व्यभिचारी हेतु कहा है। हेतु के व्यभिचारी होने पर अनुमान दूषित हो जाता है।

आत्मा के कर्तृत्व के सम्बन्ध में भी शास्त्र में वचन मिलते हैं तथा अकर्तृत्व के सम्बन्ध में भी वचन मिलते हैं। इसलिए शास्त्रवचन-सामंजस्य के लिए आत्मा के कर्तृत्व को आरोपित मान लेना ही संगत होगा; ऐसा मानने पर अकर्तृत्व तथा आरोपित कर्तृत्व की भी सिद्धि हो जाती है।

आत्मा का कर्तृत्व जिस प्रकार भ्रान्तिकल्पित है, उसी प्रकार ज्ञातृत्व भी भ्रान्ति कल्पित है। आत्मा ज्ञानस्वरूप है। सुषुप्ति अवस्था में अहं-ज्ञान नहीं रहता, किन्तु आत्मा का अस्तित्व रहता है। इससे सिद्ध होता है कि आत्मा में ज्ञातृत्व आगन्तुक धर्म है। ज्ञातृत्व अन्तःकरण के संसर्ग से आत्मा में आरोपित है। अद्वैत वेदान्ती के अनुसार ज्ञान आत्मा का गुण नहीं है; अपितु आत्मा ज्ञानस्वरूप है। इसलिए आत्मा को ज्ञाता नहीं कहा जाता। ज्ञाता कहने पर ज्ञान और ज्ञानाश्रय में भेद सिद्ध होगा। यह बात अद्वैत वेदान्ती को अभीष्ट नहीं है। अद्वैत वेदान्ती ज्ञान एवं आत्मा में भेद नहीं करते। इसलिए व्यावहारिक ज्ञान, कर्तृत्व आदि धर्मों को आत्मा में निषेध करते हैं तथा जीवगत शुद्ध चेतन को ब्रह्म से अभिन्न कहकर ब्रह्मात्म-ऐक्य का प्रतिपादन करते हैं।

जीव कर्तृत्व स्वतन्त्र या ईश्वर अधीन—अद्वैत वेदान्त के अनुसार कर्तृत्व आदि अध्यास के कारण हैं, यह बात कही जा चुकी है। अद्वैत वेदान्त ईश्वरवादी दर्शन है। ब्रह्मसूत्र परात्तुतच्छ्रुतेः 2।3।41, इस सूत्र में कहा गया है कि जीव को जो कर्तृत्व प्राप्त

1. गीता 3।27 एवं 18।16
2. अद्वैतसिद्धि, लघुचन्द्रिका, पृ० 611

होता है वह परात् अर्थात् ईश्वर से प्रेरित है। आचार्य शंकर ने भाष्य में कहा है कि जीव को शुभ-अशुभ कर्म करने में ईश्वर प्रेरित करता है। स्वतन्त्र रूप से जीव कर्मफल का नियन्ता नहीं है।[1] इसी अभिप्राय से उपनिषद् में भी कहा गया है कि परमेश्वर जिसको ऊर्ध्वगामी करने की इच्छा करता है, उसको उत्तम कर्मों में नियोजित करता है तथा जिसको अधोगामी करने की इच्छा करता है, उसको असाधु कर्मों में नियोजित करता है।[2] परमेश्वर न किसी का शत्रु है, न मित्र। वह राग-द्वेष से ऊपर है। इसलिए परमेश्वर किसी के प्रति शुभ और अशुभ कर्म नहीं करता, यह भी कहा जाता है। क्योंकि परमेश्वर किसी का पक्षपाती नहीं है। वह फलानुसार सबको नियोजित करता है। परन्तु उपरोक्त सूत्र तथा श्रुति वाक्य से ऐसा प्रतीत होता है कि 'परमेश्वर अपनी इच्छा से किसी को ऊपर बढ़ाता है तो किसी को अधोलोक की ओर धकेलता है।' ऐसा होने पर एक तो ईश्वर के ऊपर पक्षपातित्व दोष आएगा तथा जीव की कर्म-स्वतन्त्रता नहीं रहेगी। ऐसी स्थिति में जीव कर्म में क्यों प्रवृत्त होगा? साथ में ईश्वर न्यायी भी नहीं रह पायेगा। इस प्रकार ईश्वर में सर्वेश्वरत्व तथा करुणापरकत्व आदि भावों का अभाव मानना पड़ेगा। इसका उत्तर अद्वैतवादी ईश्वर जीव-कर्म-सापेक्ष होकर के ही शुभ-अशुभ फलों को देता है, यह कहकर के देते हैं। अर्थात् ईश्वर स्वयं में राग-द्वेष आदि से शून्य है। वह साधु और असाधु कर्मों में निज कर्मानुसार (जीव के अपने कर्मानुसार) उसे प्रवृत्त करता है। इस प्रकार उक्त अर्थ में जीव-कर्म अर्थात् जीव की कर्म स्वतन्त्रता ईश्वर आयत्त है। ईश्वर प्रयोजककर्ता और जीव प्रयोज्य कर्ता है। इस पर भी प्रश्न हो सकता है कि सर्व प्रथम जब जीव अविद्याग्रस्त होकर जीव-भाव को प्राप्त करता उस समय किस कर्म के अनुसार ईश्वर ने जीव को प्रेरित किया? इसका उत्तर यही होगा कि कर्म एवं कर्मफल की परम्परा अनादि है। इसीलिए सर्वप्रथम का प्रश्न नहीं उठता। जब परम्परा चली आ रही है अर्थात् अनादि परम्परा है, तब ईश्वर जीव के कर्म के अनुसार ही जीव को प्रेरित करता है। इसमें असंगति नहीं है। जीव कर्म करने में स्वतन्त्र है, ऐसा सिद्धान्ततः लगता है, किन्तु जब वह कर्मों की अनादि परम्परा में जकड़ा हुआ है तो उस अनादि शृंखला से वह किस प्रकार मुक्त हो सकता है? कर्मों की अनादि शृंखला जीव के भावी कर्मों पर प्रभाव डालेगी। भावी कर्मों का निर्धारण पूर्व कर्मों को देखकर ईश्वर करेगा। ऐसी स्थिति में न ईश्वर को स्वतन्त्रता है कि वह अपनी कृपादृष्टि से सबको शुभ कर्म में प्रेरित करे और न ही जीव को स्वतन्त्रता है कि कर्मों की पूर्व शृंखला कैसी भी रही हो, अब वह अच्छे कर्मों को ही चुनेगा। उसका चयन पूर्व शृंखला से प्रभावित न होकर नहीं रहेगा। ईश्वर का विधान भी उक्त शृंखला से अप्रभावित न होगा। इस प्रकार अनादि कर्म परम्परा अधीन होता हुआ जीव ईश्वर इच्छाधीन भी है, पर ईश्वर इच्छा जीव के कर्मानुसार ही है। चूंकि सृष्टि ईश्वर की लीला है और जीव कर्म की अनादि परम्परा भी ईश्वर की लीला है,

---

1. ब्र० सू० पृ० 619, 620
2. एष ह्येव साधुकर्मकारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषते। एष ह्येव असाधुकर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्यो ऽधोनिनीषते। कौषीतकी उपनिषद्, 3।8

ईश्वर स्वयं लीलाधीन है, वह भी लीलापूर्वक ही है, अर्थात् लीलया-लीलाधीन है, इसीलिए ईश्वर न्याय करते हुए भी स्वतन्त्र है। वह वैसा ही स्वतन्त्र है जैसा कि बालक अपने खिलौने के संसार को मिटा भी सकता है, बना भी सकता है। वह उतना पराधीन नहीं है जितना कि मिल-मालिक माल निर्माण के लिए मजदूरों के अधीन होता है। इधर जीव भी अपने कर्म की अनादि शृंखला में आबद्ध रहता हुआ भी स्वतन्त्र इस अर्थ में है कि इस कर्म शृंखला में जो कर्म आते हैं उनका निर्माण उसने स्वयं किया था। इसीलिए वह वैसा ही स्वतन्त्र है जैसा कि स्वयं बन्धन का फन्दा बनाकर उसमें कोई आबद्ध होता हो और सोचता हो कि मैं इतना स्वतन्त्र हूँ कि मैं बँधने में भी स्वतन्त्र हूँ। अर्थात् बन्धन में आने के लिए उसने जो कर्म किए थे वे कर्म उसने स्वयं किए थे, वे कर्म किसी और के किए हुए नहीं हैं। इसीलिए वह स्वतन्त्र है। ऐसा कहा जाता है कि कर्मों को करने में जीव स्वतन्त्र है, वस्तुस्थिति यह है कि किसी कर्म के चयन करने में नाना प्रकार के कारण होते हैं जिनसे प्रभावित होकर जीव को अपने मार्ग का चयन करना पड़ता है। उसके सामने विकल्प कई हो सकते हैं और इसी कारण मार्ग-चयन में उसको स्वतन्त्र कहा जाता है, परन्तु विकल्पों में से मार्ग चयन करने में वह बहुत-से अज्ञात कारणों से प्रभावित होता है। उसकी विचार-बुद्धि भी बहुत-से अज्ञात कारणों से प्रभावित रहती है। इस प्रकार प्रभाव की भी सुदूरपर्व परम्परा जब चली आ रही है फिर किस अर्थ में जीव को स्वतन्त्र कर्ता कहा जाता है? अद्वैत वेदान्ती ईश्वर-इच्छाधीन होते हुए भी जीव को स्वतन्त्र कर्ता मानते हैं। इसका अर्थ यह है कि ईश्वर इच्छातन्त्र में रहकर कर्म करना भी स्वतन्त्रता है। इस प्रकार सीमिततन्त्रता ही स्वतन्त्रता होगी। विचार करने पर ऐसा ही लगता है कि कार्य-क्षेत्र में कभी-कभी हम कर्म चयन में स्वतन्त्र से लगते हैं, किन्तु सुदूर पूर्व प्रभावों का हमें ज्ञान नहीं रहता, इसीलिए ऐसा लगता है। वस्तुतः सीमित अर्थ में स्वतन्त्रता ही जीव की स्वतन्त्रता हमें लगती है।

जीव की अवस्थाएँ—श्रुति में जीव की चार अवस्थाएँ बतलाई गयी हैं। 1. जाग्रत अवस्था का जीव, 2. स्वप्न अवस्था का जीव, 3. सुषुप्ति अवस्था का जीव और 4. तुरीय चेतन। माण्डूक्य उपनिषद् में इन अवस्थाओं का विशेष वर्णन है, इन अवस्थाओं का अकार, उकार, मकार आदि रूपों में भी वर्णन किया गया है। अन्तिम अवस्था तुरीय चेतन को अक्षर कहा गया है। अन्तिम अवस्था प्रपंचोपशम शिवाद्वैत की अवस्था है। आचार्य गौड़पाद ने माण्डूक्यकारिका में जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति अवस्थाओं में स्थित जीव का वर्णन किया है। जाग्रत अवस्था में स्थूल शरीर अभिमानी जीव विश्व कहलाता है। वह घट-पटादि बहिर्विषयक ज्ञानसम्पन्न होता है। स्वप्नावस्था में जीव सूक्ष्म शरीर का अभिमानी होता है तथा जाग्रत अवस्था के सूक्ष्म संस्कार उसमें होते हैं। उसे तैजस कहा गया है। सुषुप्ति अवस्था का अभिमानी जीव प्राज्ञ कहलाता है।[1] अन्तिम अवस्था तुरीय है। वह अवस्थाओं से ऊपर सबका अधिष्ठान है। वह पंचकोशों से अतीत है। आचार्य

1. वहिः प्रज्ञो विभुर्विश्वोह्यन्तः प्रज्ञस्तु तैजसः।
धनप्रज्ञस्तथा प्राज्ञ एक एव त्रिधा स्थितः॥ माण्डूक्य कारिका 1 गौड़पाद।

विद्यारण्यमुनि ने पंचदशी के पंचकोशविवेक प्रकरण में तथा सदानन्द यति ने वेदान्तसार में पंचकोशों का विस्तृत वर्णन किया है। जाग्रत अवस्था का जीव अन्नमय कोश में आबद्ध है। स्वप्नावस्था का जीव प्राणमय, मनोमय तथा विज्ञानमय कोशों में आबद्ध है। सुषुप्ति अवस्था का जीव आनन्दमय कोश में आबद्ध है। तुरीय चेतन सभी कोशों से मुक्त है। वह पंचकोशातीत है। यद्यपि पूर्वोक्त तीन अवस्थाएँ तुरीय चेतन की ही जीवभावापन्न अवस्थाएँ हैं, फिर भी तुरीय चेतन उन अवस्थाओं से प्रभावित नहीं है। इन तीन अवस्थाओं से तथा पंचकोशों से विविक्त तुरीय चेतन वस्तुतः ब्रह्माभिन्न है। विवेकपूर्वक जब अन्वय-व्यतिरेक से जाग्रत् आदि अवस्थाओं का तथा पंचकोशों का बाध कर दिया जाता है तब एकमात्र तुरीय चेतन ही अवशिष्ट रहता है। विद्यारण्य मुनि ने जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति में अन्वय-व्यतिरेक से एक ही संवित् रूप आत्मा की स्थिति को प्रतिपादित किया है।[1] वस्तुतः आत्मसंवित्‌रूप जीव तीनों अवस्थाओं में एक ही है। जो जाग्रत अवस्था में बोधस्वरूप आत्मा है, जाग्रत् विषयों के बाध होने के पश्चात् स्वप्न में वही बोधस्वरूप आत्मा अवस्थित रहती है। स्वप्न अवस्था की व्यावृत्ति होने पर सुषुप्ति में वही बोधस्वरूप आत्मा की अनुवृत्ति रहती है, इसी प्रकार इन तीनों अवस्थाओं की व्यावृत्ति होने पर एकमात्र तुरीय चेतन ही अवशिष्ट रहता है। वह जाग्रत् अवस्था के अन्नमय कोश से, तथा स्वप्न अवस्था के प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय कोशों से एवं सुषुप्ति अवस्था के आनन्दमय कोश से भी परे है। वह शिवस्वरूप है। अवस्थाओं और कोशों की व्यावृत्ति से उसकी व्यावृत्ति नहीं होती। सर्वत्र उसकी अनुवृत्ति ही रहती है। वही वस्तुत. जीव का स्वरूप है। जीव और शिव में कोई अन्तर नहीं है। अविद्या की निवृत्ति के साथ-साथ सर्वत्र शिव की ही अनुवृत्ति दिखाई देती है। यही अद्वैत की अवस्था है।

भेद-खण्डन—अद्वैत वेदान्त में द्वैत को मिथ्या कहा गया है। 'नेह नाना' आदि श्रुति वाक्यों के आधार पर अद्वैत वेदान्ती जीवेश्वर भेद, जीव-जीव भेद, जीव-जगत् भेद आदि का प्रत्याख्यान करते हैं। उनका कहना है कि विचार करने पर भेद की सिद्धि सम्भव नहीं है इसलिए भेद को मिथ्या मानना पड़ेगा।[2] वैष्णव वेदान्ती रामानुज, मध्व, निम्बार्क आदि दार्शनिक भेद को सत्य मानते हैं। उनके अनुसार जीवेश्वर भेद जीव-जीव भेद, जीव-जगत् भेद आदि उतना ही सत्य है जितना कि ईश्वर। रामानुज ने श्रीभाष्य में, माध्व दार्शनिक जयतीर्थ ने वादावली में, व्यासराज ने न्यायामृत में, निम्बार्क सम्प्रदाय आचार्य माधव मुकुन्द ने परपक्षगिरिवज्र में तथा केशव काश्मीरी ने वेदान्त कौस्तुभप्रभा में भेदमिथ्यात्व का जोरदार खंडन सबल युक्ति-तर्कों से किया है, अद्वैत वेदान्ती चित्सुखाचार्य ने तत्व प्रदीपिका में, नृसिंह आश्रम ने अद्वैत दीपिका में एवं वेदान्ततत्त्व-विवेक में, आनन्दबोध भट्टारकाचार्य ने न्यायमकरन्द में, मधुसूदन सरस्वती ने अद्वैत-सिद्धि में एवं अद्वैतरत्नरक्षण में तथा गौड़ ब्रह्मानन्द ने लघुचन्द्रिका में भेद का उसी प्रकार से जोरदार

---

1. पंचदशी 1।3।4।5
2. खण्डनखण्डखाद्यकार ने खण्डन के चतुर्थ परिच्छेद में भेद का तार्किक खण्डन किया है। खण्डनखण्डखाद्य पृ० 574 शारदा टीका भी, द्वितीय भाग, वाराणसी, 1940

शब्दों में प्रत्याख्यान किया है।

वैष्णव दार्शनिकगण जीवब्रह्म भेद में 'द्वासपर्णा' इत्यादि श्रुतिप्रमाण भी प्रस्तुत करते हैं। श्रुतिप्रमाण के साथ-साथ जीव में भेद, वस्तु-वस्तु में भेद तो प्रत्यक्ष ही देखा जाता है। इसी प्रकार अनुमान प्रमाण से भी जीव-ब्रह्मभेद की सिद्धि हो जाती है। वैष्णव वेदान्तियों के विरुद्ध भेद के खण्डन में अद्वैतसिद्धि में कहा गया है कि जीवेश्वर भेद प्रत्यक्ष प्रमाणसिद्ध नहीं है, क्योंकि दो तत्त्वों में भेद को समझने के लिए दोनों तत्त्वों का प्रत्यक्ष होना आवश्यक है। ईश्वर प्रत्यक्ष नहीं है, इसीलिए जीवेश्वर भेद प्रत्यक्ष नहीं हो सकता[1] अनुमान प्रमाण द्वारा भी जीवेश्वर भेद सिद्ध नहीं हो सकता। अद्वैतसिद्धिकार ने पूर्व पक्ष की ओर से भेदसिद्धि में अनुमान प्रमाण प्रस्तुत करके खण्डन किया है। अनुमान इस प्रकार है। 'जीवेशरौ, भिन्नौ, विरुद्धधर्माधिकरणत्वात्, दहनतुहिनवत्।'[2] अर्थात् जिस प्रकार शिशिर और अग्नि परस्पर भिन्न हैं, क्योंकि दोनों के धर्म भिन्न हैं, शिशिर ठण्डा है, अग्नि गर्म है, इसी प्रकार जीव और ईश्वर दोनों भिन्न हैं, क्योंकि दोनों के धर्म भिन्न हैं। ईश्वर सर्वज्ञत्व आदि धर्मों से सम्पन्न है। ईश्वर नित्यानन्द स्वरूप है। जीव अल्पज्ञ तथा दुःखी है। इसलिए दोनों भिन्न सिद्ध होते हैं। अद्वैत सिद्धिकार ने इस अनुमान में स्वरूपासिद्धि दोष दिया है। दुःखादि धर्म जो जीव में बतलाये गए हैं, अद्वैत वेदान्त के अनुसार औपाधिक हैं। ये अन्तःकरण के धर्म हैं जोकि संसर्ग अध्यास के कारण जीव में प्रतीत होते हैं। इसी प्रकार ब्रह्म में सर्वज्ञत्वादि भी धर्मरूप नहीं हैं। ब्रह्म तो ज्ञानस्वरूप है, इसीलिए गौड़ ब्रह्मानन्द ने कहा है कि उक्त अनुमान से जीव-ब्रह्म में वास्तविक भेद सिद्ध नहीं होता, अपितु औपाधिक धर्म से औपाधिक भेद सिद्ध होता है।[3] औपाधिक भेद जीव-ईश्वर में तो अद्वैतवादी भी मानते हैं। तात्त्विक भेद तो है नहीं, इसीलिए औपाधिक भेद को मान लेने के कारण अनुमान सिद्धसाधनदोष से दूषित है, एवं तात्त्विक भेद न होने के कारण साध्यविकलता भी है।[4] इसी प्रकार 'ब्रह्म जीव से भिन्न है, सर्वज्ञत्व होने से' इत्यादि अनुमान में अप्रसिद्ध-विशेषणत्व का दोष दिया जायेगा। जीव-ब्रह्म-भेद का नाना युक्ति-तर्कों से खण्डन करके अद्वैतसिद्धिकार परस्पर जीवों में भेद का भी खण्डन करते हैं। एक जीव से दूसरा जीव भिन्न है, इसके लिए पूर्व पक्ष के रूप में अनुमान प्रस्तुत करके अद्वैतसिद्धिकार ने तथा लघुचन्द्रिकाकार ने खण्डन किया है। जीव-भेद को न मानने पर अर्थात् चैत्र और मैत्र में भेद न मानने पर पूर्वपक्ष की ओर से आक्षेप यह है कि चैत्र को जब सुख या दुःख होगा, उसका अनुसन्धान मैत्र में भी होने लगेगा। मैत्र के स्मरण करने से सबका स्मरण करना हो जाएगा। इस आक्षेप का उत्तर पूर्ववत् उपाधि-भेद को मानकर दिया जाता है। चैत्र और मैत्र में वास्तविक जीव एक होने पर भी अन्तःकरण उपाधि के नाना होने के कारण चैत्र के सुख-दुःख का मैत्र को अनुसन्धान नहीं होगा और मैत्र के

1. अद्वैतसिद्धि, पृ० 810 तथा लघु चन्द्रिका भी।
2. अद्वैतसिद्धि, जीवब्रह्मभेदानुमानभंगप्रकरण, पृ० 811।
3. लघुचन्द्रिका, पृ० 811
4. अद्वैतसिद्धि, पृ० 811

स्मरण करने से सबका स्मरण करना नहीं हो जाएगा। औपाधिक जीवभेद अद्वैत वेदान्त को स्वीकार है।[1] इसी प्रकार 'द्वासुपर्णा' आदि श्रुति द्वारा व्यावहारिक भेद का ही कथन हुआ है, न कि वास्तविक भेद का। 'षड्विध तात्पर्य लिंग' विचार करने पर भेद श्रुतियों का पर्यवसान अभेद अर्थ में ही होता है। इसलिए भेद श्रुतियों को व्यावहारिक भेद के समर्थक ही मानना चाहिए, न कि पारमार्थिक भेद के समर्थक। इस प्रकार भेद श्रुतियों में आप्रमाणिकत्व भी नहीं आ सकेगा।[2]

अद्वैतसिद्धिकार के समान ही नृसिंहाश्रम ने अद्वैत-दीपिका में भेद का नाना प्रकार युक्ति तर्कों द्वारा प्रत्याख्यान किया है।[3] इसी प्रकार नृसिंहाश्रम ने वेदान्ततत्त्वविवेक ग्रन्थ में भी जीवेश्वरभेद का खण्डन करके औपाधिक भेद ही सिद्ध किया है। उनका कहना है कि आत्मा परमात्मा से भिन्न नहीं है। उनमें भेद तो घटाकाश आदि भेद के समान औपाधिक हैं।[4]

इस प्रकार अद्वैतवादी आचार्य जीवेश्वर-भेद, जीव-जगत् भेद, जीव-जीव-भेद तथा घट-पट-भेद आदि भेदों को अपारमार्थिक कहते हैं। वे भेद स्वीकार नहीं करते, ऐसी बात नहीं। जो कुछ भी भेद दिखाई देते हैं उनका प्रत्याख्यान वे नहीं करते, किन्तु उनके पारमार्थिकत्व का खण्डन करते हैं। कुछ दार्शनिक सामान्य का खण्डन करके विशेषों पर जोर देते हैं। कुछ दार्शनिक विशेषों का खण्डन करके सामान्य पर जोर देते हैं। अद्वैत वेदान्ती सामान्य पर जोर देते हैं। उनके अनुसार सामान्य के बिना विशेषों का अस्तित्व सम्भव नहीं। इसीलिए विशेष प्रतीयमान हैं, वास्तविक नहीं। वे विशेषों को उड़ाते नहीं है। विशेषों को औपाधिक तथा सामान्याश्रित मानते हैं। स्वतन्त्र सत्ता न रहने के कारण विशेषों को वास्तविक द्रव्यत्व का स्तर प्राप्त नहीं है, जैसा कि प्लैटो यूनिवर्सल की दृष्टि से पार्टिकुलर्स PARTICULARS को आभास SHADOW कहते हैं। न्याय-वैशेषिक विशेष और सामान्य दोनों को समान रूप से सत् का स्तर देते हैं। रामानुज आदि दार्शनिक विशेष-विशिष्ट सत् को सत् कहते हैं, जबकि अद्वैत वेदान्ती सामान्य को ही अर्थात् सर्वावस्था में सर्वत्र जिसकी अनुवृत्ति है, कहीं पर जिसकी व्यावृत्ति नहीं है, उसी को सत् कहते हैं। विशेष तो सामान्य में गुथे हुए हैं—जैसा कि गीता में कहा है 'मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव' गीता 7।7।

जीव-ब्रह्म-सम्बन्ध—(तत्त्वमसि) इससे पूर्व यह विवेचन किया जा चुका है कि जीव और ब्रह्म में वास्तविक कोई भेद नहीं है। भेद आध्यासिक है। इसीलिए जीव-ब्रह्म में किसी प्रकार सम्बन्ध की कल्पना की जाए, तो वह वास्तविक सम्बन्ध न होकर

---

1. अद्वैतसिद्धि-लघुचन्द्रिका, जीवपरस्परभेद, अनुमानभंगप्रकरण, पृ० 814
2. अद्वैतसिद्धि, पृ० 822, 823
3. अद्वैतदीपिका, द्वितीय परिच्छेद द्रष्टव्य, नृसिंहाश्रम।
4. स आत्मा परस्मान्नभिद्यत इतिवक्ष्यते। भेदस्तूपाधितः एव···तादृशस्य च भेदस्य घटाकाशादिभेदस्येवौपाधिकत्वात्। वेदान्ततत्त्वविवेक, पृ० 366, नृसिंहाश्रम मैसूर।

काल्पनिक सम्बन्ध ही होगा। रामानुज दर्शन में स्वीकृत जीव-विशेषण-विशिष्ट ईश्वर अद्वैत में नहीं माना गया है। विशेषण को यहाँ पर विशेष्य ने आत्मसात् कर लिया है। न ही माध्व के समान जीव को वास्तविक भिन्न माना गया है। निम्बार्क वेदान्त में स्वीकृत भेदाभेदवाद भी अद्वैत में स्वीकृत नहीं हुआ है। निम्बार्क के अनुसार किसी अर्थ में जीव ब्रह्म से अभिन्न है और किसी अर्थ में भिन्न भी है। इसलिए वे भेदाभेदवाद को स्वीकार करते हैं। भास्कर भेद को औपाधिक मानते हैं। इसलिए उनके मत को औपाधिक भेदाभेदवाद कहा जाता है। अद्वैत वेदान्त के अनुसार जीव ब्रह्म का अभेद-सिद्धान्त 'अयमात्मा ब्रह्म' 'अहं ब्रह्मास्मि' 'तत्वमसि' आदि महावाक्यों द्वारा समर्थित होता है। तत्वमसि वाक्य में जीव को अर्थात् त्वम् को तत् कहा गया है। अद्वैतवेदान्तियों का कहना है कि उक्त तत्वमसि वाक्य द्वारा वास्तविक अर्थ में जीवब्रह्म अभेद सिद्धान्त की स्थापना हो जाती है। 'तत्वमसि' में तत्, त्वं, असि ये तीन पद हैं। असि पद तत् और त्वं को सम्बन्धित करता है। 'तत्' पद से सर्वज्ञत्वादि-विशिष्ट ईश्वर का तथा 'त्वं' पद से अल्पज्ञत्वादि-विशिष्ट जीव का साधारणतया बोध होता है, क्योंकि जीव और ईश्वर के धर्म भिन्न भिन्न हैं। इसलिए वैष्णव दार्शनिकों के अनुसार इस महावाक्य से जीव ब्रह्म ऐक्य की सिद्धि नहीं हो सकती। अद्वैत वेदान्ती सामानाधिकरण्य द्वारा जीव-ब्रह्मैक्य की सिद्धि करते हैं। भिन्न-भिन्न अर्थ वाले समान विभक्तिक पदों का एक ही अर्थ में तात्पर्य-बोध कराने वाला सम्बन्ध सामानाधिकरण्य सम्बन्ध है। जिस प्रकार 'सोऽयं देवदत्तः' में तत् पद का तत्काल तद्देश विशिष्ट अर्थ है एवं एतद्पद का एतद्काल एतद्देश विशिष्ट अर्थ है। इस प्रकार भिन्न-भिन्न अर्थ होने पर भी 'सोऽयं देवदत्तः' इस वाक्य में दोनों पद एक ही देवदत्तपिण्ड का बोध कराते हैं। यह सामानाधिकरण्य से ही होता है। पदों में विशेषण-विशेष्यभाव सम्बन्ध तथा तृतीय प्रकार सम्बन्ध लक्ष्य-लक्षण भाव भी होता है। 'तत्वमसि' वाक्य में लक्षणा द्वारा तत् और त्वं में अखण्डार्थ का बोध होता है, न कि संसर्गार्थ का। संसर्गार्थबोध में बोधक शब्द संसर्ग विशिष्ट होते हैं। अखण्डार्थ में ऐसा नहीं होता। 'तत्वमसि' वाक्य का वाच्यार्थ जीव-ब्रह्मैक्य सिद्ध करने में समर्थ नहीं है। वाच्यार्थ से जीव-ब्रह्म भेद की ही सिद्धि होती है। पर इस वाच्यार्थ को छोड़ा नहीं जा सकता। अद्वैत वेदान्ती के लिए वाच्यार्थ का भी उपयोग है। वाच्यार्थ से जीव-ब्रह्म में औपाधिक भेद सिद्ध होता है, जो कि उपास्य-उपासक भाव आदि के लिए आवश्यक है, किन्तु वाच्यार्थ ही पर्याप्त नहीं है। वस्तुतः जीव ब्रह्म एक है। इस ऐक्य की सिद्धि नाना श्रुतियों से होती है। तत्वमसि से भी ऐक्य-सिद्धि करना है। परन्तु ऐक्य-सिद्धि करने में वाच्यार्थ असफल होता है। जहाँ पर वाच्यार्थ अशक्त हो जाता है, वहाँ पर लक्षणा को अवसर मिलता है। 'सोऽयं देवदत्तः' इस वाक्य में जिस प्रकार तत्काल आदि विशिष्ट पूर्व दृष्ट देवदत्त एतद्काल में तत्काल को लेकर नहीं आ सकता, फिर भी एकपिण्डबोध होता है। यहाँ पर अभिधा से एकत्व सम्भव नहीं है, इसलिए लक्षणा द्वारा ऐक्य-सिद्धि की जाती है। लक्षणा में तीन प्रकार की लक्षणायें होती हैं। 1. जहल्लक्षणा, 2. अजहल्लक्षणा, 3. जहदजहल्लक्षणा—ये तीन भेद लक्षणा के हैं।[1]

1. वेदान्तसारः, महावाक्यार्थ प्रकरण। सदानन्द यति।

लक्षणा का अर्थ—जहल्लक्षणा में मुख्यार्थ का त्याग कर तत् सम्बन्धित अर्थ का ग्रहण किया जाता है—जैसे 'गंगायां घोषः' में मुख्यार्थ प्रवाह को त्यागकर गंगा शब्द से तीर अर्थ लिया जाता है। 'तत्वमसि' वाक्य में ऐसी लक्षणा नहीं करनी है। 'तत्वमसि' वाक्य में तत् और त्वं को पूर्णरूप से नहीं त्याग करना है। न ही यहाँ पर अजहल्लक्षणा ही हो सकती है। अजहल्लक्षणा में जैसे—'शोणोधावति' में शोण अर्थात् लाल वर्ण दौड़ नहीं सकता। इसलिए लालवर्ण-विशिष्ट प्राणी दौड़ रहा है, अर्थ किया जाता है। यहाँ पर शोण अर्थ को ग्रहण करता हुआ विशिष्ट को लिया गया है। तत्वमसि में तत् और त्वं पदों का इस प्रकार लक्षणा से अर्थ नहीं हो सकता। इस प्रकार अर्थ करने पर जीव-ब्रह्म की ऐक्य-सिद्धि नहीं हो सकती, अतः 'तत्वमसि' में जहदजहल्लक्षणा स्वीकार करनी होगी। जहदजहल्लक्षणा में एक भाग का त्याग तथा एक भाग का ग्रहण किया जाता है। जैसे 'सोऽयं देवदत्तः' वाक्य में तत् देश, तत् काल का त्याग करके तथा एतद्देश एतद्काल का भी त्याग करके मात्रतद् और एतद् को ही ग्रहण किया गया है। इस प्रकार एक पिण्ड देवदत्त का बोध भाग-त्याग-लक्षणा से हो जाता है। 'तत्वमसि' में भी तत् शब्द से बोधित सर्वज्ञत्व आदि उपाधि को त्याग करके मात्र अनुपहित शुद्ध चैतन्य को ही लक्ष्यार्थ में लेना है तथा वाच्यार्थ में बोधित सूक्ष्म-कारण शरीरों के अभिमानी जीव का अल्पज्ञत्व, ज्ञातृत्व, कर्तृत्व आदि उपाधि भाग को त्यागकर लक्षणा से शुद्ध चैतन्य को लेना है। इस प्रकार दोनों अनुपहित चैतन्य एक ही हैं।[1] इस अर्थ में जीव-ब्रह्म-ऐक्य-सिद्धि में किसी प्रकार की असंगति नहीं है। अर्थात् जीवेश्वर की भिन्न-भिन्न उपाधियों को लेकर जीवेश्वर भेद की भी औपाधिक रूप से सिद्धि हो जाती है तथा चैतन्यांश को लेकर अभेद की भी सिद्धि हो जाती है। वास्तविक अभेद एवं आध्यासिक भेद सिद्ध होने के कारण अभेद एवं भेद प्रतिपादक श्रुतियों की भी संगति बैठ जाती है। तत्वमसि के द्वारा जिस प्रकार जीवेश्वर ऐक्य-सिद्धि की जाती है, उसी प्रकार अन्य अभेद परक श्रुतियों से भी लक्षणा द्वारा जीवेश्वर ऐक्य-सिद्धि होती है, समझना चाहिए। औपाधिक भेद न मानने पर अभेद का कथन संभव नहीं है, क्योंकि दो वस्तुओं में अभेद का प्रतिपादन किया जाता है। साथ में दो वस्तुएं दो हैं, इसलिए अभेद संभव नहीं है, अतः अभेद कथन व्यर्थ हो जाता है। इसलिए औपाधिक भेद का अध्यारोप करके उसके बाद उसका अपवाद करके लक्षणा द्वारा अभेद की सिद्धि हो जाती है।

बद्ध एवं मुक्त जीव—अनादि अध्यास के कारण जीव का अपना शुद्धस्वरूप प्रकट नहीं होता। अनादि अज्ञान ही इस अध्यास का कारण है। अज्ञान के बन्धन में बंधा हुआ जीव अपने स्वरूप को न जानकर अन्तःकरण के धर्मों को अपने में आरोपित करता है तथा सुखी-दुःखी होता है। शरीर के धर्मों को 'मैं स्थूल हूं', 'मैं कृश हूं', इत्यादि रूपों में आत्मा में आरोपित करता है तथा शरीर की कृशता को देखकर अपने को दुःखी, शरीर की स्वस्थता को देखकर अपने को सुखी अनुभव करता है। वस्तुतः आत्मा अपने स्वरूप में विशुद्ध है। वह वैसे ही विशुद्ध है जैसे दर्पण के मलिन होने पर भी बिम्बभूत मुख मलिन

1. अद्वैतसिद्धि। तत्त्वमसि-आदि वाक्यार्थनिरूपणप्रकरण द्रष्टव्य।

नहीं होता। जलस्थित सूर्य प्रतिबिम्ब में कम्पन एवं वक्रादि दीखने पर भी सूर्य उन कंपन आदि धर्मों से निर्लेप रहता है। इसी प्रकार जीव अपने चैतन्य रूप में परब्रह्म है, अतः वह शुद्ध है। अनादि अज्ञान एकमात्र बन्धन का कारण है। अज्ञान मिथ्या है। इस कारण अज्ञानजन्य बन्धन भी मिथ्या है। अज्ञान की दो शक्तियाँ हैं—आवरण और विक्षेप। आवरण शक्ति के कारण जीव अपने स्वरूप को नहीं जान पाता। आवरण-शक्ति जीव के स्वरूप को आवृत कर लेती है। विक्षेप शक्ति 'मैं ईश्वर नहीं हूँ', 'अल्पज्ञ जीव हूं' 'मैं देवदत्त हूं' इत्यादि विक्षेपों को जन्म देती है। दोनों शक्तिशाली अविद्या के विनाश से ही मुक्ति सम्भव है। अविद्या का विनाश ज्ञान से ही हो सकता है। आचार्य चित्सुख ने अविद्या के लक्षण में अविद्या को 'यद्विज्ञानेन विलीयते' कहा है।[1] अर्थात् अज्ञान का नाश ज्ञान से ही हो सकता है। जिस प्रकार रज्जु-सर्प भ्रमस्थल में रज्जुविषयक अज्ञान का नाश रज्जुविषयक ज्ञान से होता है और उस ज्ञान से अज्ञान की विक्षेपशक्ति से जन्य सर्पभ्रम भी दूर हो जाता है, उसी प्रकार ब्रह्मविषयक अज्ञान का नाश ब्रह्म विषयक ज्ञान से होता है, इसलिए ब्रह्मसूत्रकार ने 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' 1/1/1, सूत्र द्वारा ब्रह्म की जिज्ञासा का प्रतिपादन किया है। ब्रह्मज्ञान से ही अविद्या के विक्षेपजनित अहं कर्ता, अहं भोक्ता, अहं सुखी, अहं दुःखी, आदि मिथ्या व्यवहारों का बाध सम्भव है।

आचार्य गौड़पाद ने माण्डूक्यकारिका में कहा है कि 'अनादिमाययासुप्तो यदा जीवः प्रबुध्यते। अजमनिद्रमस्वप्नमद्वैतं बुध्यते तदा।' माण्डूक्य कारिका 1/16, अर्थात् जीव अनादि माया में सोया हुआ है, जब ब्रह्मज्ञान से वह जाग जाता है, तब अज्ञान निद्रा से रहित अद्वैत ब्रह्मतत्व को जान जाता है। ज्ञान के बिना मुक्ति का कोई और उपाय नहीं है। कर्म ही बन्धन का कारण है। कर्म से ही आगे फल होते हैं। अच्छे और बुरे—दोनों ही फल कर्म द्वारा प्रसूत होते हैं। सम्पूर्ण अच्छे बुरे कर्मों का नाश ज्ञानरूप अग्नि से ही सम्भव है। इसीलिए गीता में कहा गया है कि ज्ञान-रूप अग्नि समस्त कर्मों को भस्म कर देती है।[2] मुक्ति कुछ नवीन प्राप्ति नहीं है। यदि कुछ पाना भी है तो जानने को ही पाना कहना होगा। उसी को होना भी कहा जा सकता है। घट जब टूट जाता है तो घटाकाश महाकाश ही हो जाता है, उसी प्रकार अविद्याजन्य अन्तःकरण के नाश होने पर जीवचैतन्य महाचैतन्य हो जाता है। हो जाता है न कहकर पहिले से ही है, कहा जा सकता है। ब्रह्मात्म-ऐक्य की प्राप्ति ही परमपुरुषार्थ है। मुक्ति को अद्वैत वेदांतियों ने आनन्दस्वरूप कहा है। सांख्य के अनुसार कैवल्य ही मुक्ति है। बौद्धदर्शन में निर्वाण को मुक्ति कहा है। अद्वैत के अनुसार मुक्ति अभावरूप नहीं है। अभावरूप होने पर उसे परम पुरुषार्थ नहीं माना जा सकता। मुक्ति में आत्यन्तिक दुःखनिवृत्ति तथा आत्यन्तिक आनन्दप्राप्ति होती है, कहा गया है। अद्वैत के अनुसार ब्रह्म आनन्दस्वरूप है, इसलिए ब्रह्मरूप होना आनन्दस्वरूप होना है। यह आनन्दप्राप्ति क्षणिक नहीं, अपितु नित्यानन्द-

---

1. चित्सुखी, पृ० 57
2. ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणिभस्मसात्कुरुते तथा। गीता 4/37

प्राप्ति है।[1]

मुक्ति दशा में जीव चैतन्य रूप हो जाता है या ईश्वर रूप ? इस प्रश्न को अद्वैत आचार्यों ने उठाया है। एक-जीववाद के अनुसार मूल अज्ञान एक है, इसीलिए मुक्ति अवस्था में अज्ञानकल्पित जीवेश्वर विभाग आदि का विनाश हो जाता है, अत: निर्विशेष चैतन्यरूप से जीव की स्थिति हो जाती है।[2] अनेक-जीववाद में भी मुक्त जीव प्रतिबिम्ब के विनाश के साथ-साथ शुद्ध चैतन्यरूप हो जाता है। जो लोग ईश्वर को बिम्ब रूप मानते हैं तथा जीव को प्रतिबिम्ब एवं दोनों में अनुस्यूत चैतन्य को शुद्ध चैतन्य मानते हैं, उनके अनुसार प्रतिबिम्बभूत जीव के मुक्त होने पर बिम्बरूप में अर्थात् ईश्वर रूप में उसकी अवस्थिति होती है। जिस प्रकार अनेक दर्पणों में एक मुख प्रतिबिम्बित होने पर उनमें से एक दर्पण के हटाने पर उसमें पड़ा हुआ प्रतिबिम्ब बिम्ब रूप से अवस्थित होता है। उसी प्रकार एक जीव के मुक्त होने पर वह बिम्बभूत ईश्वर रूप में अवस्थित होता है। इस मत में जीव मुक्त होते जाते हैं तथा ईश्वर रूप होते जाते हैं। जब तक सम्पूर्ण जीव की मुक्ति नहीं होती जब तक बिम्बरूप से ईश्वर की अवस्थिति होती है।[3] मुक्त जीव भी ईश्वर भावापन्न होते जाते हैं। मुक्त पुरुष ईश्वर के सर्वज्ञत्वादि गुणों से सम्पन्न होता है। सभी जीवों की मुक्ति होने पर बिम्बभूत ईश्वर की अविद्या का विलय हो जाता है तथा ईश्वर भी शुद्ध चैतन्यरूप हो जाता है। अप्पय दीक्षित ने इसी मत को संगत बतलाया है। उनके अनुसार सूत्र-भाष्यों द्वारा इसी मत का समर्थन हुआ है। ईश्वरभूत मुक्त जीव में सत्य संकल्पत्वादि गुणों का भी वर्णन किया गया है।[4] अद्वैतसिद्धिकार ने मुक्त पुरुष में परमानन्द प्राप्ति का समर्थन किया है। अद्वैत वेदान्ती सुख को दु:ख का अभावरूप नहीं मानते। उनके अनुसार सुख अपने आप में अस्तिरूप है। दुखाभावरूप मानने पर मुक्ति भी बौद्धों के निर्वाण के समान हो जायेगी।[5] शंकराचार्य ने मुक्ति का स्वरूप निर्धारण करते हुए इसे नित्यतृप्त स्वयंज्योतिस्वभाव कहा है। उनका कहना है कि मुक्ति की स्थिति में धर्म-अधर्म तथा धर्म-अधर्म के कार्य सुख-दु:खों के साथ तीनों कालों में सम्बन्ध नहीं रहता। मुक्त पुरुष वस्तुत: अर्थ में अशरीरभाव को प्राप्त कर लेता है।[6]

जीवन् मुक्त और विदेह मुक्त जीव—अविद्या की निवृत्ति ही मुक्ति है और वह स्थिति ब्रह्मात्मऐक्य बुद्धि से होती है। यह मुक्ति वस्तुत: प्राप्त की प्राप्ति है, नवीन प्राप्ति नहीं। जैसे गले में स्थित हार के खो जाने का विभ्रम हो जाने पर किसी के द्वारा 'यह तुम्हारे गले में हार है' ऐसा कहे जाने पर जैसा कि पहले से ही स्थित हार की प्राप्ति

1. वेदान्तसार, पृ० 11, 12
2. सिद्धान्त लेश संग्रह, पृ० 533
3. वही, पृ० 535
4. वही, पृ० 541
5. अद्वैतसिद्धि, पृ० 888-890
6. ब्रह्मसूत्र 1/1/4

वस्तुतः प्राप्त की ही प्राप्ति है, नवीन प्राप्ति नहीं, इसी प्रकार अद्वैत के अनुसार मुक्ति को समझना चाहिए। मुक्ति इस मत में उत्पाद्य नहीं है, न ही संस्कार्य है। ऐसा मानने पर मुक्ति अनित्य हो जायेगी।[1]

अद्वैत वेदान्त में जीवन्मुक्ति एवं विदेह मुक्ति पर विचार हुआ है। गीता में ब्राह्मी स्थिति के रूप में जीवन-मुक्ति का वर्णन हुआ है, जिसका समर्थन आचार्य शंकर ने भी किया है। विदेह-मुक्ति ब्रह्मनिर्वाण को कहा है। इस प्रकार आचार्य शंकर के द्वारा जीवन्मुक्ति एवं विदेह-मुक्ति—मुक्ति की दोनों अवस्थाएँ स्वीकृत हुई हैं।[2] स्थितप्रज्ञ की स्थिति भी जीवन्मुक्ति की स्थिति ही है, जिसका वर्णन गीता में किया गया है।[3] अद्वैत-सिद्धिकार ने अद्वैतसिद्धि में जीवन-मुक्ति का समर्थन किया है। उन्होंने कहा कि तत्त्व-ज्ञान के द्वारा अविद्या की निवृत्ति होने पर भी पूर्व संस्कार के कारण मुक्त पुरुष की शरीरावस्थिति बनी रहती है। जिस प्रकार दण्ड घुमाना छोड़ देने पर भी कुम्हार का चक्र कुछ समय तक घूमता रहता है एवं जिस प्रकार सर्पभ्रम समाप्त होने पर भी भय, कम्पन्न आदि कुछ समय तक बने रहते हैं, उसी प्रकार मुक्त पुरुष भी प्रारब्ध कर्म-क्षय होने तक अपने शरीर को धारण करता है।[4] सदानन्द यति ने वेदान्तसार में तथा धर्म-राजाध्वरीन्द्र ने वेदान्तपरिभाषा में जीवन-मुक्ति का समर्थन किया है।[5] आचार्य शंकर गीता 4।3।7 श्लोक की व्याख्या में कहते हैं कि ज्ञान होने पर वह ज्ञान रूपी अग्नि प्रारब्ध कर्म को छोड़कर सभी कर्म को भस्म कर देती है। जो प्रारब्ध कर्मफल देने के लिए प्रवृत्त हो चुके हैं, उनका नाश इस शरीर के द्वारा भोग करने पर ही होगा।[6] इस प्रकार जीवन्मुक्त शरीरपात तक प्रारब्ध कर्म के बल पर शरीर धारण करता है, परन्तु वह ब्रह्मा-नन्द में विचरण करता है। प्रारब्ध कर्म के क्षय भोग द्वारा होने पर विदेह-मुक्ति प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार शंकर द्वारा जीवन-मुक्ति एवं विदेह मुक्ति दोनों ही स्वीकृत हैं। आचार्य मण्डन मिश्र जीवन-मुक्ति की व्याख्या से संतुष्ट नहीं हैं। उनके अनुसार पूर्ण-रूप से ज्ञानोदय होने पर अज्ञान का नाश हो जाता है तथा अज्ञान के बिना शरीरधारण सम्भव नहीं है। अतः शरीर का पात हो जाता है एवं विदेह-मुक्ति हो जाती है। जहाँ पर ज्ञानोदय के बाद शरीर चलता रहता है, वहाँ पर मण्डन मिश्र के अनुसार पूर्णरूप से ब्रह्मज्ञान का उदय नहीं मानना चाहिए। ज्ञानोदय के बाद भी ज्ञान के परिपक्व न होने तक, कुम्हार के चक्र घुमा चुकने के बाद भी चक्र-भ्रान्ति के समान, शरीर कुछ समय

---

1. ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य, पृ० 125
2. एषा ब्राह्मी स्थिति पार्थ···ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति। गीता 2।72 शांकर भाष्य भी द्रष्टव्य।
3. गीता 2।56
4. अद्वैत सिद्धि, पृ० 890
5. वेदान्तसार। जीवन्मुक्ति लक्षणप्रकरण तथा वेदान्त परिभाषा प्रयोजन परिच्छेद द्रष्टव्य।
6. येनकर्मणा शरीरमारब्धं तत् प्रवृत्तफलत्वात् उपभोगेन एव क्षीयते। गीता शांकर-भाष्य 4।37 एवं ब्रह्मसूत्र 4।1।15, 4।1।19

तक चलता रहता है।[1] इसी को कुछ लोग जीवन्मुक्ति कहते हैं।[2] मण्डनमिश्र इसे जीवन्मुक्ति न कहकर साधक की उन्नत अवस्था कहते हैं। स्थितप्रज्ञ की अवस्था भी साधक की उन्नत अवस्था ही है। विचार करने पर मण्डन और अन्य आचार्यों द्वारा मानी गयी मुक्ति की स्थिति में कोई असंगति नहीं है। जीवन्मुक्ति को चाहे उन्नत अवस्था कह दिया जाये, चाहे जीवन्मुक्ति कह दिया जाये, वह विदेह-मुक्ति की पूर्वावस्था है। विदेह-मुक्ति शरीरपातानन्तर होती है जबकि जीवन्मुक्ति अवस्था में भी शरीर-अध्यास न रहने के कारण मुक्त पुरुष विदेह-भाव को प्राप्त कर लेता है।

जीवन्मुक्ति अवस्था में कुछ आचार्यों के अनुसार अविद्या का लेश रह जाता है, जिस कारण जीवन-मुक्त का शरीर बना रहता है—जैसे लहसुन का पात्र अच्छी तरह धोने पर भी लहसुन की गन्ध को कुछ समय तक बनाये रखता है, उसी प्रकार अविद्या-लेश रह जाता है।[3] परन्तु सर्वज्ञात्मा के अनुसार अविद्या का ज्ञान के साथ समूल नाश हो जाता है, क्योंकि ज्ञान अज्ञान परस्पर विरोधी हैं, इसीलिए दोनों साथ में नहीं रह सकते। उनके अनुसार जीवन-मुक्तिप्रतिपादक शास्त्रों को अर्थवाद समझना चाहिए।[4] क्योंकि ज्ञान के होते ही अविद्या के नाश होने के कारण विदेह-मुक्ति हो जाती है।

अविद्या-निवृत्ति को ब्रह्मसिद्धिकार आत्मस्वरूप समझते हैं।[5] आनन्दबोधाचार्य अविद्या निवृत्ति को सत् से भिन्न, असत् से भिन्न, सदसद् से भिन्न एवं अनिर्वचनीय से भिन्न, पंचम मानते हैं।[6] कुछ लोग अविद्या-निवृत्ति को अविद्या के समान अनिर्वचनीय कहते हैं। वस्तुतः अद्वैत के अनुसार अभाव अधिकरणस्वरूप है। इसलिए अविद्या निवृत्ति भी ब्रह्मरूप है, यह मण्डन मिश्र का मत समीचीन लगता है। ऐसा मानने पर पूर्णाद्वैतवाद में किसी प्रकार की असंगति हमें नहीं दीखती। जो लोग अविद्या-निवृत्ति को अनिर्वचनीय मानते हैं, उनके अनुसार भी अनिर्वचनीय अविद्या की निवृत्ति भी वस्तुतः ब्रह्माभिन्न है।

इस प्रकार अद्वैत वेदान्त के अनुसार बन्धन अज्ञान के कारण है। अज्ञान अनादि है, किन्तु उसका नाश होता है। अज्ञान के नाश होने पर प्रारब्ध कर्म के अनुसार कुछ समय तक शरीर चलने को जीवन्मुक्ति कहते हैं। जीवन्मुक्त जीव ही आदर्श जीव है। जीवन्मुक्ति के बाद शरीरपातानन्तर विदेह मुक्ति होती है। इतना होने पर भी वस्तुतः अर्थ में जीव न बन्धन में फँसता है और न मुक्त होता है। वह तो बिम्बभूत सूर्य के समान सब समय निर्लेप है। शुद्ध चेतन है।

---

1. ब्रह्मसिद्धि, पृ० 131
2. वही, पृ० 132
3. सिद्धान्त लेश संग्रह, पृ० 512
4. वही, पृ० 513, 514
5. आत्मैवेति ब्रह्मसिद्धिकाराः। सिद्धान्त लेश संग्रह, पृ० 514
6. सिद्धान्त लेश संग्रह, पृ० 516

4

अद्वैत वेदान्त में अविद्या

अविद्या के लक्षण और स्वरूप

अद्वैत वेदान्त के अनुसार सम्पूर्ण विश्व अविद्या का कार्य है। अविद्या ही इस विश्व का उत्पादन है। अविद्या के कारण ही विशुद्ध चैतन्य भी जीवभावापन्न-सा होता है। अद्वैतब्रह्मवाद की सिद्धि में अविद्या के सिद्धान्त की मुख्य भूमिका है। इस अनादि अविद्या के लक्षण करते हुए आचार्य चित्सुख ने तत्त्व प्रदीपिका ग्रन्थ में कहा है—

अनादि भावरूपं यद् विज्ञानेन विलीयते।
तदज्ञानमिति प्रज्ञा लक्षणं संप्रचक्षते ॥

जो अनादि एवं भावरूप है तथा तत्त्वज्ञान से जिसका विनाश हो जाता है, पण्डितगण उसे अज्ञान कहते हैं।

आचार्य मधुसूदन सरस्वती के अनुसार 'अनादिभावत्वे सति ज्ञाननिर्वत्या अविद्या है'[1] 'अर्थात् 'अनादि' भावरूप एवं ज्ञानविनाश्य अविद्या है। अमलानन्द स्वामी के शब्दों में वाचस्पति मिश्र के अनुसार भी 'भाव रूपा मताऽविद्या स्फुटं वाचस्पतेरिह।'[2] अविद्या अनादिभावरूप ही है। इस प्रकार अविद्या के लक्षणों में विशेषकर हमें तीन विशेषण पद मिलते हैं—अर्थात् अविद्या (1) अनादि (2) भावरूप एवं (3) ज्ञाननाश्य है। उक्त अज्ञानलक्षणोक्त 'अनादि' विशेषण द्वारा परवर्तीज्ञाननाश्य पूर्ववर्ती ज्ञान में अतिव्याप्ति का निषेध किया गया है। पूर्ववर्तीज्ञान परवर्ती ज्ञान से नष्ट हो जाता है। घटज्ञान के अनन्तर पटज्ञान के उत्पन्न होने पर पूर्वोत्पन्न घटज्ञान विनष्ट हो जाता है। उस ज्ञान में भी भावरूपत्व एवं ज्ञाननाश्यत्व की अतिव्याप्ति हो सकती है। अतः अविद्यालक्षण में 'अनादि' पद विशेषण के रूप में प्रयुक्त हुआ है। पूर्वोत्पन्न-ज्ञान ज्ञाननाश्य होने पर भी, और भावरूप होने पर भी, अनादि नहीं है। अतः उत्तर-ज्ञाननाश्य पूर्वज्ञान में अतिव्याप्ति दोष नहीं रहा। अनादि तो प्रागभाव भी है। उत्पत्ति

---

1. अद्वैतसिद्धि, पृ० 544 निर्णय सागर।
2. ब्रह्मसूत्र कल्पतरु, सूत्र 1।3।30

से पूर्व घटादि का अभाव प्रागभाव कहलाता है। वह अभाव कब से है, कहा नहीं जा सकता, अतः उसे अनादि अभाव कहा जाता है। वस्तु की उत्पत्ति होने पर तद्वस्तु का प्रागभाव भी समाप्त हो जाता है। इसी प्रकार ज्ञान का प्रागभाव भी अनादि है। किसी नवीन वस्तु के ज्ञान होने का अर्थ है, उस नवीन वस्तु को हम इससे पूर्व नहीं जानते थे। उसका न जानना अनादि है। ज्ञान होते ही उस ज्ञान के प्रागभाव का नाश हो जाता है। ज्ञान प्रागभाव अनादि एवं ज्ञाननाश्य भी है। अविद्यालक्षण में भावरूपत्व पद के न होने पर लक्षण की ज्ञान प्रागभाव में अतिव्याप्ति हो सकती थी। अतः लक्षण में 'भाव-रूपत्व' विशेषण पद का प्रयोग किया गया। अनादि भाव पदार्थ तो आत्मादि नित्य पदार्थ भी हैं। अज्ञान लक्षण की आत्मादि नित्य पदार्थों में अतिव्याप्ति न हो, इसीलिए लक्षण में 'ज्ञाननाश्य' विशेषण पद का प्रयोग है।[1]

प्रतिपक्षी की ओर से यहाँ पर प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि अनादि भाववस्तु किस प्रकार विनाशी हो सकती है ? अनादि भाववस्तु को तो आत्मा के समान अविनाशी पदार्थ होना चाहिए। अतः अविद्या जब अनादि एवं भावरूप है, तो उसका विनाश नहीं हो सकता। इस पर अनुमान प्रस्तुत किया जा सकता है कि 'जो अनादि भावरूप है, वह अविनाशी है जैसे आत्मा'।[2] इस प्रकार अनादि भावरूप होने के कारण अविद्या का विनाश ज्ञान से नहीं हो सकता। अनादि भावरूप सभी पदार्थ जब अविनाशी हैं तब अविद्यालक्षण का लक्ष्य क्या रह जायेगा ? अनुमानविरुद्धलक्षण भी दोषदुष्ट लक्षण ही होगा। प्रतिपक्षी की आपत्ति के उत्तर में अद्वैत पक्ष का कहना है कि अनादि भावरूप पदार्थ अविनाशी होता है, यह तर्क ग्राह्य नहीं है। ऐसे उदाहरण भी दिये जा सकते हैं कि अनादि भाववस्तु होते हुए भी वह विनाशी है। उदाहरण के रूप में पार्थिव परमाणु के श्यामरूप को लिया जा सकता है। न्याय-वैशेषिकगण परमाणु को नित्य मानते हैं। नित्य पार्थिव परमाणु अनादि एवं भावरूप पदार्थ हैं। पार्थिव परमाणु में श्यामगुण भी अनादिभाव रूप है। श्यामघट को कुम्भकार जब पकाता है, उस समय वह पककर रक्तरूप वाला हो जाता है। अतः मानना होगा कि पाक अनन्तर श्यामघट के श्याम परमाणुओं का श्यामरूप नष्ट हो जाता है एवं उक्त परमाणु रक्तरूप वाला हो जाता है। तभी श्यामघट रक्तघट में बदल जाता है। अतः अनादिरूपभाववस्तु का विलय नहीं होता, ऐसी बात नहीं है। इसीलिए अविद्या का लक्षण असमीचीन नहीं है।

उक्त अविद्या के लक्षण की व्याख्या करते हुए मधुसूदन सरस्वती ने अविद्या को 'भावाभावविलक्षणा अनिर्वाच्या' कहा है। अद्वैतवेदान्त के अनुसार अविद्या भाव एवं अभाव यावत् पदार्थों का उपादान है। इसीलिए अविद्यालक्षण में विशेषण के रूप में आया हुआ 'भाव' शब्द से स्वभाव सिद्ध भावरूप अर्थ नहीं लेना है। स्वभाव सिद्ध भावरूप अर्थ करने पर अविद्या को अभाव पदार्थों का उपादान माना नहीं जा सकता, क्योंकि उपादान

1. चित्सुखी, पृ० 54 (निर्णय सागर)
2. यच्चानादित्वेसति भावरूपं तदनिर्वत्यं यथा आत्मा। चित्सुखी-नयन प्रसादिनी, पृ० 57

कारण और कार्य में स्वल्पांश में अन्तर रहने पर भी समानता अधिकांश में होती है। अद्वैतवादी भी विवर्तवादी होते हुए भी सत्कार्यवादी हैं। सत्कार्यवाद के अनुसार कारण और कार्य विजातीय नहीं होना चाहिए। स्वभावसिद्ध भाव और अभाव पदार्थ परस्पर विरुद्ध हैं। ऐसी स्थिति में भाव पदार्थ को अभाव का उपादान नहीं माना जा सकता। इसीलिए अविद्या को जब अभाव का भी उपादान कहा जाता है तो अविद्या स्वभावसिद्ध-भाव रूप नहीं, अपितु उससे विलक्षण है। उसी प्रकार जब अविद्या को भाव पदार्थ का उपादान कहा जाता है, तो उसे स्वभावसिद्ध अभावरूप भी नहीं कह सकते, अपितु उसे उससे विलक्षण ही कहना होगा। इस प्रकार अविद्या के भावरूपत्व का भावाभावविलक्षण रूप अर्थ हुआ।[1] भावभाव विलक्षण है, अतः अविद्या अनिर्वाच्या है। वस्तुतः अविद्या और अविद्या के कार्यों की प्रतीति है। इसलिए अविद्या को भावरूप कहा जाता है। ब्रह्म ज्ञान से अविद्या का बोध हो जाता है। इसलिए यह स्वभावसिद्ध भावरूप भी नहीं है। अतएव अविद्या भावाभाव विलक्षण ही है।

अविद्या को अनादि कहा गया है। प्रतिपक्षी का कहना है कि अद्वैतवेदान्त में जिस प्रकार अनादि अविद्या का विवरण मिलता है, उसी प्रकार सादि अविद्या का भी विवरण मिलता है। शुक्तिरजतभ्रम में शुक्तिविषयक अज्ञान के कारण रजतभ्रम होता है। शुक्ति सादि वस्तु है, अतः शुक्तिविषयक अज्ञान भी सादि है। अमलानन्द स्वामी ने कल्पतरु में स्पष्ट शब्दों में दो प्रकार की अविद्या का विवरण दिया है। उनके अनुसार एक प्रकार की अविद्या अनादि भावरूप है, जो कि जगत् उपादान है, जिसे मूलाविद्या कहते हैं। दूसरी सादि अविद्या है जो कि सादिभ्रम का उपादान है।[2] जो कि तूलाविद्या है। इस सादि अविद्या में अनादित्व के न रहने के कारण अविद्यालक्षण की अव्याप्ति है।

इस पर अद्वैतवेदान्ती का उत्तर है कि वस्तुतः अविद्या दो प्रकार की नहीं है। सादि और अनादि नाम से दो प्रकार की अविद्या नहीं है। तूलाविद्या सादि होने पर भी अनादि मूलाविद्या के अन्तर्गत आ जाती है। तूलाविद्या मूलाविद्या का परिच्छेदक है। शुक्ति रजत भ्रम में भी शुक्ति मूलतः ब्रह्माभिन्न है। इसीलिए शुक्तिविषयक अज्ञान को वास्तविक अर्थ में शुक्त्यवच्छिन्न चैतन्य विषयक अज्ञान कहा जाता है। इसलिए यह स्पष्ट हो जाता है कि शुक्ति में रजतभ्रम भी शुक्त्यवच्छिन्न चैतन्यविषयक अज्ञान के कारण होता है, न कि चैतन्यातिरिक्त विषयक अज्ञान के कारण। ऐसा सम्भव ही नहीं है, क्योंकि अद्वैत के अनुसार शुक्ति भी ब्रह्म में अध्यस्त है। अतः उसकी सत्ता ब्रह्मानन्द है। जब शुक्ति विषयक अज्ञान भी शुक्त्यवच्छिन्न चैतन्यविषयक अज्ञान है, तब अज्ञान भी उसी प्रकार एक एवं अनादि है, जिस प्रकार शुक्त्यवच्छिन्न चैतन्य होते हुए भी चैतन्य वास्तविक अर्थ में एक है। अतः चैतन्य भी एक है, तद् विषयक अज्ञान भी वस्तुतः एक है। इसीलिए अनादि अविद्या दो नहीं, अपितु एक है। अतः अविद्या लक्षण की अव्याप्ति

---

1. भावत्वं चाज्ञाभावविलक्षणत्वमात्रं विवक्षितम्।
   अद्वैतसिद्धि, पृ० 544 (निर्णय सागर)
2. वेदान्तकल्पतरु, पृ० 3 (निर्णय सागर)

नहीं है।[1] प्रतिपक्षी की पुनः आपत्ति यह है कि अनादि ब्रह्माश्रित अविद्या की कल्पना के मूल में कोई कारण होना चाहिए। वह कारण अध्यास है, ऐसा अद्वैतवादी कहते हैं। अध्यासमूलक अविद्या होने से अविद्या को सादि मानना चाहिए। इस पर अद्वैतवादी का उत्तर यह है कि अविद्या की कल्पना अध्यासमूलक है। फिर भी वह अनादि ही है। अध्यासमूलक होने पर अनादि होने में कोई दोष नहीं है। अध्यासमूलक अविद्या है और अध्यास भी अविद्यामूलक है। दोनों ही अनादि हैं। अविद्या का कारण अनादि अध्यास है और अध्यास का कारण अनादि अविद्या है। बीजांकुरन्याय से दोनों ही अनादि हैं। आचार्य शंकर ने भाष्य में एवं वाचस्पति मिश्र ने भामती में स्पष्ट रूप से अध्यास को अनादि कहा है।[2]

इस पर द्वैतवादी अनुमान द्वारा अविद्या को सादि सिद्ध करने का प्रयास करते हैं। अनुमान इस प्रकार है—"अविद्या सादिः ज्ञाननिर्वत्यत्वे सति अभावविलक्षणत्वात्, उत्तरज्ञाननिवर्त्य पूर्वज्ञानवत्।"—अर्थात् उत्तर ज्ञान द्वारा निर्वत्य पूर्व ज्ञान के समान अविधा भी सादि है, क्योंकि ज्ञान द्वारा निर्वत्य होते हुए वह अभाव से विलक्षण है। जो ज्ञान द्वारा निर्वत्य है, वह सादि भी है। उत्तरज्ञानद्वारा निर्वत्य पूर्वज्ञान होता है। वह सादि भी है, अनादि नहीं। वह अभाव से विलण भी है। उसी प्रकार अविद्या की भी ब्रह्मज्ञानद्वारा निवृत्ति होती है, वह अभाव से विलक्षण भी है, तो उसे भी सादि होना चाहिए।

इसके उत्तर में अद्वैत वेदान्ती का कहना है कि अविद्या को सादि सिद्ध करने पर शास्त्रविरोध होगा। वेद-उपनिषद् आदि शास्त्रों में अविद्या या माया को अनादि ही कहा गया है।[3] ऐसी स्थिति में अविद्या को अनुमान द्वारा सादि सिद्ध करने पर श्रुति विरुद्ध सिद्धान्त होगा जो कि प्रतिपक्षी को भी अभीष्ट न होगा; क्योंकि आगमप्रमाण द्वारा अनादि अविद्या सिद्ध होने पर अनुमान 'बाध' नामक हेत्वाभास दोष से दूषित हो जाएगा।

अद्वैतवेदान्ती सादित्वसाधक अनुमान के विरुद्ध अनादित्व साधक अनुमान प्रस्तुत करते हैं। अतः यह सत्प्रतिपक्षानुमान होगा—'अविद्या अनादिः, ज्ञान निवर्त्यत्वे सति भावविलक्षणात्वात्, ज्ञानप्रागभाववत्।' अर्थात् जिस प्रकार ज्ञान का प्रागभाव ज्ञान होने पर नष्ट हो जाता है। वह अनादि है, एवं ज्ञान द्वारा निर्वत्य भी है, उसी प्रकार अविद्या भी अनादि है, क्योंकि वह भी ज्ञान द्वारा निर्वत्य एवं भावविलक्षण पदार्थ है। इस प्रकार अद्वैतवादी अविद्या को अनुमान द्वारा अनादि सिद्ध करते हैं। इस अनुमान के हेतु 'भाव-विलक्षणत्वात्' को द्वैतवादी स्वरूपासिद्ध हेतु की आख्या देते हैं। द्वैतवादी का कहना है कि भावरूपप्रपंच का उपादान अविद्या भी भावरूप ही होगी। एवंभूतभावरूप अविद्या को उक्त अनुमान में भावविलक्षण कह दिया गया। इससे अविद्या के स्वरूप की ही

1. रूप्योपादनमज्ञानमनादि चैतन्याश्रितत्वात्। अद्वैतसिद्धि, पृ० 544 (निर्णय सागर)
2. ब्रह्मसूत्र अध्यासभाष्य एवं भामती।
3. अजामेकां लोहित शुक्लकृष्णाम्···। श्वेताश्वतरोपनिषद्।

सिद्धि नहीं होगी। अतः अद्वैतवादी का सत्प्रतिपक्षानुमान स्वरूपसिद्धि हेत्वाभास दोष से दुष्ट है। अद्वैतवादी का उत्तर यह है कि अविद्या को अद्वैतवादी भावरूप नहीं मानते और न ही अभावरूप मानते हैं। अद्वैतवादी अविद्या को भावाभावविलक्षण-अनिर्वाच्या मानते हैं। अनिर्वाच्या का अर्थ है अविद्या सद्रूपा भी नहीं, असद्रूपा भी नहीं, सदसद्रूपा भी नहीं, अपितु अनिर्वाच्यरूपा है।[1]

द्वैतवादी की आपत्ति है कि जो पदार्थ भावरूप नहीं होता वह अभावरूप होता है और जो अभावरूप नहीं होता वह भावरूप होता है। सत्व-असत्व परस्परविरुद्ध पदार्थ हैं। इनमें से एक के मिथ्या होने पर अन्य सत्य होता है। अद्वैतवादी का कहना है कि ऐसा नियम नहीं है कि भाव-अभाव अत्यन्त विरोधी हैं। सामान्यतः दोनों में विरोध होने पर भी एक के मिथ्या होने पर दूसरा सत्य होगा, ऐसी बात नहीं। सत्व-असत्व एकत्र नहीं रह सकते, ऐसी बात होने पर भी दोनों का अभाव एकत्र रह सकता है। जैसे गोत्व और अश्वत्व धर्म-दोनों परस्पर विरोधी धर्म हैं। जहाँ पर गोत्व होता है, वहाँ पर अश्वत्व नहीं होता और जहाँ पर अश्वत्व होता है वहाँ पर गोत्व नहीं होता।[2] इसी-लिए गौ न होने पर अश्व हो जायेगा या अश्व न होने पर गौ, ऐसा नियम नहीं है। प्रकृत स्थल में भी अद्वैत के अनुसार सत् शब्द से परब्रह्म का, एवं असत् शब्द से आकाश कुसुम का बोध होता है। यह विश्वप्रपंच जिस प्रकार परमसत् ब्रह्म के समान नहीं है तो यह एकान्त अलीक आकाश कुसुम भी नहीं है। ब्रह्म के समान त्रिकालाबाधित सत्ता एवं आकाश-कुसुम के समान अलीकत्व—इन दोनों का अभाव प्रपंच में है। ऐसी स्थिति में सत् न होने पर असत् होगा और असत् न होने पर सत् होगा, यह नियम प्रपंच के वस्तुओं में लागू नहीं होता। अविद्या की प्रपंच की जैसी स्थिति है। अविद्या को परम-सत् कोटि में भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि इसका बाध हो जाता है और इसको अलीक कोटि में भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि इसकी और इसके द्वारा उत्पादित कार्यों की प्रतीति होती है। अतः अविद्या के अनादित्वसाधक अनुमान में स्वरूपसिद्धिदोष अद्वैत में दिया नहीं जा सकता।

द्वैतवादी अविद्या को सादि मानते हैं। उन्होंने अविद्या के सादित्वसाधक अनुमान प्रस्तुत किया है। इसी प्रकार अद्वैतवादी गण भी द्वैतवादी के अनुमान के विरुद्ध तुल्यबल सम्पन्न अनादित्वसाधक अनुमान प्रस्तुत करते हैं। इस प्रकार दोनों पक्षों के समानबल सम्पन्न होने के कारण अविद्या सादि या अनादि, इसका निर्णय नहीं हो पाता। अद्वैत-वेदान्ती अपने पक्ष की सिद्धि के लिए अर्थात् अविद्या के अनादित्व सिद्ध करने के लिए द्वैतवादी के सादित्वसाधक अनुमान में 'भावत्व' उपाधि दिखाकर अनुमान को दोषयुक्त बतलाते हैं। 'साध्यस्य व्यापको यस्तु हेतुरव्यापकस्तथा स उपाधिः' साध्य का व्यापक होता हुआ हेतु का जो अव्यापक हो वही उपाधि है। अनुमान में साध्य सादित्व में भावत्व है, किन्तु ज्ञान 'निर्वत्यत्वेसति अभावविलक्षणत्वात्' इस हेतु का व्यापक नहीं है।

1. अद्वैतसिद्धि—अनिर्वाच्यत्वलक्षणोपपत्तिः।
2. अद्वैतसिद्धि, पृ० 52

इस हेतु में भावत्व नहीं है। इसलिए 'भावत्व' को लेकर उपाधि दोष दिया जा रहा है। इस प्रकार अद्वैतवादी के अनुसार 'द्वैतवादी का सादित्वसाधक अनुमान हीन बल होकर सादित्व की सिद्धि करने में असमर्थ हो जाता है। अतः अद्वैतवादी के अनुमान के द्वारा अविद्या का अनादित्व सिद्ध होता है।

द्वैतवादीगण अविद्या को ज्ञाननिर्वत्य भी नहीं मानते। उनका कहना है कि 'रक्तः स्फटिकः' इस प्रकार के औपाधिक भ्रम में स्फटिक की रक्तिमा स्वाभाविक नहीं होती। इस प्रकार ज्ञान होने पर भी उक्त भ्रमोपादान अज्ञान की निवृत्ति नहीं होती। इसी प्रकार जीवन्मुक्त पुरुष का देह सम्बन्धादि अज्ञान कार्य देखे जाते हैं, इससे सिद्ध होता है कि ज्ञान हो चुकने पर भी अज्ञान का सम्पूर्ण नाश नहीं होता। अतः यह सिद्धान्त नहीं माना जा सकता कि ज्ञान द्वारा अज्ञान की निवृत्ति होती है। इसलिए ज्ञान निर्वत्यत्व के न रहने के कारण अविद्या लक्षण में अव्याप्तिदोष है। इसके उत्तर में अद्वैतवेदान्ती का कहना है कि ऐसी बात नहीं है कि अविद्या लक्षण में अव्याप्ति दोष है। 'रक्तः स्फटिकः' एवं जीवन्मुक्त के दृष्टान्तों से भी अव्याप्ति दोष नहीं दिया जा सकता। उक्त दोनों दृष्टान्तों में ज्ञान हो चुकने पर भी भ्रमोपादान अज्ञान के नाश न होने का विशेष कारण है। वहाँ पर प्रतिबन्धक के रहने के कारण अज्ञान के नाश होने में विलम्ब अवश्य होता है। 'रक्तः स्फटिकः' में जान लेने पर भी स्फटिक लाल नहीं है, स्फटिक के लाल दिखाई देने का कारण है। ज्ञान होने पर भी वहाँ जपाकुसुम की उपस्थिति होने के कारण स्फटिक लाल दिखाई देगा। जब तक जपाकुसुम रूपी उपाधि को वहाँ से नहीं हटाया जायेगा तब तक उपाधि के कारण स्फटिक लाल दिखाई देता रहेगा। स्फटिक के स्वरूप को जान लेने पर भी ऐसा दिखाई देता रहेगा, क्योंकि ज्ञान के साथ-साथ वहाँ पर उपाधि रूप में प्रतिबन्धक ही भ्रमोपादान अज्ञान के विनाश में बाधा उपस्थित कर रहा है। इसी प्रकार जीवन्मुक्त में भी ज्ञान की उत्पत्ति हो चकने पर भी अज्ञान नष्ट न होने का कारण प्रतिबन्धकाभाव का न होना ही है। यहाँ पर मुक्त जीव का अदृष्ट या प्रारब्ध ही अज्ञाननाश में प्रतिबन्धक है। इसीलिए कार्योत्पत्ति में दार्शनिकगण प्रतिबन्धकाभाव को भी कारण मानते हैं। ज्ञानोदय होने पर जब भी प्रतिबन्धक अभाव होगा तभी भ्रमोपादान अज्ञान का नाश हो जायेगा। जीवन्मुक्त पुरुष में भी ज्ञानोदय हो चुकने के बाद प्रारब्ध कर्म के कारण शरीर धारण करने योग्य अज्ञान जारी रहता है। ज्ञान इस अज्ञान को भी क्रमशः नष्ट करता है। प्रतिबन्धक के नष्ट होते ही अज्ञान का नाश हो जाता है। अतः ज्ञान से अज्ञान का नाश हो जाता है। इसी कारण अविद्या-लक्षण में अव्याप्तिदोष नहीं है।[1]

प्रतिपक्षी की ओर से एक शंका यह भी की गई कि अविद्यालक्षण की अतिव्याप्ति अविद्या एवं अविद्याब्रह्म-सम्बन्ध में होगी, क्योंकि उक्त सम्बन्ध भी अनादि, भावरूप 'एक' ब्रह्मज्ञान होने पर नाश्य भी है। अद्वैत वेदान्ती का उत्तर है कि 'ज्ञाननिर्वत्य' पद से साक्षात् रूप से ज्ञान द्वारा अज्ञान की निवृत्ति अर्थ लेना है। साक्षात् रूप से ज्ञान

1. अद्वैतसिद्धि, पृ० 544

अज्ञान का ही विनाशक है। अविद्या एवं अविद्या ब्रह्मसम्बन्ध अनादि भावरूप होने पर भी साक्षात् रूप से ज्ञान निर्वत्य नहीं है, क्योंकि उक्त सम्बन्ध अविद्या का कार्य है, अविद्या के सभी कार्य अविद्या रूप उपादान के नाश होने पर विनष्ट हो जाते हैं। साक्षात् रूप से ज्ञान द्वारा नाश्य तो अविद्या ही है। कार्यजगत् तो तदुपादानकत्वेन उसके नाश से नष्ट होता है। उक्त सम्बन्ध को स्वरूप सम्बन्ध मानने पर तो अविद्या के अन्तर्भूत होने से साक्षात् रूप से ज्ञाननिर्वत्य होगा और तब उसको भी अविद्यालक्षण के लक्ष्य मानने में कोई आपत्ति और अतिव्याप्ति नहीं है।[1]

अद्वैतसिद्धिकार मधुसूदन सरस्वती ने 'भ्रमोपादानत्वमज्ञानलक्षणम्'[2] भ्रम का जो उपादान है, वही अज्ञान है, इस प्रकार अज्ञान का लक्षण प्रस्तुत किया है। परब्रह्म में विश्वप्रपंच अध्यस्त है। विश्वप्रपंच के अधिष्ठान होने के कारण प्रपंचभ्रम के उपादानत्व तो परब्रह्म में भी है। अतः 'भ्रमोपादानत्व' अविद्यालक्षण की अतिव्याप्ति ब्रह्म में होगी, इस प्रकार की आपत्ति नहीं की जा सकती, क्योंकि उक्त अविद्यालक्षण में उपादान शब्द से परिणामी उपादान लेना है, न कि अपरिणामी उपादान। अपरिणामी उपादान अर्थात् विवर्तउपादान ब्रह्म है, अतः परिणामी उपादानत्व ब्रह्म में न होने के कारण लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होगी। भ्रमोपादानत्व लक्षण में परिणामी एवं अचेतन, ये दोनों विशेषण और जोड़ देने चाहिए। ब्रह्म न परिणामी है और न ही अचेतन है, अतः लक्षण की अतिव्याप्ति का प्रश्न ही नहीं उठता।

शुक्तिरजतभ्रमस्थल में शुक्ति के प्रमाज्ञान से रजतभ्रम की निवृत्ति होती है। जब तक शुक्ति का प्रमाज्ञान नहीं होता तब तक भ्रम क्रियाशील रहता है। शुक्ति विषयक प्रमाज्ञान से पूर्व तद्विषयक प्रमाज्ञान का प्रागभाव होता है। उसी प्रागभाव को ही भ्रमोपादान मान लिया जाय। अनिर्वचनीय अज्ञान को भ्रमोपादान मानने की क्या आवश्यकता है ? इस पर अद्वैतपक्ष का उत्तर यह है कि प्रागभाव मात्र प्रतियोगी की उत्पत्ति में साधक बनता है। प्रतियोगी की उत्पत्ति होने पर प्रागभाव का विनाश हो जाता है। इसके अतिरिक्त प्रमाज्ञान का प्रागभाव भ्रम को क्यों उत्पन्न करेगा ? अतः प्रमा के प्रागभाव को रजतादिभ्रम का उपादान नहीं माना जा सकता।

यह भावरूप अविद्या साक्षिभाष्य एवं चित्प्रकाश है। शुद्ध चैतन्य ही अविद्या का आश्रय और विषय भी है। संक्षेपशारीरककार ने कहा भी है कि—'आश्रयत्व विषयत्वभागिनी निर्विभागचितिरेव केवला'। इस अविद्या की आवरण-शक्ति और विक्षेपशक्ति नाम से दो शक्तियाँ मानी गई हैं। शुक्तिरजतभ्रम में शुक्तिविषयक अज्ञान की आवरण शक्ति के कारण ही शुक्ति का प्रमाज्ञान नहीं हो पाता और उसी अज्ञान की विक्षेपशक्ति के कारण शुक्ति में अनिर्वचनीय रजत की सृष्टि होती है। इसी प्रकार अविद्या की आवरण शक्ति से विशुद्धचैतन्य का स्वरूप आवृत हो जाता है। अर्थात् ब्रह्म विषयक अज्ञान (ब्रह्म स्वरूप को न जानना) की आवरणशक्ति के कारण ब्रह्म का

1. अद्वैतसिद्धि, पृ० 545
2. वही, पृ० 545

स्वरूप आवृत हो जाता है। अविद्या की इन दोनों शक्तियों को अविद्यावृत्ति भी कहते हैं।

राहु जिस प्रकार सूर्य को आवृत करके स्वयं उसके प्रकाश से प्रकाशित होता है उसी प्रकार अविद्या भी विशुद्ध चैतन्य को आवृत करके चैतन्य के प्रकाश से स्वयं भी प्रकाशित होती है।[1] यह अविद्या अनादि है, किन्तु नित्य नहीं है। विशुद्ध ज्ञानोदय से अविद्या का नाश होता है। इस सदसद्विलक्षण अविद्या को कहीं पर मायाशक्ति भी कहा गया है। इसे कहीं-कहीं पर तमः शक्ति भी कहा है।[2] इस अनिर्वचनीय अविद्या-शक्ति के बिना अद्वैत ब्रह्मवाद में जगत् की व्याख्या सम्भव नहीं है।

अविद्यावाद के विरुद्ध सप्त अनुपपत्तियाँ

अद्वैतवेदान्ती के अविद्यावाद का वैष्णवदार्शनिकों ने जोरदार खण्डन किया है, क्योंकि अविद्यावाद के खण्डन हो जाने पर अद्वैतवाद की मित्ति ही हिल जाती है। वस्तुतः अद्वैत ब्रह्मवाद की स्थापना अनिर्वचनीय अविद्या के सिद्धान्त के कारण ही हो सकती है। एकाद्वैतब्रह्मवाद में जगत् की व्याख्या एकमात्र अविद्या के माध्यम से ही दी जा सकती है। जिन दार्शनिकों ने अद्वैत के अविद्यावाद का प्रत्याख्यान किया है, उनमें रामानुजाचार्य का नाम प्रमुख है। रामानुज ने अद्वैतवेदान्त के अविद्यावाद के विरुद्ध सात प्रकार की अनुपपत्तियाँ प्रदर्शित की हैं। वे सात प्रकार की अनुपपत्तियाँ इस प्रकार हैं—1. अविद्यास्वरूपानुपपत्ति। 2. प्रमाणानुपपत्ति। 3. आश्रयानुपपत्ति। 4. तिरोधानानुपपत्ति। 5. अनिर्वचनीयत्वानुपपत्ति। 6. निर्वर्तकानुपपत्ति। 7. निवृत्यानुपपत्ति।

1. अविद्यास्वरूपानुपपत्ति—आचार्य रामानुज ने श्री भाष्य में कहा कि अद्वैत-वेदान्त में प्रतिपादित अविद्या का कोई स्वरूप सिद्ध नहीं हो सकता। रामानुजाचार्य का प्रश्न है कि अविद्यादोष सत्य है या मिथ्या? अद्वैत ब्रह्म के साथ-साथ यदि अविद्या भी सत्य है तो अद्वैतवाद भी द्वैतवाद में परिणत हो जाएगा। अविद्या को मिथ्या कहने पर उस मिथ्या का मूल खोजना होगा, अतः अन्य दोष की कल्पना करनी होगी। इस प्रकार अनवस्थादोष होने लगेगा।[3]

रामानुजीय उक्त स्वरूपानुपपत्ति भी समाचीन नहीं है, क्योंकि अद्वैतवेदान्ती अविद्या को सत्य नहीं कहते, सत्य तो एकमात्र ब्रह्म ही है। अविद्या को अलीकार्थ में मिथ्या भी नहीं कहा है। इसीलिए न द्वैतवाद की आपत्ति है, न अनवस्थादोष ही है। अविद्या स्वयं अनादि है। अतः दोषमूल की खोज व्यर्थ है। अविद्या का स्वरूप सदसद्-विलक्षण अनिर्वचनीय है। अतः स्वरूपानुपपत्ति का प्रश्न नहीं उठता।

2. प्रमाणानुपपत्ति—आचार्य रामानुज कहते हैं कि भावरूप अविद्या में कोई

---

1. राहुवत् स्वावृत्तचैतन्यप्रकाश्याविद्या। अद्वैतसिद्धि, पृ० 575
2. परास्य शक्तिर्विविधैवश्रूयते स्वभाविकी ज्ञानबल-क्रिया च। श्वेताश्वतर—6।8
   मायांतु प्रकृतिं विद्याद् मायिनं तु महेश्वरम्-श्वेताश्वतर—4।10
3. श्रीभाष्य, पृ० 168-169 (निर्णय सागर)

भी प्रमाण नहीं है। अद्वैतवेदान्ती 'अहंमज्ञः, त्वदुक्तमर्थं न जानामि' इत्यादि प्रत्यक्ष प्रमाण के उदाहरण दिया करते हैं। रामानुज का कहना है कि इन उदाहरणों से भावरूप अविद्या की सिद्धि न होकर अभावरूप अविद्या की सिद्धि होती है। 'अहमज्ञः' इत्यादि मानस प्रत्यक्ष में रामानुजाचार्य ज्ञान प्रागभाव मानते हैं। ज्ञानप्रागभाव अभावरूप है। अतः अविद्या भी अभावरूप ही है। अद्वैतवेदान्ती 'अहमज्ञः' इत्यादि अज्ञान प्रत्यक्षस्थलों में अज्ञान को भावरूप मानते हैं। उक्त उदाहरण में ज्ञाता अपनी अज्ञता को साक्षात्-सम्बन्ध से प्रत्यक्ष करता है। अद्वैत मतानुसार अभाव का प्रत्यक्ष साक्षात्सम्बन्ध से नहीं होता। अभाव के साथ इन्द्रिय का साक्षात् योग नहीं होता। घट शून्य भूतल में अभाव प्रत्यक्ष के लिए घटशून्य भूतल के साथ चक्षुइन्द्रिय का संयोग होता है। अद्वैत वेदान्त के अनुसार अनुपलब्धि नामक परोक्ष प्रमाण से अभाव का प्रत्यक्ष होता है। पूर्वोक्त दृष्टान्त में अज्ञान का प्रत्यक्ष साक्षात् होता है। अतः अज्ञान भावरूप है, अभावरूप नहीं। 'अहमज्ञः' इत्यादि स्थलों में एकान्तेन ज्ञान का अभाव है। इस प्रकार प्रतिवादी नहीं कह सकते, क्योंकि 'अहमज्ञः' इस प्रकार से अज्ञान का बोध भी एक प्रकार का ज्ञान ही है। अतः ऐसी स्थिति में अज्ञान का अर्थ ज्ञानाभाव नहीं समझना है।

अविद्या के भावरूपत्व सिद्ध करने के लिए प्रकाशात्मपति ने पंचपादिकाविवरण में अनुमान भी प्रस्तुत किया है। यह अनुमान अद्वैतवेदान्त में बहुत ही प्रसिद्ध है। अनुमान इस प्रकार है—

'विवादाध्यासितं प्रमाणज्ञानम् स्वप्रागभावव्यतिरिक्त-स्वविषयावरण-स्वनिर्वत्य-स्वदेशगतवस्त्वन्तर पूर्वकम्, अप्रकाशितार्थ प्रकाशकत्वात् अन्धकारे प्रथमोत्पन्न प्रदीप-शिखावत्।' इसका अर्थ इस प्रकार है—जब यह घट है, इस प्रकार प्रमाणज्ञान होता है, उक्त प्रमानज्ञान से 'मैं घट को नहीं जानता', इस प्रकार घटविषयक अज्ञानरूपी भाववस्तु की निवृत्ति होती है। घटज्ञान से घटज्ञान के प्रागभाव की निवृत्ति होती है। इसलिए उक्त अनुमान में स्वप्रागभावव्यतिरिक्त विशेषण दिया गया है। घटज्ञान होने से पूर्व 'घट को मैं नहीं जानता' इस प्रकार घट में अज्ञान का आवरण होता है। उस अज्ञानावरण की निवृत्ति घट ज्ञान से होती है, अतः घट विषयक अज्ञान स्वज्ञान द्वारा निर्वत्य है। अनुमान में 'अप्रकाशितार्थ प्रकाशकत्वात्' को हेतु रखा गया है। घट ज्ञान से अप्रकाशित घटरूप अर्थ प्रकाशित होता है। अतः वह अप्रकाशित अर्थ प्रकाशक है। जिस प्रकार अन्धकार में प्रदीप जलाने पर अन्धकार का नाश होता है और अन्धकार में स्थित घट भी प्रकाशित होता है, उसी प्रकार घटविषयक प्रमाणज्ञान से भी घट प्रकाशित होता है। जिस प्रकार प्रदीप द्वारा घट का आवरण अन्धकार दूर हो जाता है, उसी प्रकार ज्ञान द्वारा भी अज्ञानावरण दूर हो जात ाहै। अद्वैतवेदान्त के अनुसार अन्धकार भाव पदार्थ है। उस भाव पदार्थ का निवर्तक प्रदीप है, उसी प्रकार घटविषयक प्रमाण ज्ञान भी घटविषयक अज्ञान को दूर करता है। चूँकि घटविषयक अज्ञान के कारण घट ज्ञाता के ज्ञान में प्रकाशित नहीं हो पाता है, इसीलिए घटविषयक अज्ञान से घट आवृत है, मानना पड़ेगा। इस अनुमान द्वारा यह सिद्ध किया गया कि ज्ञान से अज्ञान की निवृत्ति होती है। घट ज्ञान से घटविषयक अज्ञान की निवृत्ति होती है। वह घटविषयक अज्ञान अभावरूप नहीं,

क्योंकि वह अज्ञान घट को प्रकाशित न होने के लिए आवरण का काम करता है। आवरण का काम अभावरूप अज्ञान नहीं कर सकता। जिस प्रकार अन्धकार द्वारा आवृत घट चक्षुइन्द्रिय द्वारा ज्ञान का विषय नहीं बनता, उसी प्रकार प्रकृत में भी समझना चाहिए। अद्वैतवेदान्ती अन्धकार को भावरूप मानते हैं। इसीलिए उक्त अनुमान में 'अन्धकार में प्रदीपशिखा' के दृष्टान्त की संगति है। जो दार्शनिक अन्धकार को प्रकाशाभावरूप मानते हैं, उनके लिए यह दृष्टान्त अज्ञान के भावत्व का साधक नहीं होगा। अविद्या की भावात्वसिद्धि के लिए चित्सुखाचार्य ने चित्सुखी ग्रन्थ में इसी प्रकार अनुमान प्रस्तुत किया है।[1] अमलानन्द स्वामी ने वेदान्त कल्पतरु में तथा अप्पय दीक्षित ने कल्पतरु परिमल में भावरूपत्व की सिद्धि में अनुमान प्रस्तुत किया है।[2] अद्वैतसिद्धिकार ने भी 'प्रमा प्रमाभावातिरिक्तस्य अनादिनिवर्तिका कार्यत्वात् घटवत्', अनुमान प्रस्तुत किया है। अर्थ इस प्रकार है—जिस प्रकार घट उत्पन्न द्रव्य होने से कार्य है, उसी प्रकार प्रमा भी कार्य है। घट के ही समान प्रमा भी प्रागभाव से भिन्न अनादि वस्तु भावरूप अज्ञान का निवर्तक है। अद्वैत वेदान्तियों ने अज्ञान के भावत्व, भ्रमोपादनत्व, अनादित्व एवं ज्ञानविरोधित्व की सिद्धि में अनेकों अनुमान अपने-अपने ग्रन्थों में प्रस्तुत किए हैं। इसी प्रकार अद्वैत वेदान्तियों ने भावरूप की सिद्धि में श्रुतिप्रमाण एवं अर्थापत्तिप्रमाण भी प्रस्तुत किये हैं। आचार्य मधुसूदन सरस्वती ने अद्वैतसिद्धि के अज्ञान वाले श्रुत्युपपत्ति परिच्छेदः में 'अनृतेन प्रत्यूढाः, नीहारेण प्रावृताः', इत्यादि अनेकों श्रुतिवाक्यों के उद्धरण देकर भावरूप अविद्या में श्रुतिप्रमाण प्रस्तुत किये हैं।

3. **अनिर्वचनीयत्वानुपपत्ति**—आचार्य रामानुज द्वारा अविद्यावाद में अनिर्वचनीयत्व की अनुपपत्ति भी दिखाई है। रामानुज का कहना है कि विश्व में दो श्रेणियाँ हैं—एक सत्, दूसरी असत्। सत् और असत् के बीच में या दोनों के अतिरिक्त तृतीय श्रेणी है ही नहीं। ऐसी स्थिति में अद्वैतवेदान्ती अनिर्वचनीय नामक तृतीय श्रेणी की वस्तु का नाम कहाँ से लेते हैं? अनिर्वचनीय वस्तु की सिद्धि सम्भव नहीं है। रामानुजाचार्य का कथन है कि 'सर्वाच प्रतीतिः सदसदाकारा'।[3] अद्वैत वेदान्त के अनुसार अनिर्वचनीयत्वसिद्धि असम्भव और असंगत नहीं है। अद्वैत के अनुसार परमसत् ब्रह्म है, परम असत् अलीक आकाश कुसुमादि हैं। एक का बाध नहीं होता। दूसरे की प्रतीति नहीं होती। शुक्तिरजतादि भ्रमस्थलीय वस्तु की प्रतीति होती है, अतः अलीक नहीं हैं। बाध हो जाता है, अतः ब्रह्म के समान सत् भी नहीं। इसलिए 'सदसदभ्यां विलक्षणम्अनिर्वचनीयम् है। अद्वैतसिद्धिकार ने सद्विलक्षण होते हुए भी असत् विलक्षण होते हुए जो मिश्रित रूप से सदसद् से भी विलक्षण है, उसी को अनिर्वचनीय कहा है।[4] जो सत्वरूप से असत्वरूप से

---

1. तत्वप्रदीपिका टीका-नयन प्रसादिनी, पृ० 58
2. वेदान्तकल्पतरु एवं परिमल, पृ० 1/3/30
3. श्रीभाष्य, पृ० 170 (निर्णय सागर)।
4. सद्विलक्षणेत्वसति असद्विलक्षणत्वसति सदसद्विलक्षणत्वम्, अद्वैतसिद्धि, पृ० 621

एवं मिश्रित रूप से भी विचार का विषय नहीं बनता, वही अनिर्वचनीय है।[1] अद्वैतसिद्धिकार ने अद्वैतसिद्धि में अनिर्वचनीयत्वसाधक अनुमान भी प्रस्तुत किया है।[2] अतः रामानुज द्वारा उत्थापित अनिर्वचनीयत्वानुपपत्ति संगत नहीं है।

4. आश्रयत्वानुपपत्ति—आचार्य रामानुज की आपत्ति है कि ब्रह्म अविद्या का आश्रय नहीं हो सकता, क्योंकि ब्रह्म ज्ञानस्वरूप है। ज्ञान और अज्ञान परस्पर विरोधी हैं। जहाँ ज्ञान है, वहां अज्ञान नहीं रह सकता। ज्ञानोदय से अज्ञान की निवृत्ति होती है और यदि ब्रह्म को अज्ञान का आश्रय मान लिया जायेगा तब अज्ञान से ब्रह्म के ज्ञानस्वरूपत्व का नाश हो जायेगा।

अद्वैतवेदान्त में वाचस्पति एवं मण्डनमिश्र आदि वेदान्ती अविद्या का आश्रय जीव को ही मानते हैं। वाचस्पति आदि विद्वानों का कथन है कि ब्रह्मविषयक अज्ञान जीव में ही होता है। अतः ज्ञान का आश्रय जीव और विषय ब्रह्म है। प्रतिपक्षी की आपत्ति यह है कि जीव और ईश्वर परभावी तत्व हैं। अविद्या के कारण ही जीवत्व एवं ईश्वरत्व हैं। अतः जीवभाव और ईश्वरभाव से पूर्व अविद्या को होना है तथा अविद्या के लिए आश्रय भी पहले से ही आवश्यक है। जीव को अविद्या के आश्रय मानने पर अविद्या जीवसापेक्ष होगी और जीव भी अपने भाव के लिए अविद्यासापेक्ष होगा। इस प्रकार अन्योन्याश्रय दोष होगा। इस पर वाचस्पति मिश्र का कहना है कि बीजांकुरवत् अन्योन्याश्रय और अनवस्था को यहाँ पर दोष नहीं मानना चाहिए।

प्रकाशात्मयति के अनुसार अविद्या का आश्रय विशुद्ध ब्रह्म ही है। संक्षेपशारीरककार ने भी अविद्या का आश्रय ब्रह्म को ही माना है। उनके अनुसार पूर्वसिद्ध अविद्या का आश्रय पश्चात्सिद्ध जीव नहीं बन सकता।[3] अतः जीव को अविद्याश्रय नहीं मानना चाहिए।

अविद्या ज्ञानाभावरूप नहीं है, इसलिए अविद्या के कारण ब्रह्म में ज्ञान का नाश नहीं होता। रामानुजाचार्य का कहना है कि ज्ञान द्वारा अज्ञान की निवृत्ति कही गई है, अतः अज्ञान का आश्रय ज्ञानस्वरूप ब्रह्म कैसे हो सकता है? इस पर अद्वैतसिद्धिकार ने कहा है कि विशुद्ध चैतन्य अज्ञान विरोधी नहीं है। अन्तःकरण प्रतिबिम्बित चैतन्य ही अज्ञान विरोधी है। अन्तःकरण में प्रतिफलित चैतन्य को इस मत में अविद्या का आश्रय नहीं माना गया है।[4]

अज्ञान का आश्रय जिस प्रकार ब्रह्म है, विषय भी ब्रह्म ही है। ब्रह्म अज्ञान का विषय है, फिर भी ब्रह्म का स्वरूप वास्तविक रूप से आवृत नहीं होता। विरोधी होने पर भी जिस प्रकार अग्नि जल में समाई रहती है, उसी प्रकार ब्रह्म में अविद्या के रहने पर भी ब्रह्म का प्रकाश नष्ट नहीं होता। ब्रह्मविषयक अज्ञान जीव को होता है, इसीलिए

---

1. सत्वासत्वाभ्यां विचारासहत्व सति सदसत्वन विचारासहत्वम्, वही, पृ० 621
2. वही, पृ० 627
3. संक्षेपशारीरक, 1/319
4. अद्वैतसिद्धि, पृ० 577

ब्रह्म को ही अविद्या का विषय भी कहा जाता है। ब्रह्मविषयक ज्ञान से ही अविद्या का नाश होता है। ज्ञान और अज्ञान का विषय समान होता है। इसलिए भी ब्रह्म ही अविद्या का विषय सिद्ध होता है।

5. तिरोधानानुपपत्ति—ब्रह्म प्रकाशस्वरूप है। प्रकाशस्वरूप ब्रह्म के प्रकाश का तिरोधान अविद्या के द्वारा कैसे सम्भव है? प्रकाशस्वरूप ब्रह्म के प्रकाश के तिरोधान का अर्थ होगा, प्रकाश का नाश।[1] अद्वैतवेदान्ती का कहना है कि तिरोधान का अर्थ ब्रह्म के प्रकाश का नाश नहीं है। प्रकाश की स्फूर्ति न होना ही तिरोधान है। घनीभूत मेघ से प्रकाश तिरोहित हो जाता है। सूर्य के प्रकाश के तिरोधान से सूर्य के प्रकाश का नाश नहीं हो जाता। मेघावरण के हटते ही सूर्य पुनः प्रकाशित होता है। यहाँ पर भी अविद्या के आवरण से ब्रह्म का प्रकाश जीव के लिए आवृत हो जाता है। ज्ञानोदय से अविद्या की निवृत्ति होने पर पुनः प्रकाश ही दिखाई देता है। स्वप्रकाशब्रह्म में कल्पित आवरण संभव है। ब्रह्म न प्रकाशते यह बोध जीव को ही होता है।

6. निवर्तकानुपपत्ति—अद्वैतवादी के अनुसार निर्विशेष ब्रह्मविज्ञान से ही अविद्या की निवृत्ति होगी। आचार्य रामानुज का कथन है कि निर्विशेष ब्रह्म प्रमाण सिद्ध नहीं है, अतः अज्ञान के निवर्तक की उपपत्ति नहीं हो सकती। 'वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णः तमसः परस्तात्' इत्यादि प्रकारों से श्रुतिप्रमाण भी सविशेषब्रह्म को ही सिद्ध करते हैं। अतः त्वमसि, अहं ब्रह्मास्मि आदि वेदान्त वाक्य भी सगुण ब्रह्मबोधक होंगे।

अद्वैतवेदान्ती का उत्तर है कि उपक्रम-उपसंहारादि षड्लिंग विधि से परीक्षा करने पर निर्गुण ब्रह्म की सिद्धि असम्भव नहीं है। अतः सम्पूर्ण वेदान्त वाक्यों का तात्पर्य निर्गुण ब्रह्मवाद में ही है। उसी के बोध से अज्ञान की निवृत्ति होती है।

7. निवृत्त्यानुपपत्ति—निर्विशेषब्रह्म के साक्षात्कार से ही अविद्या की निवृत्ति बतलाई गई है, किन्तु रामानुजाचार्य का कहना है कि अद्वैतवादी का ऐसा कहना असंगत है। रामानुज के मत में जगत् प्रपंच सत्य है। जागतिक वस्तुएँ अर्थक्रियाकारी हैं। इसीलिए ज्ञान से प्रपंच की निवृत्ति सम्भव नहीं। इसी प्रकार ज्ञान से अविद्या की भी निवृत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि अद्वैतवादी के अनुसार जीवब्रह्मैकत्वज्ञान से ही अविद्या की निवृत्ति होगी। जीवब्रह्मैकत्वज्ञान रामानुज के अनुसार मिथ्या ज्ञान है। मिथ्या ज्ञान से अविद्या की निवृत्ति कैसे हो सकती है? निवर्तक मिथ्या है, अतः निवृत्ति सम्भव नहीं। ऐसी स्थिति में मुक्ति भी सम्भव नहीं है।

अद्वैतवादी का कथन है कि जागतिक पदार्थ अर्थक्रियाकारी होने पर भी ब्रह्म के समान सत् नहीं हैं, अतः उनकी तथा तदुपरान्त अविद्या की निवृत्ति निश्चित होनी है। अविद्या को विज्ञाननाश्य कहा है। ज्ञानोदय से जिस प्रकार शुक्तिरजत की निवृत्ति हो जाती है, उसी प्रकार ज्ञानोदय से अविद्या की भी निवृत्ति होती है। अविद्या अनादि है, किन्तु विनाशी है। विनाशी पदार्थ का बाध सर्वजनीन प्रसिद्ध है।

---

1. प्रकाशतिरोधानं नाम प्रकाशोत्पत्तिप्रतिबन्धः, विद्यमानस्यविनाशोवा श्रीभाष्य, पृ० 168

इस प्रकार अद्वैत वेदान्त के अविद्यावाद के विरुद्ध रामानुजाचार्य ने सात प्रकार की अनुपपत्तियों का उत्थापन किया है। जिनका उत्तर हमने अद्वैतवेदान्त के अनुसार दिया है। अनिर्वचनीय अविद्या की स्वीकृति द्वारा अद्वैतवेदान्त यह बतलाना चाहता है कि जो कुछ भी हमारे सामने उत्पत्तिविनाशशील वस्तुएं हैं, ये एक दिन विनाश को प्राप्त होंगी। नित्य एकमात्र परम ब्रह्म है। अन्य सभी अनित्य हैं, इसीलिए मिथ्या हैं। अनिर्वचनीयत्व का अर्थ अलीकरूप मिथ्या नहीं है। प्रतीतिसमर्थ एवं अर्थक्रिया समर्थ ही यहां पर मिथ्या का अर्थ है।

अद्वैत वेदान्त में अविद्या को माया और अज्ञान भी कहा गया है। अविद्या, माया, अज्ञान इन शब्दों को पर्यायवाचक माना जाता है। हमारी धारणानुसार विश्वसृष्टि की व्याख्या में ब्रह्मविषयक अज्ञान की आवरण शक्ति के लिए अविद्या शब्द का, जगत् सृष्टि की विक्षेप शक्ति के लिए माया शब्द का प्रयोग होना चाहिए। व्यवहारकालीन भ्रम-स्थलों में शुक्तिविषयक अज्ञान एवं तदुपादानक रजत प्रतीति के लिए आवरण एवं विक्षेप दो शक्तियों से समन्वित अज्ञान के लिए अज्ञान शब्द का प्रयोग समीचीन होगा।

5

अध्यास और ख्यातिवाद

अध्यास

आत्मा चेतन और देह जड़ है। जड़ और चेतन इन दोनों के धर्म भिन्न, एक-दूसरे के विपरीत हैं। चेतन का धर्म प्रकाश अर्थात् ज्ञान और जड़ का धर्म जड़ता है। आत्मा और शरीर या विषयी और विषय दोनों विपरीत धर्मवाले होते हुए भी एक-दूसरे के धर्मों को एक-दूसरे में मानना अज्ञान के ही कारण है। अज्ञान के कारण अध्यास और अध्यास के कारण शरीर इन्द्रिय के धर्मों को आत्मा के धर्म मान कर अज्ञानी पुरुष 'मैं कृश हूं', मैं अन्धा हूं' इत्यादि शरीरेन्द्रिय के धर्मों को आत्मा में आरोपित करते हैं।[1] भाष्यकार ने एवंप्रकार अध्यास को 'मिथ्याज्ञान निमित्त' कहा है।[2] विवरणकार प्रकाशात्मयति ने अध्यास का उपादान मिथ्या अज्ञान को ही कहा है। अन्य दोषों को अध्यास के निमित्तकारण बतलाया है।[3] इसी मिथ्याज्ञान का विग्रह करते हुए आचार्य पद्मपाद ने पंचपादिका में 'मिथ्या च तदज्ञानं च मिथ्याज्ञानम्' कहा है अर्थात् अज्ञान मिथ्या है।[4] यही मिथ्या अज्ञान अध्यास का कारण है। भाष्यकार का कथन है कि अनादि मिथ्याज्ञान के कारण चिदात्मा और जड़-देहादि वस्तुओं में जो विभेद है उसे भ्रान्तदर्शी भूल जाता है और सत्य मिथ्या को मिला करके दोनों के धर्मों को भी मिला कर अनुभव करता है। इसी सत्यानृत मिथुन को ही चिदचिद् ग्रन्थि या अध्यास कहते हैं। भाष्यकार की उक्ति की व्याख्या करते हुए भामतीकार वाचस्पति मिश्र कहते हैं कि मिथ्या अज्ञान के कारण जो सब जागतिक व्यवहार चल रहे हैं और जिन्हें लोक में सत्य मान रहे हैं, वे सभी व्यवहार अध्यासमूलक हैं।[5] जब तक अध्यास है तब तक वे

1. भाष्य भामती, पृ० 10
2. ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य, पृ० 16
3. पंचपादिका-विवरण, पृ० 71, 72—पद्मपाद, मद्रास, 1958
4. पंचपादिका पृ० 26
5. भाष्यभामती, पृ० 16 निर्णय सागर, बम्बई, 1938

व्यवहार भी हैं। अज्ञान अनादि है, अतः अध्यास भी अनादि है। ये जितने भी 'मैं और मेरा' व्यवहार है जड़-चेतन के अविवेकमूलक हैं। जब तक आत्मा अनात्मा के विवेक-ज्ञान का उदय नहीं होगा तब तक अज्ञान का नाश नहीं होगा और अध्यासपूर्वक ही सभी व्यवहार चलेंगे।

अध्यास शब्द का अर्थ है 'अधिकृत्य आस्ते' अर्थात् जिस वस्तु की प्रतीति हो रही है, वह वहां पर नहीं है, किन्तु वह अन्य एक वस्तु को अवलम्बन करके प्रतीत हो रही है। इस अध्यास का लक्षण आचार्य शंकर ने ब्रह्मसूत्रभाष्य में 'स्मृतिरूपः परत्र पूर्वदृष्टाव-भासः'[1] इस प्रकार दिया है। भाष्यकार के उक्त लक्षण में 'अवभास' पद की व्याख्या करते हुए वाचस्पति मिश्र ने 'अवभासोऽध्यासः' इस प्रकार अध्यास का संक्षिप्त लक्षण स्वीकार किया है। स्मृतिरूप, परत्र और पूर्वदृष्ट इन तीन पदों द्वारा लक्षण को अति-व्याप्ति आदि दोषों से मुक्त करके उसका विश्लेषण किया गया है, यही वाचस्पति का मत है।[2] 'अवभास' पद 'अव' उपसर्ग पूर्वक भास धातु से घञ् प्रत्यय करके निष्पन्न हुआ है। भास धातु का अर्थ है प्रकाश; ज्ञान ही एकमात्र स्वप्रकाश वस्तु है; इसलिए भास धातु से भाववाच्य में घञ् प्रत्यय करने पर भास का अर्थ होगा ज्ञान या प्रकाश। कर्मवाच्य में उक्त प्रत्यय करने पर 'भास' से प्रकाशित वस्तु-अर्थात् ज्ञेय वस्तु समझी जाएगी। 'अव' उपसर्ग के द्वारा यहां पर अवसाद या अवमान समझना चाहिए। ज्ञान और ज्ञेय का अवसाद। अवसाद को प्राप्त होने वाला ज्ञान और ज्ञेय दोनों ही अवसन्न हैं। अवसाद का अर्थ है बाध। जो वस्तु या ज्ञान परक्षण में बाधित हो, वह अवसन्न है। परभावी अन्य ज्ञान द्वारा पूर्व उत्पन्न ज्ञान का बाध होना 'अवसाद' है। शुक्ति-रजत-ज्ञान होने पर परवर्ती 'नेदं रजतम्' इस प्रकार बाधक यथार्थ-ज्ञान के उदय होने पर उक्त रजत-ज्ञान और ज्ञेय रजत की अनुवृत्ति नहीं होती। अबमत का अर्थ प्रातिभासिक रजत को दृष्टि में रखकर किया गया है। इसका अर्थ है व्यावहारिक कार्यक्षमता का अभाव। जब तक शुक्ति में रजत-विभ्रम होता है, तब तक रजत को लेने की प्रवृत्ति होती है, परन्तु ज्ञान के द्वारा उसके बाध होने पर रजत के लिए प्रवृत्ति नहीं होती, ज्ञान से उसका तिरस्कार हो जाता है।[3] पूर्वोक्त 'अवसाद' और 'अवमान' द्वारा भास-अर्थात् रजत-ज्ञान और रजत-ज्ञेय दोनों ही मिथ्या हैं, यह सिद्ध होता है, क्योंकि अद्वैतवाद के अनुसार ज्ञेय है और उस ज्ञेय विषयकज्ञान भी मिथ्या विषयक होने के कारण मिथ्या है। आचार्य ने अध्यास को मिथ्या कहा है।[4] अध्यस्त विषयविषयक ज्ञान ही अध्यास है। उस अध्यास का कारण अनादि मिथ्या अज्ञान है। इस प्रकार उपादान के मिथ्या होने के कारण अध्यासज्ञान मिथ्या है और अध्यस्त विषय मिथ्या होने के कारण तद्-

---

1. ब्रह्मसूत्रशांकर-भाष्य, पृ० 17-18 निर्णय सागर 1938
2. भाष्यभामती, पृ० 18, 19, 30 " " 1938
3. अवसाद उच्छेद : अवमानो यौक्तिकतिरस्कारः। वेदान्तकल्पतरु, पृ० 118, निर्णय सागर, 1038
4. अध्यासो मिथ्येति। ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य, पृ० 15

Acc. No - 37997

विषयकत्वेन भी अध्यासज्ञान मिथ्या है। अन्यथाप्रकाश को अध्यास और अन्यथाप्रकाश्य को अध्यस्त कहते हैं और अध्यास एवं अध्यस्त दोनों ही मिथ्या हैं। शुक्ति-रजत के समान ही अद्वैतवाद के अनुसार व्यावहारिक रजत भी मिथ्या है, क्योंकि व्यावहारिक एवं प्रातिभासिक दोनों ही का मिथ्यात्व अभीष्ट हैं, इनमें से प्रातिभासिक रजत का मिथ्यात्व अन्य दार्शनिक भी मानते हैं। इस कारण प्रातिभासिक रजत को दृष्टान्त बनाकर व्यावहारिक पदार्थों की मिथ्यात्वसिद्धि की गई।

'अवभास' पद के साथ 'पूर्वदृष्ट' पद समासयुक्त हैं। 'भास' पद के समान ही 'पूर्वदृष्ट' पद के दो अर्थ हैं। दृश धातु से भाववाच्य में घञ् प्रत्यय करने पर पूर्ववर्ती दर्शन और कर्मवाच्य में घञ् करने पर पूर्व में दृष्टवस्तु अर्थ होते हैं, अर्थ होंगे पूर्ववर्ती दर्शन के समान दर्शन का ज्ञान (प्रकाश) और पूर्व में दृष्ट ज्ञेयवस्तु के समान वस्तु की प्रतीति ही 'पूर्वदृष्टावभास'। इसके साथ 'परत्र' और स्मृतिरूप पदों को जोड़ने पर अर्थ होगा 'परत्र अर्थात् अन्य किसी अपेक्षाकृत सत्यवस्तु में पूर्वदृष्ट किसी वस्तु या ज्ञान के संस्कार के कारण जो प्रतीति है, वही अध्यास है'। इससे भ्रमज्ञान का स्वरूप और उसके विषय के स्वरूप का प्रकारान्तर से कथन हुआ, अर्थात् जगत्-प्रपंच-विषयक भ्रांति एवं भ्रांति के विषय का भी कथन हो गया। 'पूर्वदृष्टावभास' में दृष्ट पद से दर्शनमात्र आवश्यक है। पूर्वदर्शन या पूर्वदृष्ट दृश्य सत्य हो, इसका आग्रह नहीं है। प्रतीतिमात्र की आवश्यकता है।[1] इस प्रकार पूर्व दृष्टावभास की यह अनादि परम्परा है। वाचस्पति मिश्र ने आरोप्य और आरोप को मिथ्या और आरोपाधिष्ठान को सत्य कहा है।[2] ऐसा कहने का कारण आचार्य वचन है। भाष्यकार ने अध्यास को सत्य-मिथ्या का मिलन कहा है।[3] भामतीकार ने भाष्यवचन का अनुसरण करके सत्य-अनृत पदों को क्रमशः आरोपाधिष्ठान और आरोप के साथ जोड़ा है। उनके अनुसार अधिष्ठान अर्थात् आरोप का विषय आपेक्षिक सत्य होता है। 'परत्र' पद से भाष्यकार ने आपेक्षिक सत्य अधिष्ठान की ही बात कही है, यही वाचस्पति मिश्र का तात्पर्य है। भाष्यकार के सत्य-अनृत मिथुनीकरण की व्याख्या में भामतीकार का यह आग्रह है कि 'परत्र' का अर्थ आपेक्षिक सत्याधिष्ठान लिया जाय, शुक्ति-रजत-भ्रम में और ब्रह्मजगद्भ्रम में ठीक बैठता है। शुक्ति-रचत-भ्रम में रजत आरोपणीय है और रजत-ज्ञान आरोप है, दोनों ही मिथ्या—अनृत हैं क्योंकि शुक्ति-अपेक्षया उसकी सत्ता न्यून है, अर्थात् प्रातिभासिक है। शुक्ति की सत्ता व्यावहारिक है, इसलिए आपेक्षिक सत्याधिष्ठान हुआ। इसी प्रकार ब्रह्म में जगद्भ्रम की स्थिति में जगत् की सत्ता व्यावहारिक है, अतः मिथ्या है, एवं ब्रह्म की सत्ता पारमार्थिक होने के कारण सत्य है, यही 'परत्र' पद से सत्यानिष्ठान अपेक्षित है, किन्तु अन्योन्याध्यास स्थल में उक्त प्रकार के सत्य अनृत का निर्वाह नहीं हो पाता।

---

1. तस्य च दृष्टत्वमात्रमुपयुज्यते न वस्तुसत्तेति। भाष्यभामती— पृ० 18
2. तत्र पूर्वदृष्टंस्वरूपेण सदप्यारोपणीयतयानिर्वाच्यमनृतम्। आरोपविषयं सत्यमाह परत्रेति। वही।
3. सत्यानृते मिथुनीकृत्य। ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य—पृ० 18

देहादि में आत्मा का अध्यास और आत्मा में देहादि का अध्यास-अन्योन्याध्यास है। इस प्रकार के अध्यास स्थल में जब देहादि में आत्मा का अध्यास होता है, उस स्थिति में आरोपणीय वस्तु आत्मा है, वह अनृत नहीं है एवं देहादि पदार्थ आत्मापेक्षया सत्य नहीं है। इस पर यदि आत्मा का अध्यास न मानकर सम्बन्ध का ही अध्यास मानें तो भी अन्योन्याध्यास का निर्वाह नहीं हो पाता, क्योंकि सम्बन्ध भी व्यावहारिक है, देहादि का भी, अतः सत्यानृतों का मिलन नहीं कहा जा सकता, न ही तादात्म्यसम्बन्ध-विशिष्ट आत्मा को आरोपणीय मान कर विशेषण सम्बन्धमात्र को ही अनृत मान सकते, सत्यानृत के निर्वाह के लिए आत्मा को विशेषण के साथ आरोपणीय मानना पड़ेगा तभी सत्यानृत का मिथुन हो सकता है। इसी कारण वेदान्त-कल्पतरु-परिमलकार अप्पय दीक्षित ने सत्यानृत के वर्गीकरण को अधिष्ठान और आरोपणीय का वर्गीकरण नहीं माना है। उनका कहना है कि भाष्यकार के कथन का तात्पर्य मात्र विषम सत्ता से है। एक ही सत्ता में अध्यास नहीं हो सकता। अध्यास के लिए विषमसत्ता का होना आवश्यक है। यह नहीं कि आरोपणीय ही अनृत हो और यह भी नहीं कि अधिष्ठान ही सत्य हो। जब देहादि में आत्मा का अध्यास होता है तब आत्मा पारमार्थिक और देहादि व्यावहारिक हैं, अतः विषमसत्ता हुई। इस प्रकार अन्योन्याध्यास का भी निर्वाह हो जाएगा। शुक्ति-रजत-स्थल में भी विषमसत्ताकत्व है, क्योंकि शुक्ति व्यावहारिक और रजत प्रातिभासिक है।[1] अद्वैत-सिद्धिकार ने शुद्ध ब्रह्म को अध्यस्त या कल्पित नहीं माना है। उनके अनुसार वृत्तिरूप ज्ञान के कल्पित होने पर भी, उस वृत्ति में वृत्यवच्छिन्न चेतन को अध्यस्त कहने पर भी उसमें रहने वाला शुद्ध चेतन कल्पित नहीं है।[2]

अध्यास लक्षण में इस 'परत्र' पद के द्वारा स्मृति में अतिव्याप्ति का निवारण किया है, क्योंकि स्मृतिज्ञान के लिए परत्र-अर्थात् समक्ष की आवश्यकता नहीं पड़ती। कल्पतरुकार अमलानन्द स्वामी ने असंन्निहितस्य परत्र प्रतीतिरध्यासः[3] इस प्रकार अध्यास का लक्षण दिया है। असंनिधान का अर्थ है आरोप्य के अधिष्ठान में परमार्थतः आरोप्य का असत्व, न कि देशान्तरस्थित का असत्व। वैसा मानने पर अन्यथाख्याति का प्रवेश होगा जो कि अपसिद्धान्त है, अथवा असंनिधान पद से सत्ख्याति का वारण किया गया है।[4]

---

1. देहादावना मन्यात्माध्यासे च व्याप्तिः ! तत्र स्वरूपतोप्यध्यस्तो देहादिः सत्यः। शबलित-रूपमात्रेणाध्यस्त आत्मा त्वसत्य इत्येवं सत्ये लक्षणानुगमस्य कर्तुमयुक्तत्वात्।

   .....तस्मादधिष्ठानासमत्ताकस्यावभासो अध्यास इत्येवानुगतलक्षणम्। कल्पतरु परिमल—पृ० 19, निर्णय सागर, 1938
2. अद्वैतसिद्धि—मधुसूदन। निर्णय सागर, 1917
3. वेदान्तकल्पतरु, पृ० 19
4. असंनिधानं चारोप्यस्याधिष्ठाने परमार्थतोसत्वं न देशान्तरसत्वमिति नापसिद्धान्तः। अथवा संनिधानेम सत्ख्यातिरिह वारिता। वेदान्त-कल्पतरु—पृ० 19, 21

अध्यासवाद शून्यवाद नहीं है, एतदर्थ भी 'परत्र' अर्थात् साधिष्ठान भ्रम स्वीकार किया गया है, शून्यवादी भ्रम के लिए अधिष्ठान की आवश्यकता नहीं मानते, किन्तु अद्वैतवाद के अनुसार भ्रम सर्वदा किसी अधिष्ठान में ही होता है, निरधिष्ठान भ्रम संभव नहीं।[1] स्मृतिज्ञान भ्रम नहीं है, स्मृतिज्ञान के लिए समक्षवस्तु अर्थात् अधिष्ठान की आवश्यकता नहीं है। एतदर्थ अध्यास लक्षण में स्मृति-पद न रखकर 'स्मृतिरूप' पद का समावेश किया गया है, इसका अर्थ है स्मृति के समान, न कि स्मृति।[2] अब विचार्य यह है कि स्मृति के साथ समानताएँ कौन-कौन सी हैं जो कि अध्यास में हैं ? स्मृति जिस प्रकार संस्कारजन्य होती है, उसी प्रकार अध्यास में भी संस्कार की आवश्यकता होती है, क्योंकि जिसने पहले कभी सर्प न देखा हो, उसे सर्पभ्रम नहीं हो सकता, इसलिए पूर्वदृष्ट होने के लिए कहा गया है। पूर्वदृष्ट होने के साथ ही उसे संस्कार के रूप में रहना चाहिए, तभी रज्जु को देखकर रज्जु की समानता के निमित्त से सर्प संस्कार उद्बोधित होते हैं और संमुखस्थ रज्जु में सर्प की भ्रान्ति होती है, अतः स्मृतिरूप में संस्कार-जन्यत्व ही स्मृति के साथ समानता है।[3] वस्तुतः स्मृति और भ्रमज्ञान में बहुत भिन्नता है। संस्कार-जन्यत्व होने से समानता है। भ्रमज्ञान में संस्कार के साथ-साथ आगन्तुक दोष की भी आवश्यकता है, शुक्ति-रजत-भ्रम में चक्षु में काचकामादि आगन्तुक दोष है, जो कि उक्त भ्रम में निमित्त बनते हैं, जिस प्रकार राम और श्याम दोनों को साथ में भ्रमण करते देखने पर बाद में यदि श्याम को देखते हैं तो राम का स्मरण हो आता है और उस स्मृतिज्ञान के उद्बोधक श्याम का ज्ञान होता है, उसी प्रकार शुक्ति-रजत-ज्ञान स्थल में भी शुक्ति-खण्ड के चाकचिक्यादिदर्शन उद्बोधक हैं और दूरत्वादि दोष हैं।

इस प्रकार अध्यास का 'स्मृतिरूपः परत्र पूर्वदृष्टावभासः' निर्दुष्ट लक्षण हुआ। इसमें 'सोऽयं देवदत्तः' अर्थात् पाटलिपुत्र में देखा हुआ आज बनारस में 'वही देवदत्त यह है,' इत्यादि प्रत्यभिज्ञान में भी अतिव्याप्ति दोष नहीं हैं, क्योंकि उक्त प्रत्यभिज्ञान में वही देवदत्त, इस समय भी संमुख में हो, तभी प्रत्यभिज्ञान होता है। भ्रम में पूर्व दृष्ट सर्प रज्जु में नहीं होता, जिससे कि सर्प का प्रत्यभिज्ञान हो, अपितु सर्प स्मृति के समान होकर अर्थात् संस्कार से उद्बोधित होकर रज्जु में न होता हुआ भी दिखाई देता है, अतः प्रत्यभिज्ञान से भिन्न है भ्रमज्ञान।[4] इस अध्यास लक्षण के अवभास पद के अतिरिक्त अन्य पदों द्वारा भ्रमस्थल में चार ख्यातिवादों का निराकरण करके अनिर्वचनीय ख्यातिवाद का समर्थन किया गया है क्योंकि अवभास कहने से सत्ख्यातिवाद का और परत्र कहने से निरधिष्ठानक असत्ख्यातिवाद का निवारण हो जाता है। सत्ख्याति और

---

1. कल्पतरु-परिमल, पृ० 20
2. स्मृतेः रूपमिव रूपमस्य, न पुनः स्मृतिरेव। पंचपादिका, पृ० 41
3. अदृष्टादिसमुद्बोधितसंस्कारविशेषसहकार्यनुरूपं मिथ्यार्थविषयं ज्ञानमुत्पादयति। पंचपादिका, पृ० 56 (मद्रास 1958)
4. भाष्यभामती, पृ० 19, 20

असत्ख्याति के निराकरण द्वारा अन्य ख्यातियों का भी निराकरण हो जाता है तथा अनिर्वचनीय ख्याति की स्थापना हो जाती है। पंचपादिकादि ग्रन्थों में तथा भामती में भी अनेक दृष्टान्तों सहित इस आचार्योक्त अध्यास लक्षण को घटाया गया है। पद्मपादाचार्य कहते हैं—जैसे कि जवाकुसुम के सान्निध्य से, स्फटिक स्वच्छ होने पर भी, उसके संसर्ग से उसके धर्म की प्रतीति स्फटिक में होने लगती है, स्फटिक में लोहितिमा मिथ्या है क्योंकि स्फटिक में लोहितिमा वस्तुतः है नहीं, इसी प्रकार आत्मा में अहंकारादि का उपराग भी अध्यास है।[1] इसी प्रकार दर्पण में मुख प्रतिबिम्ब दर्शन का भी उदाहरण दिया गया है।[2] भामतीकार ने दृष्टान्तों से अध्यास को समझाने का प्रयास किया है।

हमने इतः पूर्व यह कहा है कि भामतीकार 'अवभास' को ही अध्यास का लक्षण मानते हैं, कि भाष्यरत्नप्रभाकर का इस विषय में भामतीकार से मतभेद है। रत्नप्रभाकर ने 'परत्र अवभासः' इतना ही अध्यास का लक्षण माना है। भाष्यकार द्वारा प्रस्तुत लक्षण के अन्य पदों को इस लक्षण के उपपादनार्थ माना है।[3] भामतीकार के अनुसार अवभास के दो अर्थ हैं—भाववाच्य घञ्-प्रत्ययान्त, कर्मवाच्य घञ् प्रत्ययान्त। जिसका तात्पर्य है मिथ्याज्ञान और मिथ्यावस्तु अर्थात् ज्ञान और ज्ञेय दोनों ही अध्यस्त हैं। शुक्ति-रजत-ज्ञान भी मिथ्या तथा शुक्तिरजतार्थ भी मिथ्या है, परन्तु भाष्यरत्नप्रभाकर ने अर्थ की मिथ्यात्वसिद्धि की है। उन्होंने अवभास में कर्मवाच्य घञ्-प्रत्ययमात्र माना है।[4] रत्नप्रभाकर का लक्षण भाष्य के साथ अधिक सामंजस्य रखता है, क्योंकि भाष्यकार ने सर्वथापि अन्यत्र अन्यधर्मावभासतां न व्यभिचरति[5] सभी अध्यास लक्षणों में अन्यत्र अन्य धर्म की अवभासता का व्यभिचार नहीं होता, इस कथन में 'परत्र' और 'अवभास' पर जोर दिया गया है। रत्नप्रभाकर ने स्वयं अध्यस्त अर्थात् मिथ्यावस्तु का लक्षण प्रस्तुत किया है—'एकावच्छेदेन स्वसंसृज्यमाने स्वात्यन्ताभाववति अवभास्यत्वम् अध्यस्तत्वम्[6]' अर्थात् एक ही अंश में निज के साथ संसृष्ट करके जो प्रतीत हो, फिर भी अत्यन्ताभावयुक्त जो वस्तु, उसमें जो अवभासित हो, वही अध्यस्त है। यह अध्यस्त विषय के स्वरूप का लक्षण है, न कि अध्यासज्ञान के स्वरूप का। शुक्ति रजत में 'इदं रजतम्' इस प्रकार ज्ञान में रजत 'इदं' के साथ संसृष्ट सा लगता है फिर भी इदं' में रजत का अत्यन्ताभाव है। वह अत्यन्ताभाव युक्त वस्तु 'इदं' में प्रतिभासित हो, वह है 'रजत', वही अध्यस्त, अतः मिथ्या है। यह लक्षण भी भाष्यकार के लक्षण के साथ सामंजस्य रखता है।

---

1. पंचपादिका, पृ० 100 (मद्रास 1958)
2. वही, पृ० 100, 105 (मद्रास 1958)
3. अत्र परत्रावभास इत्येव लक्षणम्। शिष्टं पदद्वयं तदुपपादनार्थम्। भाष्यरत्नप्रभा, पृ० 18
4. अवभास्यत इत्यवभासो रजताद्यर्थः तस्यायोग्यमधिकरणं परत्रपदार्थः। वही।
5. ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य, पृ० 32
6. भाष्यरत्न प्रभा, पृ० 18

अध्यास के भेद और उनकी व्याख्या

पूर्वोक्त अध्यास के अनेक प्रकार हैं। भाष्यकार ने स्वयं अन्योन्याध्यास, धर्माध्यास, विषयाध्यास आदि अध्यास के लिए शब्द प्रयोग किए हैं।[1] इस प्रकार अध्यास के प्रथम दो भेद किये जा सकते हैं (1) ज्ञानाध्यास, (2) अर्थाध्यास। अर्थाध्यास पुनः षड्विध है :

1. केवल सम्बन्धाध्यास—सम्बन्ध का अध्यास-अनात्मा में आत्मा के सम्बन्ध का अध्यास होता है।
2. सम्बन्ध सहित सम्बन्धी का अध्यास—जैसे आत्मा में अनात्मा के सम्बन्ध और स्वरूप दोनों का अध्यास होता है।
3. केवल धर्माध्यास—आत्मा में स्थूल देह के धर्मों का अध्यास।
4. धर्म सहित धर्मी का अध्यास—अन्तःकरण के धर्मों और स्वरूप दोनों का अध्यास आत्मा में।
5. अन्योन्याध्यास—आत्मा में अनात्मा का और अनात्मा में आत्मा का अध्यास।
6. अन्यतराध्यास—आत्मा में अनात्मा स्वरूपतः अध्यस्त है अनात्मा में आत्मा स्वरूपतः अध्यस्त नहीं।

अथवा स्वरूपाध्यास और संसर्गाध्यास भेद से अर्थाध्यास दो प्रकार का है। ज्ञान द्वारा बाधयोग्य वस्तु स्वरूपतः अधिष्ठान में अध्यस्त होती है, जैसे देहादि अनात्म वस्तुएँ ज्ञानबाध्य हैं और आत्मा में स्वरूपतः अध्यस्त हैं। बाध के अयोग्य वस्तु का स्वरूपतः अध्यास नहीं हो सकता, हाँ उसका अधिष्ठान के साथ संसर्ग हो सकता है। आत्मा अबाध्य है, अतः अनात्मा में आत्मा का संसर्गाध्यास होता है, स्वरूपाध्यास नहीं। इन दो अध्यासों के अन्तर्गत पूर्वोक्त षट् प्रकारक अध्यास आ जाते हैं।

अद्वैतमत में भ्रमस्थल में अनिर्वचनीय वस्तु की उत्पत्ति मानते हैं, कहीं पर सम्बन्धी की उत्पत्ति—जैसे शुक्ति में रजत की, कहीं पर सम्बन्ध की उत्पत्ति—जैसे शुक्ति-रजत में शुक्तिवृत्तितादाम्यसम्बन्ध की। अनिर्वचनीय वस्तु की प्रतीति को ज्ञानाध्यास और ज्ञान के अनिर्वचनीय विषय को अर्थाध्यास कहते हैं। शुक्ति में रजत की प्रतीत ज्ञानाध्यास है और शुक्ति-रजत स्वयं अर्थाध्यास है। जहाँ पर अन्योन्याध्यास होता है वहाँ पर दोनों वस्तुओं का परस्पर स्वरूपाध्यास नहीं होता, वहाँ तो आरोपित वस्तु का ही स्वरूपाध्यास होता है। सत्यवस्तु के धर्म या सम्बन्ध का अध्यास होता है। सम्बन्धाध्यास दो प्रकार का है। कहीं-कहीं पर धर्मों के सम्बन्ध का अध्यास होता है और कहीं-कहीं पर केवल सम्बन्ध का ही अध्यास होता है। शुक्ति-रजतभ्रम में शुक्ति

---

1. विषयस्य तद्धर्माणां चाध्यासः। ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य—पृ० 10 अन्योन्यस्मिन् अन्योन्यात्मकताम् अन्यन्योधर्माश्चाध्यस्य। वही, पृ० 15

वृत्ति इदन्तारूप धर्म के सम्बन्ध का अध्यास रजत में है। 'रक्तः पटः' में रक्तरूप धर्म के सम्बन्ध का अध्यास पट में होता है, परन्तु दर्पण में केवल मुख के सम्बन्ध का अध्यास होता है। आत्मा में अन्तःकरण के स्वरूप का अध्यास होता है, अन्तःकरण में आत्मा का स्वरूपाध्यास नहीं होता, केवल संसर्गाध्यास माना जाता है।[1] आत्मा ज्ञानस्वरूप है, किन्तु ज्ञान का सम्बन्ध अन्तःकरण में प्रतीत होता है, इस कारण से आत्मा के सम्बन्ध का अध्यास अन्तःकरण में होता है। 'अहं काणः' आदि व्यवहार में इन्द्रिय धर्म काणत्वादि का अध्यास आत्मा में होता है। इन्द्रियादि का आत्मा में तादात्म्याध्यास नहीं होता, क्योंकि 'अहं नेत्रं' ऐसी प्रतीति नहीं होती, इसलिए नेत्रादि अध्यस्त नहीं, उनके धर्म अध्यस्त हैं। यह धर्माध्यास का उदाहरण है। यद्यपि नेत्रादि लिखित प्रपंच का अध्यास चेतन में है तथापि 'त्वं' पदार्थ में सम्पूर्ण प्रपंच का अध्यास नहीं होता। यद्यपि सम्बन्ध भी एक प्रकार का धर्म है और उसके अध्यास को धर्माध्यास ही कहना चाहिए, न कि पृथक् सम्बन्धाध्यास, तथापि, सम्बन्ध और धर्म में कुछ अन्तर होने के कारण सम्बन्ध के अध्यास को पृथक् किया गया है। धर्म अस्वतन्त्र अन्याश्रित वस्तु को कहते हैं, किन्तु यह धर्म दो प्रकार का है। कुछ धर्म प्रतियोगी अनुयोगी प्रतीति के अधीन प्रतीत होते हैं और कुछ धर्म ऐसे भी हैं जो अनुयोगीमात्र की प्रतीति-अधीन प्रतीत होते हैं एवं कभी-कभी अनुयोगी की भी प्रतीति के बिना प्रतीति के विषय बनते हैं—जैसेकि घटत्वादि धर्म की प्रतीति में अनुयोगी प्रतीति की आवश्यकता नहीं है। जो धर्म अनुयोगी और प्रतियोगीरूप दो सम्बन्धों पर आश्रित है, तथा दोनों से भिन्न भी है, अथवा प्रतियोगी अनुयोगी की प्रतीति के बिना जिसकी प्रतीति न हो, ऐसा धर्म है सम्बन्ध; इसलिए सम्बन्ध के धर्म होने पर भी धर्माध्यास से पृथक् सम्बन्धाध्यास स्वीकार किया गया है।

'सन् घटः', 'सन् पटः' इत्यादि स्थलों में चेतन और विषय के धर्मों का अन्योन्याध्यास अर्थात् धर्मान्योन्याध्यास होता है। चेतन और विषय घटादि का अन्यतराध्यास होता है, क्योंकि सत् का विषय-घट में स्वरूपाध्यास नहीं होता। सत् के साथ संसर्गाध्यास विषय का होता है, अतएव विषय घट भी 'घट है' ऐसा भासता है। यदि घटादि पदार्थ सत् में स्वरूपतः अध्यस्त न हों तो तब घटादि अस्तित्व और भातित्व एवं प्रियत्व की प्रतीति नहीं होती। अस्ति, भाति एवं प्रियत्व धर्म सत् के हैं, घटादि के साथ सत् का संसर्गाध्यास होने के कारण उनमें भी उक्त धर्मों की प्रतीति होने लगती है।[2] परस्पराध्यास के कारण ही 'घटः सन्' 'सन् घटः', इसी प्रकार कभी घट में सत्ता-संसर्ग और कभी स्वरूपाध्यास होते हैं, इसी प्रकार सम्पूर्ण प्रपंच चेतन ब्रह्मरूप अधिष्ठान में अध्यस्त है। इसी कारण प्रपंच में चेतन के धर्मों की प्रतीत होने लगती है।

---

1. पंचपादिका, पृ० 113 (मद्रास 1958)
2. सदवच्छेदेन घटादिकं तत्तादात्म्यं घटत्वादिसंसर्गश्च घटाद्यवच्छेदेन सत्तादात्म्य-सत्वादिधर्म संसर्गश्च जायते। लघुचन्द्रिका, पृ० 45, ब्रह्मानन्द सरस्वती, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, 1917

अध्यास में अधिष्ठानसामान्य-ज्ञान के विषय में साम्प्रदायिक मतभेद

'इदं रजतम्' इत्यादि भ्रम में 'इदं' शुक्ति है और उस शुक्ति का शुक्तित्वप्रकारकविशिष्टभाव से यदि ज्ञान होता है तो भ्रम नहीं होता। तब तो 'इयं शुक्ति' ही ज्ञान होगा, किन्तु जिस समय किन्हीं कारणों से शुक्ति को विशेषरूप से न जानकर मात्र 'इदम्' रूप से जानते हैं, उस समय शुक्तिगत अज्ञान-अर्थात् शुक्त्यवच्छिन्न चेतनगताज्ञान के आवरण भंग न होने के कारण उसमें अविद्या के विक्षेप से रजत अनिर्वचनीय उत्पन्न होता है, तथा 'इदं' को रजत कह देते हैं। इस प्रकार भ्रमस्थल में प्राचीनाचार्य अधिष्ठान के सामान्यज्ञान को आवश्यक मानते हैं। यद्यपि अधिष्ठान के ज्ञान से अध्यास की निवृत्ति भी कही गई हैं, तथापि अधिष्ठान के सामान्यज्ञान से नहीं क्योंकि 'इदं रजतम्,' में इदं का सामान्यज्ञान प्रत्यक्षतया होता है और इदं के प्रत्यक्ष ज्ञान के होने पर ही उक्त भ्रम होता है। यदि अज्ञान की निवृत्ति मानी गई तब तो अध्यास हो ही नहीं सकता, क्योंकि अध्यास का उपादान अज्ञान है। पंचपादिका-विवरणकार ने कहा है—कि अज्ञान के रहने से अध्यास होता है, न रहने से अध्यास नहीं होता, अतः अन्वयव्यतिरेक से मिथ्या अज्ञान ही अध्यास का उपादान कारण है।[1] विवरणकार के उक्त कथन से सामंजस्य स्थापित करने के लिए अन्य आचार्यों ने कहा है कि इदमाकारवृत्ति से इदमवच्छिन्न चेतनगत अज्ञान की निवृत्ति होती है, किन्तु शुक्त्यवच्छिन्न चेतनगत विशेषाज्ञान की निवृत्ति नहीं होती है। इस प्रकार शुक्त्यवच्छिन्न चेतननिष्ठ अज्ञान रजतरूप से परिणत हो जाता है और इदमवच्छिन्न चेतननिष्ठ अज्ञान की निवृत्ति भी बनी रहती है, क्योंकि इदं के साथ इन्द्रिय संप्रयोग होने के कारण उसका सामान्यज्ञान तो होगा ही, अन्यथा सामान्यज्ञान के अभाव में अध्यास ही नहीं हो पायेगा। इसलिए रजत का उपादान इदमवच्छिन्न चेतनाज्ञान न होकर शक्त्यवच्छिन्न चेतनगत अज्ञान है।[2]

संक्षेपशारीरककार का कहना है कि शुक्त्यवच्छिन्न चैतन्य ही भ्रम का अधिष्ठान है, इदमवच्छिन्न चैतन्य तो आधार है, क्योंकि विक्षेप से युक्त अधिष्ठान होता है और विक्षेप के साथ भासने वाला आधार होता है।[3] आधारनिष्ठ अज्ञान की निवृत्ति मानने पर भी अधिष्ठाननिष्ठ अज्ञान की निवृत्ति न होने के कारण तदुपादानकाध्यास संभव है। कुछ अन्य आचार्यों का मत है कि इदमवच्छिन्न चैतन्यनिष्ठाज्ञान ही अध्यास का अधिष्ठान है। इदं के साथ इन्द्रिय संप्रयोग से मात्र उक्त अज्ञान के आवरणांश की निवृत्ति होती है न कि विक्षेपांश की, अतः विक्षेपांश ही रजतरूप से परिणत होता है।

---

1. तस्मिन् सति अध्यासस्य उदयात् असति च अनुदयात् इति ब्रूमः। पंचपादिका विवरण, पृ० 64, 65, प्रकाशात्मयति, मद्रास 1958
2. इदमाकारवृत्या इदमंशाज्ञाननिवृत्तावपि शुक्तित्वादि विशेषांशाज्ञानानिवृत्ते. तदेव रजतोपादानम्। सिद्धान्तलेशसंग्रह, पृ० 215 अप्पय दीक्षित, अच्युत ग्रन्थमाला, वाराणसी, सं० 2011
3. वही, पृ० 216

जीवन्मुक्ति अवस्था में अधिष्ठान साक्षात्कार से अज्ञान की आवरणशक्ति की निवृत्ति होती है, विक्षेपशक्ति की अनुवृत्ति रहती है उसी प्रकार रजताध्यास में भी समझना चाहिए।[1]

नृसिंह मट्टोपाध्याय उक्त मत को स्वीकार नहीं करते। उनके अनुसार 'इदं रजतम्' स्थल में अधिष्ठान के सामान्यज्ञान की आवश्यकता ही नहीं। उनका कहना है इदं रजतम् में दो ज्ञान है ही नहीं, क्योंकि इदं और रजतम् इस प्रकार का अनुभाव ही नहीं होता। अध्यास में मात्र दुष्टेन्द्रिय संप्रयोग ही कारण है, न कि अधिष्ठान का सामान्य ज्ञान।[2]

इस मत को विवरणाचार्यादि प्राचीन अद्वैत वेदान्तियों ने नहीं स्वीकार किया क्योंकि उपाध्याय का मत उनके विरुद्ध पड़ता है। उपाध्याय के मत में ज्ञानाध्यास अर्थात् रजतज्ञानरूप अध्यास नहीं सिद्ध होता, क्योंकि इन्द्रियसंप्रयोगमात्र उनके मत में अध्यास का हेतु है। उनके मतानुसार अहंकारादि अध्यास की उपपत्ति नहीं होगी क्योंकि वहाँ पर अधिष्ठान साक्षीचेतन के नीरूप होने के कारण ऐन्द्रियसंप्रयोग संभव नहीं। इसी प्रकार उपाध्याय के मत में स्वप्नाध्यास भी संभव नहीं हो पायेगा, क्योंकि स्वप्न भी साक्षीभास्य है, अतः वहाँ पर भी साक्षी के साथ ऐन्द्रिय संयोग संभव नहीं। वस्तुतः इस विषय में अधिष्ठानसामान्यज्ञान सापेक्षत्व सिद्धान्त ही अधिकांश अद्वैताचार्यों को स्वीकार्य है।

भ्रमस्थल में विभिन्न ख्यातिवाद

उक्त भ्रमस्थल में दार्शनिकों के बीच मतभेद हैं। विशेषकर अद्वैतवेदान्त से अनिर्वचनीय ख्यातिवाद को अन्य दार्शनिक स्वीकार करने को प्रस्तुत नहीं हैं। परम-सत्ता के विषय में दार्शनिकों की धारणाएं भिन्न-भिन्न हैं। सत्तासम्बन्धी अपनी-अपनी धारणा के साथ ही भ्रम स्थान में भी सैद्धान्तिक मतभेद आवश्यक हैं। अद्वैतवेदान्त के प्राचीन ग्रन्थों में अनिर्वचनीय ख्याति सहित पंचख्याति का उल्लेख है। उन ख्यातियों के नाम हैं—

1—असत्ख्याति—शून्यवादी बौद्धों का मत।

2—आत्मख्याति—विज्ञानवादी बौद्धों का मत।

3—अख्याति—मीमांसक प्रभाकर का मत।

4—अन्यथाख्याति—न्याय का मत।

5—अनिर्वचनीयख्याति—अद्वैतवेदान्त का मत।

इष्टसिद्धिकार विमुक्तात्ममुनि ने इष्टसिद्धि में संक्षेपतः ख्याति तीन प्रकार की बतलाई है। (1) सत्ख्याति, (2) असत्ख्याति एवं (3) सदसदनिर्वचनीय ख्याति।

अनिर्वचनीय ख्याति की स्थापना करते हुए विमुक्तात्मा कहते हैं कि यदि 'इदं

---

1. वही, पृ० 217, 218
2. वही, पृ० 218, 219

रजतम्' इस भ्रान्तिस्थल में रजत असत् है तो उसकी ख्याति नहीं होनी चाहिए और यदि सत् है तो उसका 'नेदं रजतं' करके बाध नहीं होना चाहिए,[1] ख्याति और बाध दोनों सिद्ध करते हैं कि रजत अनिर्वचनीय है। भासर्वज्ञ ने न्यायभूषण[2] में अष्टख्यातियों का उल्लेख किया है—

1—अख्याति—निरालम्बन ख्याति ही अख्याति है (माध्यमिक)
2—असत्ख्याति—असदवलम्बन ख्याति असत् ख्याति है (माध्यमिक एकदेशी)।
3—प्रसिद्धार्थख्याति—(चार्वाक)
4—अलौकिकार्थख्याति—(भट्टोम्बेक प्रमुख)
5—स्मृतिविप्रमोषख्याति (प्राभाकर)
6—आत्मख्याति—(सौत्रान्तिक वैभाषिक योगाचार)
7—सदसत्वाद्यनिर्वचनीय ख्याति—(अद्वैतवेदान्ती)
8—विपरीतख्याति—(न्याय)।

परवर्ती काल में रामानुज सम्प्रदाय का सत् ख्यातिवाद, माध्व का असत्ख्याति वाद (इसे साधिष्ठानक असत्ख्यातिवाद कहा गया है) प्रसिद्ध हुए हैं। सांख्यदर्शन द्वारा सदसत्ख्याति स्वीकृत है। इस प्रकार नव ख्यातिवादों की भ्रम स्थल में चर्चा मिलती है, परन्तु इनमें से अद्वैतग्रन्थों में पंचख्यातियों की ही अधिक चर्चा है।

भासर्वज्ञ ने निरालम्बन अख्याति की चर्चा की है जो कि अन्यत्र चर्चित नहीं है। भासर्वज्ञ ने उक्त मत को पूर्वपक्ष के रूप में रखते हुए कहा है कि मरुस्थल में जल-ज्ञान में जल की सत्ता नहीं है, क्योंकि ऐसा होने पर जल का ग्रहण होना चाहिए। मरीचि भी जल का रूप धारण नहीं करती, क्योंकि वे उससे भिन्न हैं। अतः निरालम्बन ही मरुस्थल जल है। इसी प्रकार चार्वाक के प्रसिद्धार्थ ख्याति में भ्रम माना ही नहीं गया, क्योंकि उनके अनुसार भ्रमस्थल में भी तत्कालीन प्रमाणसिद्ध वस्तु की ही प्रतीति होती है। इन दोनों ख्यातिवादों के खण्डन में उन्होंने युक्तियाँ भी दी हैं।[3] इन दोनों के अतिरिक्त बाकी 6 ख्यातिवाद बहुधा चर्चित हैं। उनकी चर्चा हम क्रमशः करेंगे।[4]

---

1. रजतं भाति यद् भ्रान्तौ तत्सदेके परे त्वसत्।
अन्येऽनिर्वचनीयं तदाहुस्तेन विचार्यते॥
असतः ख्यात्ययोगात् सद्बाधायोगादसत्सत्।
अतोऽनिर्वचनीयं तदिति पक्षेषु युक्तयः॥ इष्टसिद्धि 1, 2, 3. पा० 39 विमुक्तात्मा, बड़ौदा 1933
2. न्यायभूषणम् (टिप्पणी सहित) पृ० 26, भासर्वज्ञ, षड्दर्शन प्रका० वाराणसी, 1968
3. न्यायभूषण, पृ० 26, 27
4. प्रमेयकमलमार्तण्डकार प्रभाचन्द्र ने अख्यातिवाद को चार्वाक का मत बतलाया है। सांख्यभास्करादि को प्रसिद्धार्थख्यातिवादी एवं प्रभाकर को स्मृतिप्रमोषख्यातिवादी कहा है।
प्रमेयकमलमार्तण्ड, पृ० 48 प्रभाचन्द्र, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, 1941

अनिर्वचनीय वस्तुज्ञान की प्रक्रिया एवं अनिर्वचनीय ख्याति

अद्वैतवाद के अनुसार प्रमाज्ञानस्थल में अन्तःकरणवृति नेत्रादि द्वारा बहिर्गत होकर विषय में जाकर विषयाकार में परिणत हो जाती है। वेदान्त परिभाषाकार ने कहा है कि अन्तःकरण वृत्ति कुल्यात्मना बहिर्देश को जाकर अन्तःकरण और विषय दोनों को सम्बन्धित करती है।[1] उक्त प्रकार से वृत्ति के बहिर्गमन एवं विषयाकार परिणति से ही विषय का अज्ञानावरण भंग होता है, तभी विषय ज्ञात होता है। किन्तु जब रज्जु में सर्पभ्रमस्थल में अन्तःकरण की वृत्ति नेत्र द्वारा बहिर्गमन करके रज्जु देश में पहुंचकर भी तिमिरादि दोष के कारण रज्जुगत अज्ञानावरण भंग करने में समर्थ नहीं होती, तब उक्त वृत्ति रज्जु आकार में परिणत नहीं हो पाती।[2] जब अन्तःकरण वृत्ति रज्जु में आवरण भंग नहीं कर पाती तब रज्ववच्छिन्न चेतनगताज्ञान में क्षोभ उत्पन्न होता है और वह अज्ञान सर्पाकार से परिणत हो जाता है। रज्जुसर्पभ्रम जिस प्रकार सर्प अविद्या का परिणाम है उसी प्रकार उस रज्जुसर्पविषयक ज्ञान भी—अर्थात् वृत्तिज्ञान भी अविद्या का परिणाम है। इसी कारण सर्पज्ञान भी अनिर्वचनीय है। रज्जुज्ञान से सर्प और सर्पज्ञान दोनों का बाध हो जाता है। रज्जु—उपहित चेतनस्थ तमोगुणप्रधान अविद्या का परिणाम सर्प और साक्षी चेतनस्थ अविद्या के सत्वगुण का परिणाम वृत्तिज्ञान है। रज्जु-चेतनस्थ अविद्या का परिणाम जब सर्पाकार होता है, तभी साक्षी आश्रित अविद्या का ज्ञानाकार परिणाम होता है। इस प्रकार भ्रमस्थल में सर्पादि विषय और उसका ज्ञान दोनों एक ही समय में उत्पन्न होते हैं एवं रज्जु आदि अधिष्ठानज्ञान से एक ही समय में लीन भी हो जाते हैं, इस प्रकार सर्पादि भ्रम में बाह्य अविद्यांश सर्पादि का उपादान और साक्षीचेतनाश्रित अविद्यांश आन्तर वृत्तिज्ञान का उपादान है।[3] स्वप्न में साक्षी-आश्रित अविद्या के तमोगुणांश का विषयरूप परिणाम होता है और उक्त अविद्या के सत्वगुण का ज्ञानरूप परिणाम होता है, अतः स्वप्न में अन्तःस्थ अविद्या ही विषय और ज्ञान दोनों का उपादान कारण होती है, इसी कारण बाह्य रज्जु सर्पादि पदार्थ एवं आन्तर स्वाप्निक पदार्थ साक्षी-भास्य कहलाते हैं। अविद्या वृत्ति द्वारा साक्षी जिसका भासक होता है उसे साक्षी-भास्य कहते हैं।

अनिर्वचनीय ख्याति

अब तक के विवरण से यह तो स्पष्ट ही है कि अद्वैतवेदान्ती भ्रम की व्याख्या अनिर्वचनीय ख्याति द्वारा करते हैं। अभी हमने यह दर्शाया है कि भ्रमस्थल का विषय एवं ज्ञान दोनों ही अनिर्वचनीय हैं, अर्थात् भ्रमस्थल में अनिर्वचनीय वस्तु एवं तद् द्वारा उद्बोधित अनिर्वचनीय ज्ञान उत्पन्न होते हैं। अनिर्वचनीय वस्तु एवं ज्ञान की उत्पत्ति

---

1. वेदान्तपरिभाषा—पृ० 23, धर्मराजाध्वरीन्द्र, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, बनारस, सं० 2011
2. सिद्धान्तलेशसंग्रह, पृ० 215
3. वही, पृ० 217

भ्रमस्थल में क्यों मानी जाए—इस पक्ष में युक्तियाँ तत्तत् ख्यातिवादों के प्रत्याख्यान में एवं तदुपरान्त प्रदर्शित की जायेंगी। इस समय इस प्रसंग में अनिर्वचनीयता क्या है—विचार कर लेना आवश्यक है, क्योंकि परवर्ती अद्वैताचार्यों ने इस पर पर्याप्त विचार किए हैं।

चित्सुखाचार्य ने अनिर्वचनीयत्व का लक्षण करते हुए तत्वप्रदीपिका में पूर्व पक्ष की ओर से दो कोटियाँ प्रस्तुत की हैं। पूर्वपक्ष का कहना है कि "अनिर्वचनीयता' से सिद्धान्ती का तात्पर्य क्या (1) निरुक्ति विरहता से या (2) निरुक्ति निमित्त रहितता से है ?[1] दोनों ही पक्ष असंगत हैं, क्योंकि अद्वैतवादी जब रजत अनिर्वचनीय है, ऐसा कथन करते हैं तब निर्वचन होने के कारण भ्रमस्थलीय रजत की अनिर्वचनीयता नहीं रह पाती। द्वितीय विकल्प में दो बातें हैं—निरुक्ति-निमित्तरहितता से तात्पर्य निरुक्ति के लिए ज्ञान का अभाव अथवा अर्थ का अभाव ? क्योंकि ज्ञानाभाव से भी कथन नहीं हो सकता। यदि घटज्ञान नहीं है तो घट का कथन सम्भव नहीं है। 'घटज्ञान नहीं' इतना कहने के लिए भी घटज्ञान की आवश्यकता है, अन्यथा वदतोव्याघात होगा जैसेकि 'मम माता वन्ध्या'। अर्थ के अभाव से भी कथन नहीं बनता। यदि घट ही न हो तो उसका ज्ञान नहीं होगा, ज्ञान न होगा तो कथन नहीं हो सकता। इस प्रकार दो ही निमित्त हो सकते हैं, किन्तु ज्ञानाभाव नहीं माना जा सकता, क्योंकि अद्वैतवेदान्ती भी रजतादिविज्ञान की निरुक्ति-निमित्तता स्वीकार करते हैं।[2] अर्थ का अभाव स्वीकार करने पर असत् ख्यातिप्रसंग होगा,[3] क्योंकि विषयरूप से रजत का अभाव स्वीकार करने पर शून्यवादी के समान निर्विषयक रजतज्ञान स्वीकार करना होगा। इससे शून्यवाद में प्रवेश होगा। इसी प्रकार ज्ञानबाध्यत्व को अनिर्वाच्यत्व नहीं कहा जा सकता। ऐसा मानने पर संस्कार ज्ञान में अतिव्याप्ति होगी, क्योंकि उत्तर संस्कार द्वारा पूर्व-संस्कार की निवृत्ति उत्तर संस्कारज्ञान से होती है। बाध्यत्व को बाधकज्ञान का विषय मानने पर अधिष्ठानभूत शुक्ति एवं ब्रह्म में भी लक्षण की अतिव्याप्ति होगी।[4] इसी प्रकार 'प्रतिपन्नोपाधि में निषेध्यत्व ही अनिर्वचनीयत्व है', इस लक्षण में भी असंगति पूर्वपक्ष की ओर से दिखाई गई है, क्योंकि जब अधिष्ठानज्ञान द्वारा माया की निवृत्ति से रजत की भी निवृत्ति हो जाती है, तब निषेध्य नाम की वस्तु नहीं रह जाती, अर्थात् उसी उपाधि में निषेध का निषेध्य नहीं रहता।[5] इसके अतिरिक्त चित्सुखाचार्य ने पूर्वपक्ष की ओर से अनुमानादि प्रमाणों का भी अनिर्वाच्यत्व की सिद्धि में अभाव दिखाया है।[6]

---

1. ननु किमिदमनिर्वचनीयत्वं किं निरुक्तिविरहः, किं वा निरुक्तिनिमित्तविरहः ? तत्वप्रदीपिका, पृ० 75
2. रजतादिज्ञानस्य निरुक्तिनिमित्तस्य मायावादिभिरभ्युपगमात्। तत्वप्रदीपिका, पृ० 75
3. अर्थस्य सतो विरहे सत्ख्यातिप्रसंगात् : वही।
4. वही। चित्सुखाचार्य, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, 1915
5. तत्वप्रदीपिका, पृ० 76
6. वही, पृ० 77

आचार्य मधुसूदन सरस्वती ने अद्वैतसिद्धि में अनिर्वचनीयत्व के लक्षण के प्रसङ्ग में पूर्व-पक्ष के रूप में पूर्वोक्त विकल्पों को ही स्वल्प परिवर्तन के साथ प्रस्तुत किया है। साथ में अन्य भी विकल्प प्रस्तुत किये है ।[1] न्यायमकरन्दकार की व्याख्या भी इस प्रकार की है।[2]

अनिर्वचनीयत्व में उक्त प्रकार पूर्वपक्ष करने के पश्चात् चित्सुखाचार्य ने इस का एक युक्तिसंगत लक्षण प्रस्तुत किया है। 'प्रत्येक सदसत्वाभ्यां विचारपदवीं न यत्। गाहते तदनिर्वाच्यमाहुर्वेदान्तवेदिनः[3], 'अर्थात् सत्व और असत्वरूप से जिस का विचार सम्भव नहीं, दोनों कोटियों को मिलाकर भी विचार जिसका सम्भव नहीं वह अनिर्वाच्य है।'[4] सभी प्रकार के भ्रम ऐसे ही हैं, अतः अव्याप्ति या अतिव्याप्ति दोष नहीं हैं। निरुक्तिनिमित्तविरहता की भी आपत्ति असंगत है, क्योंकि निरुक्ति के निमित्त ज्ञान, अर्थादि के रहने पर भी सदसदादि प्रकारों से निरुक्ति संभव नहीं है, अतः अनिर्वाच्यता तो है ही। अद्वैतसिद्धिकार का लक्षण भी उक्त लक्षण के समान है।[5] चित्सुखाचार्य ने 'ज्ञानबाध्यत्व' लक्षण को भी अनिर्वाच्यत्व का निर्दोष लक्षण कहा है।[6] उन्होंने बाध का अर्थ 'प्रतिपन्नोपाधि में अभावबोधन' किया है।[7] इसी लक्षण को अद्वैतसिद्धिकार ने 'प्रतिपन्नोपाधौ बाध्यत्व वां'[8] कहा है। संस्कार ज्ञान का आत्मा में त्रैकालिक निषेध न होने के कारण उसमें अतिव्याप्ति नहीं है। अद्वैतसिद्धिकार ने 'सत्वरहितत्वे सति असत्वरहितत्वे सति सदसत्वरहितत्वमपि साधु'[9] निष्कृष्ट लक्षण अनिर्वाच्यत्व का किया है, जिसके अनुसार सत्व असत्व दो कोटियों के अतिरिक्त दोनों को मिलाकर भी कथन सम्भव न होने के कारण अनिर्वाच्यत्व है। शुक्ति-रजत को यदि सत्रूप से नहीं कह सकते और असत् रूप से भी नहीं कह सकते तो सदसत् दोनों रूपों से कैसे कह सकते हैं ? जो 'अ' भी नहीं और 'ब' भी नहीं वह 'अ+ब' कैसे हो सकता है ? अतः वह अनिर्वचनीय ही होगा। सदसत् दोनों को साथ में मानने पर विरोध-नियम-भंग हो जायेगा।[10] अद्वैतसिद्धिकार ने मात्र 'बाध्यत्व' को भी अनिर्वाच्यत्व का

---

1. अद्वैतसिद्धिः, पृ० 620, 621
2. न्यायमकरन्द, पृ० 111, आनन्दबोध, चौखम्बा, 1907
3. तत्वप्रदीपिका, पृ० 79
4. सत्वेवासत्वेन च विचारसहत्वे सति सदसत्वेन च यद्विचारं न सहते तदनिर्वाच्यम्। वही।
5. अद्वैतसिद्धिः एवं लघुचन्द्रिका, पृ० 621
6. तत्वप्रदीपिका, पृ० 78
7. बाधो हि नाम प्रतिपन्नोपाधावभावबोधनम्। वही
8. अद्वैतसिद्धिः, पृ० 611
9. वही
10. It is obviously absurd to characterise it as both for that would go against the law of contradiction. Istasiddhi, introduction. xxiv, Baroda. 1933

लक्षण माना है।[1] क्योंकि अनिर्वचनीय रजतादि व्यावहारिक शुक्ति-ज्ञान द्वारा बाध्य हैं ही एवं च घटादि भी तदधिष्ठान-चैतन्य के ज्ञान द्वारा बाध्य हैं, अतः शुक्तिरजतादि एवं घटादि भी अनिर्वाच्य पदार्थ हुए। इसके अतिरिक्त सद्ब्रह्म का बाध तो कभी होता नहीं, जोकि बाध्य हो,[2] जो अलीक है अर्थात् जिसकी प्रतीति तक नहीं उसका बाध कैसे ? अतः आकाशकुसुम भी बाध्य नहीं हुआ। मात्र घटादि एवं शुक्तिरजतादि मिथ्या पदार्थ ही बाध्य हुए, अतः यह लक्षण निर्दोष है। अनिर्वाच्यत्व के उक्त सभी लक्षणों का समर्थन प्राचीनाचार्य आनन्द भट्टारक ने भी किया है।[3]

बाध, प्रतीति होने के पश्चात् ही संभव है। प्रतीति होने वाले सभी पदार्थ बाध्य नहीं हैं इस प्रकार अबाध्य ब्रह्म एवं अप्रातीतिक नरविषाण में बाध्यत्व नहीं जा सकता, अतः अनिर्वाच्यत्व ही बाध्यत्व है।[4]

अनिर्वाच्यत्व में प्रत्यक्षादि प्रमाण भी दिए जा सकते हैं। मिथ्यैव रजतभादित्यादि, प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा भ्रमस्थलीय रजत के अनिर्वाच्यत्व की सिद्धि होती है।[5] यहां पर अभावप्रत्यक्षवादी के लिए ही यह उदाहरण है, जो लोग (मीमांसकादि) अभाव को अनुपलब्धि प्रमाण ग्राह्य मानते हैं उनके प्रति अनुपलब्धि द्वारा अनुमान प्रमाण समझना चाहिए।[6] यहां पर 'यह रजत है' और पश्चात् 'रजत नहीं है' इस प्रकार अनुभव-विरोध भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि बाध काल में रजत का त्रैकालिकाभाव होने पर भी त्रैकालिक व्यावहारिक रजत का ही अभाव है। पूर्वकाल में प्रातिभासिक रजत का अभाव नहीं कहा जाता अतः किसी प्रकार की असंगति की बात नहीं है।[7] आचार्य मधुसूदन ने एवं चित्सुखाचार्य ने अर्थापत्ति प्रमाण भी अनिर्वाच्यत्व की सिद्धि में दिखाया है। यदि रजत सत् होता तो बाधित न होता। असत् होता तो प्रतीत न होता। बाधित और प्रतीत दोनों होते हैं, अतः सदसद्विलक्षण अनिर्वाच्य रजत है।[8] इसी प्रकार आचार्य चित्सुख ने अनुमान प्रमाण प्रस्तुत किया है— विवादास्पदीभूत रजत अनिर्वचनीय है (प्रतिज्ञा) बाध्य होने से (हेतु) जो ऐसा नहीं, वह वैसा नहीं यथा-आत्मा,[9] (उदाहरण) आत्मा अनिर्वाच्य नहीं है, अतएव बाध्य भी नहीं है। यह व्यतिरेकी उदाहरण है और व्याप्ति भी व्यतिरेकी है, अर्थात् अनिर्वाच्य से विपरीत वस्तु बाध्य भी

1. बाध्यत्वमेव लक्षणमस्तु, अद्वैतसिद्धिः, पृ० 626
2. अद्वैतसिद्धि पृ० 638
3. न्यायमकरन्द, पृ० 124, 125
4. वही, पृ० 116
5. अद्वैतसिद्धि, पृ० 626
6. लघुचन्द्रिका, पृ० 627
7. न्यायमकरन्द, पृ० 117, 118
8. विमतं रूप्यादि सच्चेन्न बाध्येत, असच्चेन्न प्रतीयेत, बाध्यते प्रतीयतेऽपि, तस्मात् सदसद्विलक्षण त्वादनिर्वचनीयम्। अद्वैतसिद्धि, पृ० 63
9. चित्सुखी, पृ० 81, 82

नहीं है। बाध्यत्व एवं अनिर्वाच्यता की साहचर्यनियम व्याप्ति है। प्रातिभासिक शुक्ति-रजत बाध्य है अतः अनिर्वाच्य भी होना चाहिए, क्योंकि व्याप्ति के एक के होने का अर्थ दूसरे का भी होना है। प्रातिभासिक रजत शुक्तिज्ञानानन्तर नहीं रह सकता, उसका बाध होना अनिवार्य है, क्योंकि उसका उपादान है शुक्ति-अज्ञान, वह शुक्तिज्ञान के होने के पश्चात् नहीं रह सकता है। ज्ञान होने पर भी अज्ञान के रह जाने का अर्थ दोनों के विरोध को मिटाना है, ऐसा नहीं हो सकता, अतः शुक्तिज्ञान अनन्तर शुक्ति-अज्ञानो पादित रजत का बाध निश्चित है। जब बाध निश्चित है, तब व्याप्ति बल से साध्य का होना भी निश्चित ही है। साध्य है अनिर्वाच्यत्व, वह शुक्ति-रजत है। इसी प्रकार घटादि वस्तुएं भी ब्रह्मज्ञान द्वारा बाध्य हैं, अतः हेतु बल से साध्य अनिर्वाच्यत्व का उनमें भी होना आवश्यक है, अर्थात् घटादिवस्तुएं भी अनिर्वाच्य हैं। न्यायमकरन्दकार ने भी इसी प्रकार अनिर्वाच्यत्व में अनुमान प्रमाण प्रस्तुत किया है।[1] अद्वैतसिद्धिकार ने श्रुतिप्रमाणों को उद्धृत करके भी अनिर्वाच्यत्व की सिद्धि की है।[2] गौड़ब्रह्मानन्द ने भी अपनी पुस्तक अद्वैतसिद्धान्त-विद्योतन में श्रुति प्रमाणों द्वारा अनिर्वाच्यत्व की सिद्धि की है।[3]

इस प्रकार अनिर्वाच्यत्व क्या है जान लेने पर, अब अनिर्वचनीयख्याति क्या है, विचार करना आवश्यक है। ख्याति का अर्थ ज्ञान है। अनिर्वचनीयख्याति का अर्थ दो प्रकार है। प्रथम अनिर्वचनीय की ख्याति अर्थात् अनिर्वचनीय वस्तु का ज्ञान। अद्वैत मतानुसार ब्रह्मातिरिक्त सम्पूर्ण वस्तुएँ अनिर्वचनीय हैं, ऐसी अनिर्वचनीय वस्तुओं का ज्ञान भी अनिर्वचनीय है, अतः दूसरा अर्थ हुआ जो ज्ञान अनिर्वचनीय हो वही अनिर्वचनीयख्याति है, अर्थात् अनिर्वचनीय वस्तुविषयक ज्ञान भी अनिर्वचनीय है। जगत् की अनिर्वचनीय की व्याख्या के लिए भ्रमस्थलीय रजत की अनिर्वचनीयता की सिद्धि करनी है, क्योंकि दृष्टान्तरूप से प्रातिभासिक वस्तु को ही लिया जा सकता है। प्रातिभासिक वस्तु की अनिर्वचनीयता की सिद्धिपूर्वक व्यावहारिक वस्तु की भी अनिर्वचनीयता की सिद्धि हो सकती है। इस आशय से अद्वैतवेदान्तियों ने भ्रमस्थलीय प्रातिभासिक वस्तु की व्याख्या के लिए अनिर्वचनीयख्याति स्वीकार की है। इस मत के अनुसार भ्रम-स्थलीय शुक्तिरजत असत् नहीं है, क्योंकि उसकी प्रतीति इदं रजतम् इस प्रकार होती है। असत् का अर्थ अद्वैतवेदान्त के अनुसार अलीक है जोकि आकाशकुसुमादि है। आकाशकुसुमादि की प्रतीति इदंरूप से कदापि कहीं भी नहीं होती। 'बन्ध्यापुत्रोऽस्ति' 'बन्ध्यापुत्रो याति' ये वाक्य व्याकरण की दृष्टि से शुद्ध होने पर भी तथ्यात्मक न होने के कारण तात्विक नहीं हैं। वाक्य या शब्द तथ्यात्मक होना चाहिए तभी तात्विक होंगे। इसी प्रकार भ्रमस्थलीय रजत सत् भी नहीं है, क्योंकि सत्व त्रिकालाबाध्यत्व है। भ्रम-

1. न्यायमकरन्द, पृ० 224
2. अद्वैतसिद्धि, पृ० 643, 644
3. अद्वैतसिद्धान्तविद्योतन—पृ० 25, ब्रह्मानन्द सरस्वती, सरस्वती भवन, बनारस, 1634

स्थलीय रजत की उत्पत्ति शुक्तिविषयक अज्ञान से हुई है और शुक्तिविषयक ज्ञान से उसका परक्षण में 'नेदं रजतम्' यह रजत नहीं है करके बाध हो जाता है। अद्वैत के अनुसार जिसका बाध होता है वह सत् नहीं। अतः सत् नहीं असत् नहीं तब दोनों भी नहीं, सुतरां भ्रमस्थलीय रजत अनिर्वचनीय है।[1] जिस प्रकार रजत अनिर्वचनीय है उसी प्रकार शुक्ति एवं उसमें प्रतीत रजत का सम्बन्ध भी अनिर्वचनीय है तथा शुक्तिरजत ज्ञान भी अनिर्वचनीय है। यहां पर रजत नहीं है, नहीं कहा जा सकता। सत् है यह भी नहीं कहा जा सकता, अतः शुक्ति-रजत की अख्याति, या असत्ख्याति द्वारा व्याख्या नहीं हो सकती, न ही अन्यथाख्याति द्वारा व्याख्या सम्भव है, क्योंकि देशान्तरीय सत्यरजत की यहां पर सम्भावना नहीं हो सकती। इस कारण अनिर्वचनीय मिथ्यारजत की शुक्ति में उत्पत्ति स्वीकार करनी होगी।[2] भ्रमस्थलीय प्रातिभासिक रजत के समान स्वप्न भी अद्वैतमत में प्रातिभासिक है। प्रातिभासिकत्वेन स्वप्न एवं जाग्रत भ्रमस्थलीय रजत की सत्ता समान है। अद्वैतवेदान्त के इस अनिर्वचनीयख्यातिवाद को मण्डनमिश्र के अतिरिक्त सभी अद्वैताचार्यों ने स्वीकार किया है। मण्डनमिश्र ने भ्रम की व्याख्या में कुमारिल भट्ट स्वीकृत विपरीतख्याति प्राप्त की है। ऐसा उनके द्वारा लिखित ग्रन्थ विभ्रम विवेक एव ब्रह्मसिद्धि से पता चलता है।[3]

विपरीतख्याति के अनुसार 'इदं रजत' इस ज्ञान में इदं प्रत्यक्ष और रजत स्मृति ज्ञान हैं। स्मृतरजत को जोकि प्रत्यक्ष नहीं है 'इदं' में प्रत्यक्ष करने का भ्रम होता है। भ्रान्त व्यक्ति इस प्रकार स्मृति को प्रत्यक्ष के साथ अभिन्न मानकर इदं को रजत मान बैठता है, यही विपरीतज्ञान है, इसी को अन्यथाख्याति भी कहा है।[4] मण्डनमिश्र के ग्रन्थ ब्रह्मसिद्धि के ऊपर वाचस्पति मिश्र ने टीका लिखी है। उसमें वाचस्पति मिश्र भी विपरीतख्यातिवादी से लगने लगते हैं, परन्तु भामती के टीकाकार अमलानन्द स्वामी ने तत्कृत टीका कल्पतरु में वाचस्पति के अन्यथाख्यातिवादी होने का खण्डन किया है।[5] भामती टीकाकार के रूप में वाचस्पति के ऊपर अन्यथाख्यातिवादी होने का आरोप

---

1. भामती एवं वेदान्तकल्पतरुपरिमल—पृ० 23, 24, इष्टसिद्धि, पृ० 39
2. तस्माद् भ्रमस्थले रजतादिकं जायते इत्यवश्यं वाच्यम्। अद्वैतसिद्धान्तविद्योतन—पृ० 25, 23।
3. तस्मादवश्यंप्रति षेध्यप्राप्तये विपरीतख्यातिरुपासनीया। ब्रह्मसिद्धि, पृ० 143, मण्डनमिश्र मद्रास, 1937।
   वेदान्तप्रक्रियाप्रत्यभिज्ञा (मण्डन प्रस्थान परीक्षा) पृ० 191, सच्चिदानन्द-संपादक, नरसी-पुरम 1964।
   विभ्रमविवेकभूमिका, पृ० ii भी।
   वही, पृ० 57, 62
4. विभ्रमविवेक का 46। मण्डनमिश्र, मद्रास, 1932।
5. स्वरूपेण मरीच्यम्भो मृषा वाचस्पतेर्मतम्।
   अन्यथाख्यातिरिष्टास्येत्यन्यथा जगृहुर्जनाः॥ वेदान्तकल्पतरु, पृ० 24

निराधार है, क्योंकि भामती में अनेक युक्ति और तर्कों से उन्होंने अनिर्वचनीयख्याति का ही समर्थन और संवर्द्धन किया है। मण्डनमिश्र के विपरीत ख्यातिवादी होने के दो कारण हो सकते हैं, एक कारण यह हो सकता है कि वे कुमारिल के अनुयायी मीमांसक थे। दूसरा कारण यह है कि आचार्य शङ्कर ने भाष्य में कहा है—'सर्वथाऽपि त्वन्यस्यान्यधर्मावभासतां न व्यभिचरति'। अर्थात् अन्य का अन्य में अवभास होना यह बात सभी ख्यातिवादों में है। इस आचार्य वाक्य का अर्थ मण्डन के अनुसार विपरीतख्याति के साथ भी किया जा सकता है, जिसमें जो धर्म नहीं, उसमें उस धर्म का आरोप विपरीत ही हुआ। इसी में संगति करते हुए मण्डन ने विपरीतख्याति स्वीकार की है।[1] जो भी हो अन्य सभी अद्वैतवेदान्ती "अतस्मिन् तद्बुद्धिः" को अध्यास कहते हैं एवं अध्यस्तज्ञान और वस्तु की व्याख्या में अनिर्वचनीयख्याति स्वीकार करते हैं।

अनिर्वचनीयख्याति के अतिरिक्त अन्य ख्यातियों द्वारा भ्रम ज्ञान की पूर्ण व्याख्या नहीं की जा सकती। अनिर्वचनीयसर्वस्ववाद को सिद्ध करने के लिए अन्य ख्यातिवादों की भी व्याख्या एवं आलोचना वेदान्ताचार्यों ने की है, अतः अगले पृष्ठों में ख्यातिवादों पर विचार आवश्यक है।

आत्मख्याति

बौद्धविज्ञानवाद के अनुसार विज्ञान या विज्ञप्ति के अतिरिक्त ब्राह्य पदार्थ नहीं है। जो कुछ भी देखते हैं वे चित्तमात्र है, बाह्यरूप में असत् है, विज्ञानवादी इसलिए आत्मख्यातिवादी है। आत्मा शब्द का यहाँ पर विज्ञान—अर्थ है। विज्ञानवादी के अतिरिक्त बौद्ध सौत्रान्तिक और वैभाषिक भी आत्मख्यातिवादी हैं, किन्तु सौत्रान्तिक और वैभाषिक बाह्यपदार्थास्तित्ववादी हैं, वैभाषिक मत में बाह्यपदार्थ प्रत्यक्ष हैं, सौत्रान्तिक मत में अनुमेय, इसलिए इन दोनों के मत में भ्रम का अधिष्ठान बाह्य पदार्थ और आरोप्य वस्तु ज्ञानाकार हैं।[2] भाष्यकार ने अध्यास के लक्षण की तुलना अन्य दार्शनिकों से की है और उक्त आत्मख्यातिवाद तीनों बौद्ध सम्प्रदायों का तथा असत्ख्यातिवादी शून्यवाद का उल्लेख "तं केचित् अन्यत्र अन्यधर्माध्यासः[3], इस वाक्य से किया है। विज्ञानवादी बौद्धों का कहना है कि जो वस्तु जिस रूप में हमारे ज्ञान में प्रतीत होती है, वह वस्तु उसी रूप में है यही ज्ञान का साधारण नियम है। जहाँ पर इस नियम का व्यतिक्रम होता है अर्थात् किसी प्रबल बाधकप्रत्यय द्वारा पूर्वोत्पन्न ज्ञान का बाध हो जाता है, तब वह भ्रम सिद्ध होता है।[4] अद्वैतवेदान्त के अनुसार भी बाधितविषयक ज्ञान भ्रम है। "यह रजत है" इस ज्ञान के पश्चात् "यह रजत नहीं है" इस बाधक-प्रत्यय से पूर्वोक्तज्ञान "यह रजत है" भ्रम सिद्ध होता है।[5]

---

1. वेदान्तप्रक्रियाप्रत्यभिज्ञा (मण्डन प्रस्थान परीक्षा), पृ० 191
2. वेदान्तकल्पतरु एवं परिमल, पृ० 26
3. ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य, पृ० 18
4. न्यायमकरन्द, पृ० 99
5. वही

विज्ञानवादी बौद्धों के आत्मख्यातिवाद को प्रस्तुत करते हुए आनन्दबोध कहते हैं कि विज्ञानवादी बौद्ध ज्ञानाकार रजत के बाहर अवभास को ही विभ्रम कहते हैं।[1] माधवाचार्य ने भ्रमस्थल में विज्ञानवादी के दृष्टिकोण को कि 'शुक्तिरजत विज्ञान रूप है,' अनुमान द्वारा पूर्वपक्ष के रूप में प्रस्तुत किया है। अनुमान इस प्रकार है—विमतरजत बुद्धि रूप है, क्योंकि यह इन्द्रिय सन्निकर्ष के बिना ही प्रत्यक्ष होता है, जैसाकि बुद्धि'।[2] जिस प्रकार बुद्धि के प्रत्यक्ष के लिए इन्द्रियसन्निकर्ष की आवश्यकता नहीं पड़ती, क्योंकि बुद्धि का मानस प्रत्यक्ष होता है, उसी प्रकार शुक्तिरजत भी बुद्धिरूप होने के कारण इन्द्रिय सन्निकर्षनिरपेक्ष होकर प्रत्यक्ष होता है, अतः वह बुद्धि या विज्ञान के अतिरिक्त कुछ नहीं। इस पर माधवाचार्य शंका करते हैं—विज्ञानवाद के अनुसार सहकारी प्रत्यय, अधिपतिप्रत्यय, समनन्तर प्रत्यय और आलम्बन प्रत्यय इन चार प्रकार के हेतुओं से ही चित्त-चैत्यों की उत्पत्ति होती है। इसमें से सहकारी प्रत्यय आलोकादि से रजत की उत्पत्ति नहीं मान सकते, क्योंकि आलोकादि तो स्पष्टता के प्रति हेतु होते हैं। अधिपति प्रत्यय चक्षुरादि विषय नियमन में हेतु है, न कि उत्पन्न करने में। इसी प्रकार समनन्तर प्रत्यय पूर्वज्ञान से भी रजत उत्पन्न नहीं हो सकता, क्योंकि विजातीय घटादि के ज्ञान, उससे विजातीय रजतभ्रम उत्पन्न करने में बाधक हो जायेंगे और आलम्बन प्रत्यय से भी शुक्तिरजत की उत्पत्ति नहीं मान सकते, क्योंकि विज्ञानवादी बाह्यवस्तु मानते नहीं, फिर विज्ञान को रजत का आकार कहाँ से प्राप्त होगा ?[3] इसका समाधान देते हुए विज्ञानवादी का कहना है कि अनादि संस्कार के सामर्थ्य से ही विज्ञान रजताकार हो सकेगा।[4] संस्कार आन्तर पदार्थ हैं, उनके लिए बाह्यवस्तु को मानने की आवश्यकता नहीं है। विज्ञान में जो बाह्यवस्तुओं के संस्कार हैं वे भी विज्ञानवादी के अनुसार बाह्यवस्तुओं से उत्पन्न नहीं हैं, वे संस्कार बाह्यवस्तु-निरपेक्ष हैं। मात्र-पूर्व-पूर्व संस्कार उत्तरोत्तर विज्ञान में हेतु हैं। यह परम्परा अनादि है। जो यह बात कहीं गई कि रजत संस्कार एवं रजत-भ्रम के बीच में घटादि के ज्ञान व्यवधान उत्पन्न करेंगे, इस प्रकार व्यवहित होने पर रजत संस्कार रजतभ्रम को उत्पन्न नहीं कर सकेंगे ? इसका समाधान है कि जिस प्रकार ब्रीहि का बीज अंकुरित होकर पुनः बीज को उत्पन्न करता है, बीज में अंकुर का व्यवधान उसमें बाधक नहीं होता, उसी प्रकार व्यवहित होने पर भी सजातीय संस्कार सजातीय ज्ञान को उत्पन्न करने में समर्थ हैं। इस प्रकार अनादि वासना द्वारा उपस्थापित रजत ज्ञानरूप ही होता है, भ्रान्ति से बाहर का जैसा प्रतीत होता है।[5] परवर्ती बाधक ज्ञान द्वारा 'यह रजत है' यह ज्ञान भ्रम सिद्ध होता है, यह बात तो ठीक है, किन्तु उक्त

1. केचित्तु ज्ञानाकारस्यैव बहिरवभासो विभ्रम इत्याहुः। न्यायमकरन्द, पृ० 99
2. विवरणप्रमेयसंग्रह, पृ० 123, विद्यारण्यमुनि, अच्युत ग्रन्थमाला, 1996 सं०।
3. वही—123, 124।
4. संस्कारसामर्थ्यादिति ब्रूमः, विवरणप्रमेय संग्रह। पृ० 124
5. अनादिवासनाप्राप्ति रजतं बुद्धिरूपमेव सद् भ्रान्त्या बहिर्वदवभासते। विवरणप्रमेय संग्रह, पृ० 124

भ्रमज्ञान में बाध किसका होता है, जिस कारण कि वह भ्रम सिद्ध है? ज्ञान यदि सत्विषयक होगा तो उसको भ्रम नहीं कहा जा सकता क्योंकि संवादिप्रवृत्ति अर्थात् सफलप्रवृत्ति होने से ज्ञान सत्य होगा तथा सफल प्रवृत्ति के लिए बाहर विषय को होना चाहिए। यदि विषय नहीं तो प्रवृत्ति सफल नहीं होगी, जैसेकि शुक्तिरजत में रजत समझकर प्रवृत्ति के पश्चात् रजत न मिलने पर निराश होकर भ्रान्त व्यक्ति समझ लेता है कि 'यह रजत नहीं है', मुझे भ्रम हुआ था। इससे यह सिद्ध होता है कि विषय के अभाव होने के कारण तद्विषयक ज्ञान मिथ्या कहलाता है। एक के मिथ्या होने पर अर्थात् विषय के मिथ्या होने पर ज्ञान भी मिथ्या या भ्रान्त हो जाता है। इस कारण यहां पर आत्मख्यातिवाद के अनुसार बाध किसका होता है? यह विचारणीय है। बाध क्या रजत का होता है या इदं का? 'इदं रजतं' इसमें दो पद हैं और दो पद दो अर्थों की ओर संकेत करते हैं। एक सांकेतित अर्थ 'इदं' पद द्वारा और दूसरा 'रजतम्' द्वारा। इन दोनों पदों द्वारा सांकेतित अर्थों में अन्यत्र अन्य धर्माध्यास होना चाहिए, तभी भ्रम स्वीकृत हो सकता है। अन्यत्र जहां पर अन्य धर्म जिसका धर्म नहीं होना चाहिए उसके धर्म का होना, होने के प्रतीति होना ही भ्रम है। शुक्ति में रजत धर्म नहीं है और उसी अन्यत्र में अर्थात् शुक्ति में अन्य धर्म रजत धर्म की प्रतीति ही भ्रम है। इस प्रकार शुक्ति में रजतधर्म का एवं तद्विषयक रजत ज्ञान का मिथ्या होना निश्चित है। यह बात बाध के विचार द्वारा ही निश्चित होगी कि बाध किसका होता है। जिसका बाध होगा वही मिथ्या निश्चित होगा। आत्मख्यातिवादी कहते हैं कि 'इदं रजतम्' में इदमंश का ही बाध होता है। रजतांश का बाध नहीं होता। उसके लिए विज्ञानवादी गौरवदोष का तर्क प्रस्तुत करते हैं।[1] उनका कहना है कि 'इदं रजतम्' में रजत विशेष्य या धर्मी है, एवं 'इदं' विशेषण या धर्म है। यदि 'न इदं रजतम्' इस प्रकार बाध में रजत का बाध मानें तो रजतरूपी धर्मी के बाध के साथ धर्म 'इदं' का भी बाध हो जाएगा, क्योंकि धर्मी वा विशेष्य के बिना धर्म या विशेषण रह नहीं सकता। इस प्रकार दो का बाध मानना पड़ेगा। यदि एक के बाध मानने पर कार्य सिद्ध हो तो लाघव होगा और लाघव होना हमारे पक्ष में एक समीचीन युक्ति है। दो के बाध मानने पर गौरव होगा। गौरव एक दोष है जोकि पक्ष को कमजोर करता है, अतः मात्र 'इदं' का ही बाध माना जाए।[2] इससे इदमंश ही मिथ्या निश्चित हो जाएगा। इदमंश के बिना रजत ज्ञानाकार ही रह जायेगा, क्योंकि बाह्यता इदन्तामात्र में ही थी। इदन्ता के बाध होने पर बाह्यता का बाध हो जाता है, तब रजत जोकि सामने नहीं है, ज्ञान में ही रह जाता है।[3] सामने तो इदं ही होता है न कि रजत, वह तो पहले से ही ज्ञान में है। इस प्रकार यह सिद्ध हो जाता है कि बाध बुद्धि द्वारा इदन्ता का ही निराकरण होता

1. नेदं रजतमिति बाधस्येदन्तामात्रगोचरत्वात् द्वयोर्बाधकल्पनायां कल्पनागौरवात् नेदं रजतमिति च रजते बाधादर्शनात्॥ चित्सुखी, पृ० 73
2. नेदं रजतमिति च बाधस्येदन्तामात्रबाधेनोपपत्तौ—भामती, पृ० 26
3. तथा च रजतं बहिर्बाधितमर्थान्तरे ज्ञाने व्यवतिष्ठत इति। वही

है, न कि रजत का।[1]

बौद्धविज्ञानवादी के इस सिद्धान्त का रहस्य है उनका आत्म-निष्ठविज्ञानवाद। विज्ञानवादी जिस प्रकार भ्रमस्थल में रजत को विज्ञान का आकार मात्र मानते हैं और बाह्य इदं का निराकरण करते हैं, उसी प्रकार सम्पूर्ण विश्व भी उनके अनुसार उसके आन्तरविज्ञान में ही स्थित है, घट-पटादि पदार्थों में जो 'यह घट है' 'यह पट है' इत्यादि बाह्यतासहित प्रतीति, वह मिथ्या है, क्योंकि घट-पटादि भी आन्तर विज्ञान के अतिरिक्त कुछ नहीं। सब कुछ आन्तर विज्ञान का प्रवाहमात्र है। इस प्रपंच की व्याख्या करने के लिए विज्ञानवादी इसीलिए स्वप्न के दृष्टान्त को प्रस्तुत करते हैं कि सम्पूर्ण प्रपंच और उसमें ज्ञानज्ञेय-ज्ञातृ-व्यवहार सभी स्वप्न के समान हैं। स्वप्न में जिस प्रकार अचेतन मन में ही सम्पूर्ण घट-पटादिसहित ज्ञान-ज्ञेय-ज्ञातृभाव भी देखे जाते हैं, परन्तु वहां पर आन्तर मन के अतिरिक्त बाह्यता होती नहीं, उस प्रकार जाग्रत प्रपंच भी विज्ञान के ही विभिन्न आकार हैं। उसमें बाह्यता अलीक है, बाह्यता की प्रतीति भ्रम के कारण होती है। बाधबुद्धि द्वारा इसी बाह्यता का ही निराकरण होता है, जिससे कि सम्पूर्ण विश्व-प्रपंच नाना विज्ञानाकार के रूप में रह जाते हैं। विज्ञानाकार के रूप में शुक्ति-रजत एवं घट-पटादि सभी सत् हैं और बाह्यता के रूप में वे सभी अलीक हैं।

बौद्धविज्ञानवाद के आत्मख्यातिवाद को वस्तुवादी दार्शनिकों ने स्वीकार तो किया ही नहीं, प्रत्ययवादी दार्शनिक अद्वैतवादियों ने भी इसका प्रत्याख्यान किया है। मीमांसक, नैयायिक आदि बाह्यवस्तुओं को यथार्थ स्वीकार करते हैं। इस कारण उन्होंने आत्मख्यातिवाद का अनेक तर्कों से खण्डन किया है। अद्वैत-वेदान्ती प्रत्ययवादी होते हुए भी विश्व-प्रपंच को अलीक नहीं मानते, इसी कारण आत्मख्याति के खण्डन में उन्होंने न्याय-वैशेषिक जैसे यथार्थवादी दार्शनिकों का साथ दिया। भामतीकार ने बौद्धविज्ञानवाद के खण्डन में मीमांसकों के मत को सामने प्रस्तुत किया और उन्हीं की युक्तिओं से आत्मख्याति का खण्डन किया है।[2] भामतीकार ने मीमांसकों की ओर से बौद्धविज्ञानवादी से प्रश्न किया है कि 'इदं रजतम्' इस भ्रमस्थल में रजत को विज्ञान का ही आकार निश्चित रूप से कहा गया है? इसमें प्रश्न यह उठता है कि किस प्रमाण से विज्ञानवादी रजत को ज्ञान का धर्म सिद्ध करते हैं? प्रत्यक्ष से नहीं कहा जा सकता, क्योंकि प्रत्यक्ष द्वारा 'इदं रजतम्' इस ज्ञान में सामने स्थित वस्तु का प्रत्यक्ष हो रहा है, न कि आन्तर विज्ञान का।[3] इस प्रत्यक्ष में 'इदं' रजत के आधार के रूप में प्रतीत होता है, इसी कारण से रजतार्थी रजत को सत्य समझकर सामने उसे उठाने के लिए दौड़ता है। प्रत्यक्ष द्वारा 'रजत' को ज्ञान का आकार जाना जाता तब तो यह रजत अनुभव न होकर 'मैं रजत' ऐसा अनुभव होता, क्योंकि विज्ञानवाद

1. इष्टसिद्धि, पृ० 40, 41
2. भामती, पृ० 26, 27
3. सहीदंकारास्पदं रजतमावेदयति, नत्वान्तरम्। वही

के अनुसार 'मैं' भी विज्ञानातिरिक्त कुछ नहीं है,[1] इसलिए रजत जब ज्ञान में भासता है तब इदन्ता करके बाह्यता का प्रतिभास नहीं हो सकता। बाह्यता असत्य है, इसलिए आनन्दबोध का पूर्वपक्ष की ओर से कहना है कि 'असत्य बाह्यता का प्रतिभास अयुक्त है'।[2]

यदि विज्ञानवादी यह कहे कि परवर्ती बाधक-प्रत्यय द्वारा अर्थात् यह 'रजत नहीं है' इस ज्ञान द्वारा रजतज्ञान का आकार जाना जाता है, क्योंकि इदं के लिए ही रजत का निषेध है न कि ज्ञान के लिए, अतः ज्ञान के रूप में रजत रह जाता है, इदं के रूप में इदं में रजत न था और न रहता है; इसलिए मानना पड़ेगा कि रजत आन्तर ज्ञान ही है न कि बाह्य वस्तु। इस पर विज्ञानवादी से यह पूछा जाए कि बाधक-प्रत्यय पुरोवर्ती वस्तु को रजत से भिन्न प्रतीत कराता है या 'रजत ज्ञान धर्म है', यह प्रतीत कराता है ? प्रथमपक्ष समीचीन है, क्योंकि इदं पदार्थ रजत नहीं है और बाधक-प्रत्यय से यह ज्ञान होता है, इसे कैसे अस्वीकार किया जा सकता है ? किन्तु बाधक-प्रत्यय द्वारा रजत को ज्ञानधर्म समझा जाना, यह पक्ष असमीचीन है, क्योंकि रजत इदं नहीं है। अनिदं कोई भी वस्तु अर्थात् अन्य बाह्य वस्तु भी हो सकती है। 'लाल नहीं है' ऐसा बाधक ज्ञान से 'नील है' इस प्रकार का निश्चय करना उचित नहीं, क्योंकि 'वह लाल नहीं' काला भी हो सकता है, सफेद भी; नील ही है, ऐसा निष्कर्ष नहीं निकलता, इसी प्रकार विज्ञानवादी जो बाधक-प्रत्यय द्वारा यह सिद्ध करना चाहते हैं कि जो इदं नहीं वह अनिदं अर्थात् ज्ञानरूप है, गलत है। मीमांसकों ने ऐसे तर्क इसलिए प्रस्तुत किए हैं कि उनके मत में भी रजत इदं तो नहीं है, किन्तु वह ज्ञानरूप भी नहीं है, वह तो ज्ञान के विषयरूप है। उनके मत हैं स्मृतिज्ञान का अनुभूत विषय ही रजत है, अतः ज्ञानकार रजत नहीं हुआ। और भी यदि रजत आन्तर ज्ञानरूप होता तो बाध का रूप 'नेदं रजतम्' ऐसा न होकर 'यह बहिस्थ रजत नहीं है, अपितु आन्तर रजत है' ऐसा होता। शुक्तिज्ञान के पश्चात् 'मिथ्या रजत का ज्ञान हुआ था', ऐसा अनुभव होता है जबकि विज्ञानवाद के अनुसार—'मिथ्या-बाह्यता की प्रतीति हुई थी' ऐसा होना चाहिए। रजत के बाध के साथ इदन्ता का भी बाध होने से दो बाधरूपगौरवदोष है, अतः इदन्तामात्र का ही बाध होना उचित है—यह विज्ञानवादी का कहना भी अनुचित है, क्योंकि यह अनुभव-विरोधी बात है। चित्सुखाचार्य का कहना है कि 'इदं रजतम्' ऐसा ज्ञान होने के पश्चात् 'नेदं रजतम्' ऐसा विशिष्ट का बाध देखा जाता है, अतः अनुभव-विरोध होने से कल्पनालाघवन्याय का अवतरण नहीं हो सकता।[3]

विज्ञानवादी भ्रमस्थल के रजत और सत्यरजत दोनों को ही विज्ञानाकार

---

1. अहमिति हि तदास्यात् प्रतिपत्तुः प्रत्ययादव्यतिरेकात। भामती और कल्पतरु भी।
2. असत्याया एव बाह्यतायाः प्रतिभासस्यायुक्तम्। न्यायमकरन्द, पृ० 100
3. नेदं रजतमिति बाधस्य चानुभवसिद्धतया कल्पनालाघवन्यायानवतारात्। चित्सुखी, पृ० 74

अर्थात् बुद्धिरूप मानते हैं। चित्सुखाचार्य ने आपत्ति उठायी है कि यदि समस्त वस्तुएं बुद्धिरूप हैं और उन्हीं बुद्धिरूप पदार्थों से ही व्यवहार भी चलते हैं तब तो गुंजाफल-गुच्छा में अग्निबुद्धि होने पर उससे भी ताप मिल जाना चाहिए, क्योंकि वहां पर भी बाहर अग्नि तो है नहीं ?[1]

इष्टसिद्धिकार ने आत्मख्याति की आलोचना करते हुए इसे भी एक प्रकार की सत्ख्याति ही कहा है। उनके अनुसार जिसकी कहीं न कहीं प्रतीति होती है, वह वहां पर सत् है, अतः सत् की ही ख्याति होगी। विज्ञानवादी विज्ञानरूप में रूप्य को सत् मानते हैं, अतः विमुक्तात्मा उन्हें सत्ख्यातिवादी कहते हैं।[2] अन्तर्ज्ञेयरूपरजत ही बाहर-सा लगता है, अर्थात् बाहर रजत नहीं है अपितु अन्तरस्थित है। आन्तर पदार्थ ही आन्तर के रूप में न प्रतीत होकर विपरीत बाह्यरूप में प्रतीत होता है, इस कारण जयन्तभट्ट ने इसे भी विपरीतख्याति कहा है।[3] बाह्यता को पूर्णरूप से अस्वीकार करने के कारण यह असत्ख्याति भी है।[4] वस्तुतः विज्ञानवाद के अनुसार शुक्ति-रजत और व्यावहारिक रजत दोनों ही बाह्यताशून्य हैं। उनमें बाह्यतांश भ्रम है, यह बात तो समझ में आती है, किन्तु विज्ञानवादी के अनुसार उक्त दोनों रजतों में अन्तर करने की कसौटी क्या है ? यदि दोनों ही एक प्रकार से विज्ञानरूप हुए अर्थात् भ्रमस्थल की वस्तु और व्यावहारिकवस्तु दोनों ही यदि विज्ञानकार ही हुईं, तब भ्रम और प्रमा में अन्तर ही नहीं हो सकेगा।[5] इस प्रकार भ्रम की व्याख्या आत्मख्यातिवाद के अनुसार भी अपूर्ण है।

असत्ख्याति

शून्यवादी माध्यमिक दृश्य प्रपंच को एवं विज्ञान को भी असत् कहते हैं अर्थात् उनके अनुसार विषय भी असत् और विषयविज्ञान भी। विषय और ज्ञान को असत् मानने पर ज्ञाता को भी असत् मानना ही पड़ेगा। इस प्रकार माध्यमिक के अनुसार ज्ञेय, ज्ञाता एवं ज्ञान तीनों ही असत् है।[6] जिस प्रकार विज्ञानवादी ने बाह्य पदार्थों को असत् कहा है, उसी प्रकार माध्यमिकों ने विज्ञान को भी असत् कहा है। भ्रमस्थल में भी भ्रमअधिष्ठानशुक्ति असत् है एवं आरोप्य विषय रजत भी असत् है। शुक्ति-

---

1. किमारोपितं बुद्धौ चेत् गुंजापुंजादौ दहनसमारोपे देहदाहप्रसंगः। वही।
2. विमुक्तात्मा के अनुसार आत्मख्याति, अख्याति और अन्यथाख्याति भी सत् ख्यादि हैं क्योंकि इनमें किसी ने विज्ञान के रूप में, किसी ने स्मृति के विषय के रूप में, किसी ने रूप में रजत को सत् माना है। इष्टसिद्धि, पृ० 39, 40
3. अन्तर्ज्ञेयरूपं हि बहिर्वदवभासते इत्यभ्युपगमादियमपि विपरीतख्यातिरेव स्यात्। न्यायमंजरी, पृ० 169
4. वही। जयन्तभट्ट, चौखम्बा, 1936
5. इष्टसिद्धिभूमिका, पृ० xxii
6. सर्वदर्शन संग्रह (बौद्धदर्शन), पृ० 63, माधवाचार्य, चौखम्बा, 1964

रजत भ्रम में अत्यन्त असत् रजत की प्रतीति होती है। आचार्य शंकर के 'अन्यत्र अन्य धर्माध्यास' का यहां पर अर्थ है—अन्यत्र =असत् शुक्ति में अन्यधर्मस्य =असत्रजत-धर्मस्य अध्यास :—असत् रजत धर्म का अध्यास होता है। न्यायमकरन्दकार ने कहा है "शून्यवादी के अनुसार अत्यन्त असद् अर्थ को प्रकाशित करने वाला ज्ञान ही विभ्रम है।"[1] इस प्रकार माध्यमिक सर्वशून्यसिद्धान्त को मानते हैं; इसी कारण माध्यमिकों को शून्यवादी भी कहते हैं। न्यायवैशेषिक, मीमांसा, वेदान्त के दर्शन ग्रन्थों में माध्यमिक को शून्य या असद्वादी के रूप में प्रस्तुत किया गया है। नागार्जुन ने शून्य को माध्यमिक कारिका में कहीं-कहीं अलीक शशश्रृंगादि के समान निःस्वभाव कहा है।[2] कहीं-कहीं चतुष्कोटिविनिर्मुक्त शून्य को कहा है।[3] वैदिक दार्शनिकों ने शून्यवाद का असद्अलीकवाद मानकर ही प्रत्याख्यान किया है।

न्यायवैशेषिकों ने और अद्वैतवेदान्तियों ने इस असत्ख्यातिवाद का प्रत्याख्यान किया है। जयन्तभट्ट ने असत्ख्याति के लिए दो विकल्प करके प्रश्न किया है कि असत्ख्याति का अर्थ एकान्त असत् की ख्याति या देशान्तर में स्थित यहां परभ्रम-स्थल में असत् की ख्याति? एकान्त असत् की ख्याति असंभव है, क्योंकि आकाश-कुसुम की ख्याति नहीं देखी गई। देशान्तर में स्थित रजत की ख्याति मानने पर विपरीतख्याति ही होगी न कि असत्ख्याति।[4] अद्वैतवादियों ने भी इसी प्रकार की युक्तिओं से खण्डन किया है। अद्वैतवादियों का कहना है कि असत् का अर्थ सत्ता-शून्य है। उसकी प्रतीति नहीं हो सकती। यदि असत् की प्रतीति होती है तो क्या वह सदात्मना प्रतीत होता है या असदात्मना? असत् आत्मना ज्ञान नहीं हो सकता, क्योंकि अलीकार्थ असत् का ज्ञान संभव नहीं और सदात्मना ज्ञान होने पर सत्ख्याति होगी।[5] सत् एवं असत् का सम्बन्ध भी नहीं हो सकता।[6] असम्बद्ध वस्तु प्रकाशित नहीं होती, जैसे बन्ध्यापुत्र, शशश्रृंग इत्यादि असत् बोधक शब्द द्वारा विकल्प ज्ञान उत्पन्न होता है, फिर भी इन्द्रिय कभी भी असंन्निकृष्ट का ग्राहक नहीं होती। असत् यदि निष्प्रकारक है तो प्रत्यक्ष द्वारा 'रजत' ऐसे विशेष प्रतिभास का अभाव हो जाता है। यद्यपि उत्तरकाल में वह वस्तुरजत प्रतिभासित नहीं होता तथापि जिस समय वह प्रतिभासित होता है, उस समय उसे विद्यमान मानना पड़ेगा, अन्यथा

---

1. अन्येतु अत्यन्तमसन्तमर्थमवभासयन्ती संविदेव विभ्रम इत्याचक्षते न्यायमकरन्द, पृ० 102
2. आकाशं शशश्रृंगंच बन्ध्याया: पुत्र एव च
   असन्तश्चाभिव्यज्यन्ते तथा भावेषु कल्पना ॥ माध्यमिकशास्त्र (सम्पा० पी० एल० वैद्य, दरभंगा 1907), पृ० 105 का० 166
3. सर्वदर्शनसंग्रह, पृ० 63
4. न्यायमंजरी (प्रमाण प्रकरण), पृ० 164
5. इष्टसिद्धि, पृ० 116
6. क: पुनरेष सदसतो: सम्बन्ध ? न्यायमकरन्द, पृ० 106

स्वप्रतिभास समय में किसी भी वस्तु का अस्तित्व सिद्ध नहीं होगा। यदि अत्यन्त असत् को आरोपणीय माना जायेगा तो प्रतिभास भेद और तदनुसार प्रवृत्ति भी अनुपन्न होगी। आरोपणीय और आरोपाधिष्ठान दोनों को असत् मानने पर असत् आरोपाधिष्ठान को जानने पर भी भ्रम की निवृत्ति नहीं होगी, क्योंकि माध्यमिकों ने शुक्तिरजत एवं शुक्ति दोनों को असत् कहा है। सबसे अधिक कठिनाई इस सिद्धान्त में भी विज्ञानवाद के समान ही भ्रम और व्यवहार में अन्तर का न होना। घटज्ञान और शुक्तिरजतज्ञान में एक को भ्रम और अन्य को प्रमा कहने की कसौटी ही नहीं रहेगी, इसलिए भ्रम की व्याख्या असत्ख्याति को मान कर नहीं दी जा सकती।[1]

अख्यातिवाद

मीमांसक प्रभाकरसम्प्रदाय के अनुसार सभी ज्ञान यथार्थ हैं। उनके अनुसार अयथार्थ ज्ञान है ही नहीं। शालिकनाथ ने प्रकरणपंजिका में प्रभाकरमत के ज्ञान सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए कहा है 'यथार्थ सर्वमेवेह विज्ञानम्।'[2] इसी सिद्धान्त के अनुसार 'इदं रजतम्' इसके पश्चात् जो 'नेदं रजतम्' इस प्रकार निषेध बुद्धि है, इससे रजत का निषेध नहीं होता और न ही 'इदं' का निषेध होता है, अपितु रजत के साथ इदं के असम्बन्ध के ज्ञान न होने के कारण 'यह रजत है' इस प्रकार शब्दादिप्रयोग-रूप व्यवहार का ही प्रतिषेध होता है।[3]

प्रभाकरसम्प्रदाय का कहना है कि भ्रमवादी जो शुक्ति में रजत का आरोप मानते हैं वह समीचीन नहीं है, क्योंकि उक्त शुक्ति-रजत भ्रमस्थल में रजत का आलम्बन शुक्ति नहीं हो सकती, ऐसा होने पर स्वानुभवविरोध होगा। भ्रमवादी जब रजत का आलम्बन शुक्ति को कहते हैं, उनसे प्रभाकरों का प्रश्न है कि 'आलम्बन' से भ्रमवादियों का क्या अभिप्राय है ? क्या जिसकी सत्ता है, वह वस्तु ज्ञान का आलम्बन है ? ऐसा कहने पर अतिप्रसंग दोष होगा। संसार में सद्वस्तु जहां भी है वह किसी भी ज्ञान का आलम्बन हो जायेगी, अर्थात् शुक्तिरजतज्ञान का आलम्बन घट भी होगा। घट भी सत् है। कोई भी वस्तु किसी भी ज्ञान का आलम्बन होगी। यदि भ्रमवादी इदं को कारणत्वेन रजतज्ञान का विषय मानते हैं तो भी समीचीन नहीं है, क्योंकि ज्ञान के कारण इन्द्रियां भी होती हैं। प्रत्यक्षज्ञान के प्रति इन्द्रियां भी कारण हैं, अतः इन्द्रियां भी रजतज्ञान का विषय क्यों न हों ? यदि कहा जाए कि ज्ञान में भासमानत्व ही ज्ञान का आलम्बनत्व है, तब तो शुक्ति रजतज्ञान का आलम्बन हो ही नहीं सकती, 'इदं रजतम्' में 'शुक्ति रजतम्' की प्रतीति तो होती नहीं है, अर्थात् शुक्ति

---

1. इष्टसिद्धि भूमिका, पृ० 26
2. प्रकरण पंजिका 4।1, शालिकनाथ, चौखम्बा, 1903
3. न चैष रजतस्य निषेधः, नचैदन्तायाः किन्तु विवेकाग्रहप्रसंजितस्य रजतमिदमिति रजतव्यवहारस्य। भामती, पृ० 26

भासती नहीं है, अतः वह आलम्बन नहीं हो सकती।[1] उक्त भ्रमस्थल में 'रजत' इस प्रकार का अनुभव होता है, 'शुक्ति' ऐसा नहीं होता, अतः अनुभव-विरोध होगा। चक्षुरादिइन्द्रिय यथार्थज्ञान उत्पन्न करने में सहायक होती हैं न कि मिथ्याज्ञान को उत्पन्न करने में। दुष्टेन्द्रियां भी मिथ्याज्ञान उत्पन्न करने में समर्थ नहीं हैं, क्योंकि दोष से दूषित होने पर भी केवड़े का बीज बट के अंकुर उत्पन्न करने में समर्थ नहीं हो सकता। इसी कारण यह मानना पड़ेगा कि कारणगतदोष कारण में कार्यजननशक्ति को ही व्याहत करते हैं, कारण में नये कार्य को उत्पन्न करने की शक्ति को नहीं उत्पन्न करते।[2]

मीमांसक प्रभाकरों का और भी कहना है कि ज्ञान यदि निजविषयक व्यभिचारी होता है अर्थात् ज्ञान द्वारा जो वस्तु जिस रूप में प्रकाशित होती है वह यदि वैसी नहीं है, तब तो संसार में किसी भी ज्ञान के ऊपर निर्भर नहीं किया जा सकेगा, क्योंकि उक्त प्रकार से सभी ज्ञानों में प्रामाण्यसंशय होगा। फलतः किसी भी वस्तु का स्वरूपनिर्णय करना असंभव हो जायेगा, इसलिए प्रभाकरों के अनुसार जितने प्रकार के ज्ञान हैं, वे सभी यथार्थ हैं।[3] भ्रम के प्रभाकरसम्मत स्वरूप का विवेचन करते हुए आचार्य शंकर ने कहा है 'यत्रयदध्यासस्तद्विवेकाग्रहनिबन्धनो भ्रम इति'।[4] अर्थात् जिस वस्तु में जिस वस्तु का भ्रम या अध्यास है, उन दोनों वस्तुओं में जो परस्पर भेद है, उसका अग्रहण ही भ्रम है। भेद-अग्रहण के कारण ही भ्रम उत्पन्न होता है। दोनों वस्तुओं के भेद को भूलकर ही 'इदं रजतम्' दोनों को मिलाकर भाषा-व्यवहार करते हैं, यही भ्रम है।[5] यदि सभी ज्ञान यथार्थ हैं तब मीमांसकों के अनुसार 'इदं रजतं' इस भ्रम की व्याख्या किस प्रकार होगी? इस पर मीमांसक प्राभाकरों का कथन है कि उक्त भ्रमस्थल में एकज्ञान नहीं है अपितु दो यथार्थ ज्ञान हैं। एक रजत विषयक ज्ञान और दूसरा इदं बिषयक। इनमें से 'इदं' यह समुखस्थित वस्तु को प्रकाशित करता है और 'रजतम्' स्मृति स्थित रजत को प्रकाशित करता है।[6]

इदं विषयक ज्ञान प्रत्यक्ष अनुभवज्ञान है, क्योंकि 'इदं' का विषय 'शुक्ति' सामने ही विद्यमान होती है। चक्षुदोष के कारण सम्मुख में स्थित वस्तु के विशेष रूप गृहीत नहीं हो पाते अर्थात् शुक्ति को शुक्तित्वावच्छिन्न शुक्ति के रूप में न जानकर

---

1. नहिरजतनिर्भासस्य शुक्तिकालम्बनं युक्तम् अनुभवविरोधात्, न खलु सत्तामात्रेणालम्बनम् अतिप्रसंगात···इत्यादि भामती, पृ० 27
2. भामती, पृ० 27
   न्यायमकरन्द, पृ० 60
3. तथा च—यथार्थाः सर्वे विवादास्पदीभूताः प्रत्ययया: प्रत्ययत्वात्संप्रतिपन्नसमीचीन-प्रत्ययवद्। न्यायमकरन्द, पृ० 65 सर्वज्ञानं समीचीनमास्थेयम्—भामती, पृ०27
4. ब्र० शंकरभाष्य, पृ० 18—27
5. ब्र० भामती, पृ० 27
6. तथा च रजतं इदमिति च द्वे विज्ञाने स्मृत्यनुभवरूपे। भामती, पृ० 27

मात्र सामान्यरूप से, 'इदं' रूप से जानते हैं। द्रष्टा को 'कुछ देख रहा हूं' एवं प्रकार से ज्ञान होता है।[1] दृष्ट 'इदं' वस्तु में चाक्चिक्य आदि अविकलरजत के समान हैं। इस कारण 'इदं' के उक्त प्रकार से चाक्चिक्यादि सहित सामान्यदर्शन ही भ्रमदृष्टा के मन में पूर्वानुभूत रजत के सुप्तसंस्कार जाग्रत कर देते हैं और उद्बुद्ध रजत संस्कार ही रजत स्मृति को उत्पन्न कर देते हैं। रजत की स्मृति यथार्थ है, किन्तु यहाँ पर स्मृति का आकार होना चाहिए 'तद्रजतम्', क्योंकि जहां पर रजत का प्रत्यक्षानुभव पूर्व में हुआ था, उस देश में स्थित उस रजत की स्मृति भी 'वह रजत' करके होनी चाहिए, जैसाकि हम कभी दूर देश स्थित किसी मिलने वाले को स्मरण करते हैं, उस स्मरण में 'वह' सर्वनाम जुड़ा रहता है न कि यह। प्रस्तुत भ्रम की व्याख्या में मीमांसकों का कहना है कि यहां पर स्मृति के मात्र एकांश का ही उदय हुआ है अर्थात् 'रजत' इस प्रकार की स्मृति होती है न कि वह 'रजत' इस प्रकार की। इसमें 'वह' यह अंश भासता नहीं। इस प्रकार की स्मृति को मीमांसकों ने अस्फुट (प्रमुष्ट स्मृति) कहा है। जिस प्रकार 'इद' इस प्रत्यक्ष में इदं के विशेष धर्म शुक्तित्वादि का प्रत्यक्ष इन्द्रियगत दोषों के कारण नहीं होता उसी प्रकार स्मृति में भी किन्हीं दोषों के कारण 'रजत' की स्मृति 'तद्' सहित न होकर मात्र 'रजत' इस रूप में ही होती है।

इसलिए मीमांसकों के अनुसार 'इदं रजतम्' यहां पर 'इदं' का प्रत्यक्ष भी सत्यज्ञान है और 'रजतम्' की स्मृति भी सत्यज्ञान है। दोनों एकजातीय ज्ञान न होकर दो प्रकार के ज्ञान हैं। इन दो प्रकार के ज्ञानों में जो जातिगत, आकारगत एवं विषयगत पार्थक्य है, भ्रान्त व्यक्ति उसे समझ नहीं पाता। भ्रान्त व्यक्ति के लिए दोनों ज्ञानों की ख्याति दो ज्ञानों के रूप में नहीं होती,[2] अपितु विशिष्ट एक ज्ञान के रूप में प्रतीति होती है। तदनुकूल वह व्यवहार भी करता है। 'इदं रजतम्' एवं प्रकार से इदं और रजत में अभेद उपलब्धि करके भ्रान्त व्यक्ति उसे उठाने के लिए दौड़ता है। इस ज्ञान को वह रजत में रजत के प्रत्यक्ष ज्ञान के समान सत्य समझ बैठता है।

भ्रमज्ञान के समर्थक दार्शनिक 'इदं रजतम्' में इदं और रजतम् इस प्रकार के दो ज्ञान नहीं मानते, अर्थात् दो ज्ञानों की अख्याति या अग्रह स्वीकार नहीं करते। भ्रमस्थल में वे लोग एक विशिष्ट-ज्ञान स्वीकार करते हैं। मीमांसक प्राभाकर इस की आवश्यकता नहीं समझते। उक्त प्रकार से प्रत्यक्ष और स्मृति—इन दो ज्ञानों की अख्याति मानने से ही उक्त भ्रम की व्याख्या हो जाती है, इसलिए विशिष्टज्ञानरूप एक तृतीयज्ञान मानने की मीमांसक आवश्यकता नहीं समझते। यहां पर और भी एक बात समझने की है कि जिस प्रकार उक्त भ्रम में इदं और रजत इन दो ज्ञानों की अख्याति होती है, उसी प्रकार ज्ञानद्वय के विषय 'इदम' और 'रजत' इन दोनों विषयों का पार्थक्य भी भ्रान्तदर्शी के ज्ञान में नहीं भासता। ज्ञानद्वय की अख्याति के समान

---

1. वेदान्तकल्पतरु, पृ० 27
2. रजतमिदमिति नैकं ज्ञानं किन्तु द्वे एते विज्ञाने। प्रकरणपंजिका—5। पृ० 43

दोनों ज्ञेयों की पृथक्ता की भी अख्याति होती है।

किन्तु 'पीतः शंखः' एवं प्रकार भ्रमस्थल में ज्ञानद्वय का भेदाग्रहमात्र होता है, ज्ञानद्वय के विषयों का भेदाग्रह नहीं होता, अर्थात् उनके विषयों का भेद ज्ञात रहता है।[1] इस प्रकार के भ्रम में पित्तरोग से दूषित नेत्रों से जब शंख पीला दिखाई देता है तब नेत्र रश्मिओं में स्थित पीतद्रव्य गृहीत नहीं होता, किन्तु उस पीत-द्रव्य का गुण पीतवर्ण गृहीत होता है। इसी प्रकार शंख के प्रत्यक्ष में भी शंख का ही प्रत्यक्ष स्वरूपमात्र से होता है। दोषवश शंख के श्वेतवर्ण का ग्रहण नहीं होता। इस प्रकार पीतताज्ञान और शंखज्ञान में भेद का ग्रहण नहीं हो पाता, जिस कारण 'पीतःशंखः' इस प्रकार का भ्रम होता है। यहां पर पीतताज्ञान और शंखज्ञान स्वरूपतः भिन्न होते हुए भी दोनों का भेदाग्रह होता है, किन्तु दोनों में विषयगत भेद का ग्रहण होता है। मात्र ज्ञानगत भेदाग्रह होता है।[2] 'पीतः शंखः' इस भ्रम में पीपताज्ञान और शंखज्ञान दोनों ही अनुभवस्वरूप हैं। 'इदं रजतम्' के समान एक अनुभव और दूसरा स्मृतिज्ञान नहीं हैं। 'पीतः शंखः' इस प्रकार के शब्द व्यवहार की व्याख्या करते हुए अख्यातिवादी मीमांसकों का कहना है कि यथार्थज्ञानस्थल में पीत पुष्प को देखते समय हम पीत और पुष्प को एक ही साथ तादात्म्य समझते हैं। वस्तुतः दोनों परस्पर भिन्न हैं, परन्तु भेद का ग्रहण नहीं होता। हम यह भूल जाते हैं कि पीत वर्ण इस पुष्प के साथ अभिन्न नहीं है। जिस प्रकार 'पीत पुष्प' इस यथार्थ ज्ञान में पीत-वर्ण और उसके आधार पुष्प के असम्बन्ध की प्रतीति हमें नहीं होती, उसी प्रकार 'पीतः शंखः' में भी पीतता एवं उसके प्रतीतिस्थलरूप आधार शंख के बीच में जो भेद है, जोकि किसी प्रकार सम्बन्धित नहीं है, उसकी प्रतीति नहीं होती। नेत्रादि के दोष के कारण पीतता और शंख में सम्बन्ध की ही प्रतीति होती है। 'पीतपुष्प' इस प्रकार के यथार्थ ज्ञान में जिस प्रकार दो ज्ञान हैं, उसी प्रकार 'पीत शंख' में भी दो ज्ञान हैं, अतः यथार्थ ज्ञान और तथाकथित भ्रम ज्ञान में अख्यातिवादी के अनुसार अन्तर नहीं है। असंसर्गाग्रहरूप सादृश्य दोनों ज्ञानों में है अर्थात् पीत वर्ण और शंख परस्पर भिन्न होने पर भी एक से लगने लगते हैं। इसी कारण अभेदबोधक 'पीतः शंखः' इस प्रकार के शब्द प्रयोग और व्यवहार होते हैं।[3] 'पीतः शंखः' अख्यातिवादी के अनुसार अनुभावात्मक ज्ञानद्वयों में भेदाग्रह का उदाहरण है।

अख्यातिवादी के अनुसार और भी वक्तव्य यह है कि भ्रमवादी जिसे भ्रम कहते हैं वह भ्रम नहीं, अपितु यथार्थज्ञान ही है। अख्यातिवाद में भ्रम है ही नहीं, यह बात पूर्व में कही गई है। विचार करने पर सभी भ्रमों के उदाहरण यथार्थज्ञान को ही सिद्ध करेंगे। 'नेदं रजतम्' इत्यादि बाध भी अख्यातिवादी के अनुसार 'इदं रजतम्' आदि शब्द प्रयोगमूलक व्यवहार का ही बाध करता है। ज्ञान सर्वदा सत्य और अबाधित

1. सर्वदर्शनसंग्रह, पृ० 816
2. प्रकरणपंजिका 4।48-51।, भामती, पृ० 27
3. भामती, पृ० 27

रहता है। बाधकप्रत्यय को बाधक, ज्ञान के बाध करने के कारण नहीं कहा जाता, अपितु व्यवहार के बाधक होने के कारण बाधक-प्रत्यय कहा जाता है। भ्रमस्थल के इदं और रजत के अबाधित रहने पर भी व्यवहार के बाध होने के कारण गौणरूप से उक्त ज्ञानों को भी बाधित कहा जाता है।

अख्यातिवादी 'सभी ज्ञान यथार्थ हैं' इसके समर्थन में अनुमान का प्रयोग इस प्रकार करते हैं 'यह रजत है, इत्याकारक व्यवहार का कारणीभूतज्ञान यथार्थ है (प्रतिज्ञा) क्योंकि यह ज्ञान है (हेतु) जो-जो ज्ञान होता है, वही-वही यथार्थ होता है, जैसे उभयवादी सम्मत घटादि का ज्ञान (उदाहरण)। उक्त भ्रमस्थल के ज्ञान में भी ज्ञानत्व हेतु है (उपनय) अतः 'यह रजत' इत्याकार व्यवहार का कारणीभूत ज्ञान यथार्थ है (निगमन)।"[1]

अख्यातिवाद का प्रत्याख्यान

प्रभाकर मीमांसकों के इस अख्यातिवाद की आलोचना नैयायिकों और अद्वैत वेदान्तियों ने की है। भामतीकार ने प्रथम नैयायिकों के पक्ष से ही अख्यातिवाद के खंडन में युक्तियां प्रस्तुत की हैं। अख्यातिवाद के विरुद्ध युक्तियां देते हुए भामतीकार का कहना है कि भ्रान्तव्यक्ति सामने दृष्ट वस्तु की ओर प्रवृत्त होता है। उसे यह निश्चय है कि सामने रजत है, अतः अख्यातिवादी का यह कहना कि उक्त भ्रम में ग्रहण स्मरण दो ज्ञान हैं और दोनों का अग्रहण ही भ्रम है, समीचीन नहीं है।[2] माधवाचार्य ने कहा है कि भ्रान्त व्यक्ति 'इदं' के ज्ञान के बाद उसे रजत मानकर उठाने के लिये प्रवृत्त होता है। यदि इदं के रूप में उसे रजत ज्ञात न होकर शुक्ति का 'ग्रहण' होता तब वह व्यक्ति उसे उठाने के लिये प्रवृत्त नहीं होता, क्योंकि उसको रजत का ज्ञान हुआ है और उसी ज्ञात रजत को ही उठाने का प्रयत्न करता है, रजत ही उसका अभीष्ट है। शुक्ति न उस व्यक्ति के लिये साध्य है न साधन।[3] अतः यह बात सिद्ध है कि शुक्ति का 'ग्रहण' भ्रान्त व्यक्ति को रजत के लिये प्रवृत्त नहीं करा सकता, न ही रजत का 'स्मरण' सामने स्थित वस्तु में प्रवृत्ति करा सकता है, क्योंकि स्मरण सर्वदा अनुभवाधीन होता है। रजत का स्मरण पूर्वदृष्ट रजत में ही प्रवृत्ति करा सकता है न कि सामने। और जब रजत का स्मरण होगा उसके साथ 'तत्ता' (अर्थात् वह रजत जो कल दुकान में देखा था) का भी स्मरण होगा। 'तत्ता' पूर्वानुभूत रजत में ही प्रवृत्त करायेगी।[4] इस

---

1. यथार्थाः, सर्वे विप्रतिपन्नाः सन्देहविभ्रमाः, प्रत्ययत्वात् घटादि प्रत्ययवत्। भामता, पृ० 27, सर्वदर्शनसंग्रह, पृ० 823 विवरण प्रमेयसंग्रह, पृ० 98-99
2. अस्ति तावद्रजतार्थिनो रजतमिदमिति प्रत्ययात्पुरोवर्तिनि द्रव्ये प्रवृत्तिः——तदेतन्न तावदग्रहणस्मरणयो स्तद्गोचरयोश्च मिथो भेदाग्रहमात्राद्भवितुमर्हति—भामती, पृ० 27, 28
3. सर्वदर्शनसंग्रह, पृ० 824
4. नाऽपि रजत स्मरणं पुरोवर्तिनि प्रवृत्तिकारणम्, तस्यानुभव पारतन्त्र्यतयानुभवदेश एव प्रवर्तकत्वात्। वही

प्रकार अख्यातिवाद में प्रवृत्ति की व्याख्या नहीं बन पाती। पंचपादिकाविवरणकार प्रकाशात्मयति अख्याति का खण्डन करते हुए अख्यातिवादी से प्रश्न करते हैं कि यह अख्याति क्या है? क्या ख्याति का न होना अख्याति है अर्थात् ज्ञान का न होना ही अख्याति है? ख्याति अभाव को ही अख्याति नहीं कह सकते, क्योंकि ऐसा मानने पर अतिप्रसंग होगा अर्थात् उक्त कथन के अनुसार एकमात्र सुषुप्ति को ही भ्रम मानना पड़ेगा। सुषुप्ति में किसी प्रकार की ख्याति नहीं होती।[1] जाग्रत एवं स्वप्न में किसी प्रकार का भ्रम हो ही नहीं पायेगा। इस प्रकार अख्यातिलक्षण की अतिव्याप्ति सुषुप्ति में और अव्याप्ति जाग्रतस्वप्न में होगी।[2] प्रश्न में विवरणकार ने दूसरा विकल्प किया है कि 'क्या अख्याति का अर्थ' अन्य वस्तु को चाहने वाले व्यक्ति की अन्य वस्तु में प्रवृत्ति का कारण विज्ञान, ही है? ऐसा मानने पर 'इदं रजतम्' इस भ्रम के अव्यवहित उत्तर-क्षण में 'नेदं रजतम्' ऐसा जिसका बाध हो जाता है, उस भ्रमस्थल में भ्रम का लक्षण नहीं जायेगा, क्योंकि वहाँ पर प्रवृत्ति न होने के कारण प्रवृत्तिकारणत्व नहीं सिद्ध होता। अथवा जहाँ पर भ्रम होने पर आलस्य के कारण प्रवृत्ति नहीं होती वहाँ पर भ्रम नहीं माना जा सकेगा।[3]

तृतीय विकल्प करते हुए उन्होंने कहा है कि क्या तब अविविक्त अनेक वस्तुओं का विज्ञान ही अख्याति है? इसमें भी दोष है, क्योंकि इस विकल्प में विविक्तत्व के अभाव का प्रतियोगीभूत जो विविक्तत्व है, वह क्या भेदज्ञान है? अथवा अभेद का अज्ञान ही विविक्तत्व है? या इतरेतराभावभेद द्वित्वादिसंख्याविशिष्टज्ञान विविक्तत्व है?[4] इनमें प्रथम पक्ष समीचीन नहीं है, क्योंकि 'इदं' सामान्य और 'रजतम्' विशेष इन दोनों का भेदग्रह स्पष्ट होने के कारण दोनों का अविवेक असंभव हो जायेगा। इसी प्रकार प्रथम विकल्प में भेदग्रह की सिद्धि होने पर उसके निषेधस्वरूप भेदाग्रह संभव नहीं। इसी प्रकार तृतीय पक्ष में भी विवरणकार ने अनेक दोष दिये हैं।[5]

यदि अख्यातिवादी असंसर्ग (सम्बन्धाभाव) के अग्रह को ही अविवेक कहते हैं तो भी अद्वैतवेदान्ती का कहना है कि यदि असंसर्गअग्रह ग्रहण और स्मरण दो ज्ञानों का मानेंगे तो 'अहं मनुष्यः' यह प्रतीति भ्रम नहीं मानी जा सकती, क्योंकि यहाँ पर दोनों ही ज्ञान अनुभवात्मक हैं, अतः उक्त लक्षण की अव्याप्ति होगी। यदि किन्हीं दो

---

1. अद्वैत के अनुसार सुषुप्ति में भी अज्ञान की ख्याति होती है, अतः यह दोष परमत के अनुसार दिया गया है। विवरणप्रमेयसंग्रह टिप्पणी, पृ० 102
2. केयमख्यातिः इति, न तावत्ख्यात्यभावमात्रम्, अनभ्युपगमादतिप्रसंगाच्च। पंच-पादिकाविवरण, पृ० 131, मद्रास 1958 सुषुप्तेभ्रमप्रसंगात् जाग्रतश्च असम्भवात् नायंपक्षः सम्भवति। विवरणतात्पर्यदीपिका, पृ० 131, मद्रास 1958
3. अन्यार्थिनोऽन्यत्र प्रवृत्तिहेतुः ज्ञानमिति चेत् यत्र तर्हि न प्रवृत्तिः झटिति बाधश्च तत्र कथं भ्रान्तिः। वही
4. अथ अविविक्तानेकपदार्थज्ञानम्। पं० विवरण, पृ० 132 (मद्रास 1958)
5. पं० विवरण, पृ० 132 ,, ,,

ज्ञानों का असंसर्गअग्रह अविवेक है तब, 'खण्डो गौः' 'शुक्लः पटः' इन ज्ञानों में भी भ्रमत्व हो जायेगा, अतः अतिव्याप्ति होगी, क्योंकि असंसर्ग की प्रतीति इन दोनों ज्ञानों में नहीं होती।[1] इस प्रकार विवरणकार के अनुसार अख्यातिवाद भ्रमस्थल की व्याख्या नहीं दे सकता। मण्डनमिश्र का कहना है कि अख्यातिवादी ग्रहण और स्मरण में असंसर्ग अग्रह को ही भ्रम मानते हैं, यह समीचीन नहीं है, क्योंकि भ्रमस्थल में भ्रान्त व्यक्ति रजत को प्राप्त करने के लिये प्रवृत्त होता है और रजत के न मिलने पर 'नेदं रजतम्' इस प्रकार का वह निषेध करता है। इस प्रकार की प्रवृत्ति और निषेध से सिद्ध होता है कि भ्रमस्थल में भाववस्तु ही प्रवर्तक है, अग्रहण वस्तु के लिये प्रवर्तक नहीं हो सकता, क्योंकि अग्रहण अभाव है, अभाव प्रवर्तक नहीं होता और प्रतिषेध भी प्राप्त का ही होता है।[2]

नैयायिकों की ओर से अख्यातिवाद पर आक्षेप उठाते हुए वाचस्पति मिश्र कहते हैं कि 'इदं' और रजतम्' इन दो ज्ञानों का और इन दो ज्ञानों के विषय 'इदं' वस्तु एवं 'रजत' इनके परस्पर भेदाग्रह ही भ्रान्त व्यक्ति को रजत प्राप्ति के लिये प्रवृत्त कराते हैं, यह युक्तिपूर्ण नहीं है, क्योंकि बुद्धिमान व्यक्ति ज्ञानपूर्वक ही कर्म में प्रवृत्त होता है। अज्ञानपूर्वक कोई भी कार्य नहीं करते।[3] सुषुप्ति में जीव को ज्ञान नहीं रहता, अतः ज्ञानाभाव के कारण उस अवस्था में जीव में किसी प्रकार प्रवृत्ति या चेष्टा भी नहीं देखी जाती। जाग्रत एवं स्वप्न में ज्ञान रहता है एवं प्रवृत्ति, चेष्टा आदि भी वहाँ देखी जाती हैं। इससे सिद्ध होता है कि ज्ञान प्रयत्न का कारण है, अतः 'इदं' और 'रजतम्' इनके भेदज्ञान का अभाव किसी भी प्रकार से रजतार्थी के रजतग्रहण में प्रवृत्ति का कारण नहीं बन सकता। इस पर अख्यातिवादी का कहना है कि हम उक्त दो ज्ञानों और दोनों के विषयों के परस्पर भेदज्ञान के अभाव को ही रजतग्रहण में प्रवृत्तिकारण नहीं कहना चाहते, अर्थात् अख्यातिवाद का कहना है कि ज्ञानाभाव को हम प्रवृत्ति में कारण नहीं मान रहे हैं, अपितु भेदज्ञान के अभावज्ञान को ही कारण मानते हैं। इससे अज्ञानपूर्वक प्रवृत्ति-असंभववाला दोष हमारे में नहीं लगता, क्योंकि हम भी ज्ञानपूर्वक ही प्रवृत्ति कह रहे हैं। अख्यादिवादी और भी आगे कहते हैं कि उनके मतानुसार जिस प्रकार 'इदं रजतम्' इस प्रकार के सत्य रजतानुभवस्थल में इदं और रजत में भेदबुद्धि नहीं होती, भेदबुद्धि का अभाव ही रहता है, ठीक उसी प्रकार मिथ्या रजत स्थल में भी वस्तुतः 'इदं और रजत' में भेद रहने पर भी चक्षु आदि के दोष के कारण वह भेद गृहीत नहीं होता, अपितु भेदाग्रह ही प्रतीत होता है। दोनों में भेदाग्रह होने के कारण एवं सत्य रजतज्ञान तथा मिथ्या रजतज्ञान में सादृश्य के कारण

---

1. पं० विवरण, पृ० 132, 133, (मद्रास 1958)
   विवरण प्रमेयसंग्रह, पृ० 104, 105
2. नेदं रजतम् इति प्रसक्तप्रतिषेधरूपा प्रतीतिः नाग्रहणेऽवकल्पतेप्रसंगाभावात्। न खल्वग्रहणं कस्यचित् प्रसंजकम्, अभावो हि सः। ब्रह्मसिद्धि, पृ० 143
3. भामती, पृ० 28

मिथ्याज्ञान भी सत्यज्ञान के समान व्यवहारहेतु हो जाता है।[1] इस प्रकार रजतार्थी रजतग्रहण करने में प्रलुब्ध हो जाता है। इस प्रकार पूर्वोक्त आपत्ति अख्यातिवाद में उठायी नहीं जा सकती।

इस पर नैयायिकों की ओर से भामतीकार प्रश्न करते हैं कि अख्यातिवादी सत्यमिथ्याज्ञान के जिस सादृश्य के कारण भ्रमस्थल में रजतार्थी के व्यवहार और प्रवृत्ति आदि की सिद्धि दिखाना चाहते हैं, उस सादृश्य का स्वरूप क्या है? यदि कहा जाए कि भ्रमस्थल के 'इदं' और 'रजतम्' इन दो ज्ञानों के साथ 'इदंरजतम्' इस प्रमाज्ञान का सादृश्य है, अतएव उक्त प्रमाज्ञान के सादृश्य होने के कारण भ्रमस्थल में भी शब्द व्यवहार एवं प्रवृत्ति आदि देखी जाती है, तो भी समीचीन नहीं है, क्योंकि उक्त सादृश्य कभी भी व्यवहारादि का सम्पादन करने में समर्थ नहीं होगा। इसके लिये वाचस्पति मिश्र और न्यायमकरन्दकार ने एक दृष्टान्त देकर समझाया है कि 'गवय नामक अरण्यप्राणी गौ के सदृश्य है' ऐसा सादृश्य ज्ञात होने पर भी गवय देखकर गवय को गौ समझकर गौग्रहण की प्रवृत्तियां 'गौ' इस प्रकार के सत्य गौ के व्यवहार गवय में नहीं हुआ करते।[2] राम श्याम के सदृश है और इस प्रकार सादृश्यबोध होने पर भी राम को देखकर श्याम को जो बातें कहनी थीं वे राम को नहीं कहते, इसीलिए यह बात युक्तियुक्त है कि सादृश्यबुद्धि कभी भी व्यवहार-प्रवृत्ति आदि सम्पादन में पर्याप्त नहीं है।

अख्यातिवादी के अनुसार जब भ्रमस्थल में 'इदं' और 'रजतम्' ये दो ज्ञान एकत्र सत्यज्ञान 'इदं रजतम्' के समान हैं—बतलाये जाते हैं, तब उक्त भ्रमस्थल के उक्त दो ज्ञानों को दो ज्ञान समझ करके कहा जाता है। इस प्रकार जब अख्यातिवादी के अनुसार भ्रमस्थल में दो ज्ञानों को भ्रान्त व्यक्ति जानता है तब भेदाग्रह नहीं रहा और तन्निबन्धन भ्रम भी सिद्ध नहीं हो सकता।

सत्य और मिथ्याज्ञान में भेदज्ञान के अभाव के कारण जो सादृश्य है, वह सादृश्य अज्ञात रहकर व्यवहार और प्रवृत्ति आदि का संपादन नहीं कर सकता, क्योंकि बुद्धिमान व्यक्ति ज्ञानपूर्वक ही कर्म में प्रवृत्त होता है। भ्रान्त व्यक्ति भ्रमस्थलीय रजत को रजत समझकर ही उसके आहरण में प्रवृत्त होता है। रजत यदि भ्रान्त व्यक्ति के ज्ञान का विषय न हो तो उसे प्राप्त करने की चेष्टा नहीं हो सकती, इसलिए यह कहना होगा कि भेदबुद्धि के अभावहेतु जो अज्ञात सादृश्य उत्पन्न होता है, वह अन्य किसी ज्ञान को उत्पन्न करके ही रजतार्थी के व्यवहार और प्रवृत्ति का संपादन करता है, और वह ज्ञान है अनुपस्थित रजत को सम्मुख में देखना। रजत का स्मरण ही प्रवृत्ति आदि का कारण है, ऐसा कथन भी समीचीन नहीं है, क्योंकि मात्र स्मरण प्रवृत्ति का

---

1. भामती, पृ० 28
2. न हि गोसदृशोगवय इति ज्ञानं गवार्थिनं गवये प्रवर्तयति, भामती, पृ० 28
   नोखलु गोसन्निभो गवय इत्यवभासो गवार्थिनांगवये व्यवहारकारणभावं भजते। न्यायमकरन्द, पृ० 68

जनक नहीं हो सकता। रजतार्थी व्यक्ति सम्मुख में स्थित इदं पदार्थ को ग्रहण करने के लिये प्रवृत्त होता देखा जाता है। वह सामने कुछ न देखकर मात्र स्मरण से ही सामने दौड़ता नहीं है। इस विषय में किसी को भी विवाद नहीं है। पुरोवर्ती इदं को रजत के रूप में देखकर पाने की अभिलाषा भ्रान्त व्यक्ति की होती है, क्योंकि प्रवृत्ति के पूर्व इच्छा होती है, इच्छा और प्रवृत्ति का विषय एक होता है।[1] स्मरण का ज्ञान और इदं में इच्छा और प्रवृत्ति मानने पर अन्य का ज्ञान, अन्य की इच्छा, और अन्य में प्रवृत्ति प्रसंग हो जायेगा।[2] इसलिए अख्यातिवादी को यह मानना होगा कि पुरोवर्ती वस्तु में दो ज्ञान प्रवर्तक नहीं हो सकते, किन्तु एक स्वतन्त्र विशिष्टज्ञान ही उसमें प्रवर्तक है। यह बात 'इदं रजतम्' इस सामानाधिकरण्य से भी समझी जा सकती है। उक्त सामानाधिकरण्य में 'इदं रजतम्' करके इदं को ही रजत समझा गया है। पुनः अख्यातिवादी का कहना है कि पुरोवर्ती वस्तु को रजत करके न जानने पर भी 'यह रजत नहीं है' एवंरूप से भ्रमकाल में नहीं जानते, अतः रजत शब्दव्यवहार तथा प्रवृत्ति आदि का सम्पादन हो जाता है। इस पर अद्वैतवादी कहते हैं कि जब भ्रान्त व्यक्ति पुरोवर्ती वस्तु को रजत करके नहीं जानता तब वह उसकी उपेक्षा ही करेगा, क्योंकि रजतरूप में जानना ही प्रवर्तक है, न कि न जानना। इस प्रकार 'इदं' को 'रजत नहीं है' न जानने पर भी 'रजत है' न जानने के कारण प्रवृत्ति नहीं बनेगी। वस्तुतः अनुभव में यही देखा जाता है कि रजत को लेने के लिए प्रवृत्ति होती है, अतः मीमांसकों का पक्ष समीचीन नहीं है,[3] अतः रजत पुरोवर्ती वस्तुविषयक है।

न्यायमकरन्दकार ने इस बात को अनुमान के रूप में इस प्रकार प्रस्तुत किया है—विवादास्पदीयभूत रजतविज्ञान सामने स्थित रजत-विषयक है (प्रतिज्ञा) क्योंकि रजतार्थी उसमें नियम से प्रवृत्त होता है (हेतु) उभयवादीसम्मत सत्यरजतविज्ञानवत् (उदाहरण)।[4]

भ्रान्तव्यक्ति के रजत का विषय सामने स्थित शुक्ति ही है न कि स्मरणात्मक रजत। इसी को माधवाचार्य ने सर्वदर्शन संग्रह में अनुमान के रूप में प्रस्तुत किया है—विवादास्पद शुक्तिभाग रजतज्ञान का विषय है (प्रतिज्ञा) क्योंकि रजतार्थी की प्रवृत्ति बिना व्यवधान के उसी की ओर होती है (हेतु) क्योंकि रजत-शब्द का जो समानाधिकरण दूसरा शब्द इदं है उसका वाच्य शुक्ति ही है, जैसे वास्तविक रजत (उदाहरण)।[5]

---

1. जानाति, इच्छति ततः प्रवर्तते इति न्यायेन ज्ञानेच्छा-प्रवृत्तीनां समानविषयत्वेन भाव्यम्। सर्वदर्शनसंग्रह, पृ० 829
2. न्यायमकरन्द, पृ० 71
3. वही, पृ० 7।
4. विवादाध्यासितं रजतविज्ञा पुरोवर्तिवस्तुविषयं रजताथिनस्तत्रनियमेन प्रवर्तकत्वादुभयवादास्पदरजतविज्ञानवत्। न्यायमकरन्द—पृ० 72। भामती—पृ० 28-30
5. सर्वदर्शनसंग्रह, पृ० 833

इस पर मीमांसकों की ओर से शंका है कि रजत का ज्ञान यदि सीपी पर आधारित हो जाय तो अनुभव का विरोध होगा ? अद्वैतवेदान्ती का उत्तर है कि अनुभव-विरोधवाली बात समीचीन नहीं है। मीमांसकों से यह पूछा जाए कि अनुभवविरोध कहाँ पर है ? उनका उत्तर होगा या तो शुक्तिशकल को आधार मानने पर अनुभव-विरोध होगा या इदमंश को आधार मानने पर। शुक्तिशकल को शुक्तित्वावच्छिन्न शुक्ति के रूप में रजतज्ञान का आलम्बन अद्वैतवादी नहीं मानते, अतः उक्त पक्ष से दोष नहीं दिया जा सकता। दूसरा पक्ष इदमंश को रजतज्ञान का आधार मानना है। 'इदम्' को रजत-ज्ञान का आधार न मानने पर अद्वैत मत में नहीं अपितु अख्यातिवाद में ही अनुभव-विरोध होगा। इदं के चाक्चिक्यादि से जिसका ज्ञान होता है, भ्रान्त व्यक्ति उसका ज्ञान 'इदं' आधार में ही करता है, अर्थात् वह ज्ञान इदंविषयक ही होता है, यह अनुभव सिद्ध है, क्योंकि भ्रान्त व्यक्ति इदं की ओर ही रजत कह कर अंगुली से निर्देश भी करता है और लेने के लिए भी इदं की ओर ही जाता है।[1]

दोष कार्योत्पादन की स्वाभाविक शक्ति का केवल प्रतिबन्ध कर सकते हैं, विपरीत कार्योत्पादन में समर्थ नहीं होते—इस अख्यातिवादी द्वारा उठाये गए आक्षेप की भी अद्वैतवादियों ने आलोचना की है। अद्वैतवादी यह बात मानने को तैयार नहीं होते कि दोष नये कार्य का उत्पादन करने में असमर्थ है। इसके स्पष्टीकरण में अद्वैतवादी कुछ उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। उन उदाहरणों के माध्यम से यह समझाने का प्रयास करते हैं कि दोष भी नये कार्यउत्पादन कर सकते हैं। उदाहरण के रूप में दावाग्नि से जले हुए वेत्र बीज से केले के पेड़ की उत्पत्ति देखी जाती है। दूषित अर्थात् जलकर दूषित वेत्र बीज में अन्य वस्तु केले के पेड़ को उत्पन्न करने की शक्ति होती है, ऐसा अद्वैतवादियों का कहना है।[2] यदि कहा जाए कि जल जाने पर वह वेत्र बीज रहा ही नहीं, अतः वेत्र बीज कदलीकाण्ड की उत्पत्ति में कारण नहीं सिद्ध हुआ, उचित नहीं, क्योंकि कच्चे घड़े को पकाने के बाद रक्त हो जाने पर उसे घड़ा ही कहते हैं। श्याम घट पक जाने पर अन्य नहीं हो जाता, क्योंकि घटत्व तो रक्त घट में भी है। इसी प्रकार वेत्रबीजत्व तो जले हुए वेत्रबीज में भी है, अतः जले हुए वेत्रबीज से ही कदली की उत्पत्ति माननी पड़ेगी। उसी प्रकार दूसरा उदाहरण अद्वैतवादियों ने भस्मकदोष से दूषित जठाग्नि का दिया है। उसमें बहुत अन्न पचाने का सामर्थ्य हो जाता है। इससे भी अद्वैतवादी दोषों में नये कार्योत्पादनसामर्थ्य की सिद्धि करते हैं।[3] और भी मीमांसक-मत में ज्ञान यथार्थ व्यवहार के कारण होने पर भी दोष के कारण अयथार्थ व्यवहार के प्रयोजक हैं, अर्थात् 'इदं' 'रजत' दोनों ज्ञान ग्रहण स्मरण के रूप में सत्य होने पर भी दोषवशः एक ज्ञान से व्यवहृत होने लगते हैं। इसका अर्थ हुआ दोष नया व्यवहार

---

1. सर्वदर्शनसंग्रह, पृ० 833, 834
2. दावदहनदग्धवेत्रबीजादपि कदलीकाण्डोत्पत्तिदर्शनात्। न्यायमकरन्द, पृ० 75
3. भस्मकदोषदूषितस्य जाठरजातवेदसो बहुतराहारदाहहेतोरुपलम्भात्। न्यायमकरन्द, पृ० 75

उत्पन्न कर सकते हैं, अर्थात् मीमांसकों को भी दोषों में विपरीत कार्यजननशक्ति माननी पड़ेगी।

इस प्रकार 'यथार्थाः सर्वे प्रत्ययाः' इस मीमांसकों द्वारा प्रस्तुत अनुमान में भी अद्वैतवेदान्तियों ने बाधित नामक हेत्वाभास दोष दिया है, अर्थात् उक्त अनुमान प्रत्यक्ष से बाधित हो जाता है—जैसा वह्नि अनुष्ण सिद्ध करने का अनुमान प्रत्यक्ष सिद्ध वह्नि की उष्णता के अनुभव से बाधित होता है, उसी प्रकार भ्रमस्थल का रजत शुक्ति के ज्ञान से 'यह रजत नहीं है' करके बाधित हो जाता है, अतः भ्रमस्थलीय रजत बाध्य होने से मिथ्या है। उसका प्रत्यय भी मिथ्या है।[1]

अख्यातिवादी मीमांसकों ने भ्रम स्वीकार नहीं किया है, जैसाकि पिछले पृष्ठों में हमने विचार किया है। सभी ज्ञान चाहे वह तथाकथित भ्रमस्थलीय शुक्ति-रजत ज्ञान हो, चाहे यथार्थरजत का ज्ञान हो, सत्य हैं। हमने पूर्व ही यह विचार किया है कि ज्ञान विषय के अभाव में मिथ्या हुआ करता है। विशेषकर यह सिद्धांत कि 'विषयाभाव के कारण ज्ञान मिथ्या है', वस्तुवादी दार्शनिकों का है क्योंकि वस्तुवादी दार्शनिक बिना विषय के ज्ञान नहीं मानते। बिना घट के घट ज्ञान की कल्पना भी उनके अनुसार नहीं की जा सकती। यही तर्क इन दार्शनिकों ने आत्मख्यातिवादी के बिरोध में प्रस्तुत किया है। मीमांसक भी तत्वमीमांसा में यथार्थवादी है, अतः ज्ञान के लिए उनके मत में भी विषय अवश्य होना चाहिए। यथार्थ प्रत्ययों में तो ज्ञान का विषय सामने होता ही है, अयथार्थ प्रत्ययों में भी दो सत्य ज्ञानों को और उनके सत्य ज्ञानों के विषयों को उन्होंने माना है, अर्थात् उनके अनुसार 'इदं रजतम्' इस भ्रमस्थल में रजतज्ञान स्मृतविषयक होने के कारण तथा स्मृतविषयक पूर्वानुभूत विषय होने के कारण, पूर्वानुभूत विषय यथार्थ विषय होने के कारण, सत्य है। इधर 'इदं' सत्य है, यह तो न्याय-वेदान्तादि दार्शनिक भी स्वीकार करते हैं, मीमांसक भी। अब प्रश्न यह रह जाता है कि क्या भ्रम और यथार्थ में कोई अन्तर है ही नहीं? अख्यातिवादी के अनुसार कोई भी सैद्धांतिक अन्तर नहीं है। तार्किक पक्ष में दोनों समानज्ञान हैं, किंतु व्यवहार में अन्तर है। व्यवहार में तथाकथित भ्रम का रजत काम नहीं देता, अतः वह भ्रम है। सत्य-रजत काम देता है, वह सत्य है। निस्सन्देह ज्ञान अपने तार्किक पक्ष में कभी भ्रामक नहीं हो सकता। लेकिन ऐसा हो सकता है कि वह व्यवहार में काम दे या न दे। यदि वह व्यवहार में काम देता है तो प्रमाण है और यदि काम नहीं देता तो अप्रमाण है।[2] अन्य भ्रमवादी दार्शनिक भी भ्रम की व्याख्या में व्यवहार को अर्थात् व्यवहार में विसंवाद और अविसंवाद को ही भ्रम और यथार्थ की कसौटी मानते हैं। मात्र अन्तर इतना है कि अद्वैतवेदान्त वस्तु और ज्ञान दोनों का बाध मानता है, जबकि प्रभाकर मात्र व्यवहार तथा भेदाग्रह का बाध मानता है। प्रभाकरों के अनुसार भेदा-

1. सर्वदर्शनसंग्रह, पृ० 837, भामती, पृ० 30
2. भारतीय दर्शन की रूपरेखा, पृ० 317 (आंग्ल चतुर्थ संस्करण—हिरियन्ना, एलेन एण्ड अनविन, 1958)

ग्रह का बाध भेदग्रह से हो जाता है। उक्त दोनों ज्ञानों में या ज्ञान विषयों में भेद तो था, तद्बुद्धि नहीं थी। भेदग्रह बुद्धि द्वारा भेदाग्रह बुद्धि के बाधित होने पर उस बुद्धि को (भेदाग्रह बुद्धि को) मिथ्या कह सकते हैं और उसका बाधपूर्वक व्यवहारादि का भी बाध हो जाता है, अतः भेद रहने पर भी भेदाभाव के रूप में दोनों ज्ञानों, विषयों को समझना, एक प्रकार से विपरीत समझना ही हुआ। इस प्रकार इसे विपरीतख्याति भी कह सकते हैं। भासर्वज्ञ ने न्यायभूषण में दो सद्वस्तुओं के भेद रहते हुए भी अभेदरूप में ग्रहण करने को विपरीतख्याति कहा है।[1] इस प्रकार संसर्ग न होने पर भी संसर्ग मानकर प्रवृत्त होना भ्रम को सिद्ध करता है और उस विपरीतता का बाध होने पर वस्तु-द्वयों या वस्तुद्वयविषयक ज्ञानद्वयों का बाध न होने पर भी संसर्ग के बाध होने पर तथा संसर्ग बुद्धि के भी बाध होने पर किसी हद तक अख्यातिवाद में भी भ्रम सिद्ध होता है, अतः अख्यातिवादी का यह दावा कि "सभी प्रत्यय यथार्थ है", यह कथन भ्रम की कसौटी—प्रवृत्ति और बाध में यथार्थ नहीं बैठता। या तो प्रवृत्ति और बाध को भ्रम की कसौटी स्वीकार न करें या फिर भ्रम स्वीकार करें—दोनों में से प्रभाकरों को एक स्वीकार करना होगा। प्रभाकरों के अनुसार सभी ज्ञान यथार्थ हैं अर्थात् अयथार्थ ज्ञान हैं ही नहीं, किंतु अप्रामाणिक ज्ञान हैं क्योंकि प्रभाकरों ने ज्ञान के दो भेद किए हैं—प्रामाणिक ज्ञान और अप्रामाणिक ज्ञान। प्रामाणिक ज्ञानों में प्रामाण्य स्वतः आता है और अप्रामाणिक ज्ञानों में अप्रामाण्य परतः आता है। इसका अर्थ हुआ सभी ज्ञान यथार्थ होते हैं किंतु कुछ ज्ञान यथार्थ होते हुए भी अप्रामाणिक होते हैं, जबकि न्याय-वैशेषिक वेदान्तादि दर्शनों में यथार्थानुभव को प्रमाण और अयथार्थानुभव को भ्रम कहा है। मीमांसक प्रभाकरों की यह बात समझ में नहीं आती कि अप्रामाणिक ज्ञान यथार्थ कैसे होते हैं? व्यावहारिक दृष्टि में प्रभाकरों की अख्याति से भ्रम की पूर्ण व्याख्या नहीं हो पाती, क्योंकि भ्रम की व्याख्या उसे अस्वीकार करके की गई।

अन्यथाख्याति

भ्रम को न्यायदर्शन में विपर्यय कहा है, विपर्यय का लक्षण करते हुए भा-सर्वज्ञ ने कहा है—"मिथ्याध्यवसायो विपर्ययः"।[2] अर्थात् विपरीतार्थ निश्चय या जो जहां पर नहीं वहां उसको समझना ही विपर्यय है। नैयायिकों ने भ्रम की व्याख्या अन्यथा-ख्याति द्वारा की है। उनके अनुसार भ्रमस्थल में वस्तु अन्यथा या विपरीत रूप में प्रकाशित होती है। आचार्य शंकर ने नैयायिकों के अनुसार भ्रम की व्याख्या करते हुए

1. यदि भिन्नयोः सतोरभेदेन ग्रहणं, तदा विपरीतख्यातिः स्यात्—न्यायभूषण, पृ० 29
2. न्यायभूषण, पृ० 25

अध्यासभाष्य में कहा है—"यत्र यदध्यासस्तस्यैव विपरीतधर्मत्वकल्पनामाचक्षते ।"[1] भामतीकार ने इसका अर्थ करते हुए कहा है "यत्र अर्थात् जहां पर शुक्ति आधार में, जिसका रजत का अध्यास होता है, उसी शुक्ति के विपरीत धर्मकल्पना करना ही अध्यास है ।"[2] न्याय के अनुसार शुक्ति में जो भ्रान्त व्यक्ति को रजतज्ञान होता है, वह केवल शुक्तिज्ञान नहीं, और न केवल रजतज्ञान ही । यहाँ पर इन दोनों से पृथक् एक तृतीय ज्ञान है । यह तृतीय ज्ञान एक विशिष्टज्ञान है । इस ज्ञान का विशेष्य है "इदं रजतम्" में से "इदमंश", और विशेषण "रजतम्" है । इसी को न्यायमत में भ्रमज्ञान कहा जाता है । एवं प्रकारक भ्रमज्ञान में प्रथम चाक्चिक्ययुक्त वस्तु के साथ चक्षु का संयोग होता है । दोनों के रहने के कारण उक्त चाक्चिक्ययुक्त वस्तु के विशेष धर्म शुक्तित्व का ग्रहण नहीं हो पाता । इसके बाद रजत और पुरोवर्ती द्रव्य में सादृश्य-ज्ञान रजतस्मृति को उत्पन्न कर देता है । इसके पश्चात् स्मृति का विषय उस रजत के साथ पुरोवर्ती द्रव्य का एक तादात्म्यसम्बन्ध दोष के कारण गृहीत होता है । न्याय के अनुसार यही भ्रम है । भ्रम के कारण शुक्ति में तदभिन्नरूप से गृहीत रजत है । उसमें सत्य रजत के समान इष्टसाधनता ज्ञान होने लगता है अर्थात् 'इस रजत के पाने पर मुझे लाभ होगा', ऐसा ज्ञान होता है । इसके पश्चात् उसे प्राप्त करने की इच्छा होती है । इच्छा के बाद ग्रहण करने के लिए प्रवृत्ति होती है ।[3] इस ज्ञान में पुरोवर्ती वस्तु एवं रजत दोनों ही सत्य वस्तुएं हैं । मात्र तादात्म्यसंसर्ग अर्थात् सम्बन्ध ही परस्पर में आरोपित है ।[4]

अब प्रश्न यह होता है कि भ्रमस्थल में 'रजत को प्रत्यक्ष कर रहा हूँ', इस प्रकार

---

1. वाचस्पति मिश्र के अनुसार भ्रम का यह लक्षण न्याय के अनुसार है । भाष्यरत्न-प्रभाकर गोविन्दानन्द एवं न्यायनिर्णयकार आनन्द गिरि के अनुसार उक्त भ्रम का लक्षण शून्यवादी बौद्धों के अनुसार है । गोविन्दानन्द एवं आनन्द गिरि ने विपरीत शब्द का अर्थ सत्विपरीत किया है । वाचस्पति ने 'विपरीत' शब्द का अर्थ अन्यवस्तु का धर्म किया है । भाष्यरत्न प्रभा-भामती न्याय निर्णय पृ० 22, 23 । सभी मतों में कुछ अंशों में समानता ही उक्त मतभेद का कारण है । 'विपरीत' शब्द का अर्थ विरुद्ध करने पर रत्नप्रभाकर का मत समीचीन लगने लगता है, किन्तु विपरीत शब्द का प्रयोग अन्यथाख्याति के लिए प्रभाचन्द्र ने प्रमेयकमलमार्तण्ड में विपरीत-ख्याति का प्रयोग किया है ।—पृ० 52, अतः आचार्य के उक्त लक्षण की व्याख्या में हमने वाचस्पति का ही अनुसरण किया है ।
2. यत्रशुक्तिकादौ यस्य रजतादेरध्यासस्तस्यैव शुक्तिकादेर्विपरीतधर्मकल्पनां रजतत्व-धर्मकल्पनामितियोजना-भामती—30 ।
3. न्यायमकरन्द, पृ० 81, 82
4. न्यायमतानुसार किसी भी सविकल्पकज्ञान में ये तीन भाग होते हैं विशेष्य, विशेषण (प्रकार), संसर्ग (सम्बन्ध) जैसे 'घटवत् भूतलम्' इसमें भूतलविशेष्य, घट विशेषण या प्रकार और दोनों में जो संयोग सम्बन्ध है, वह संसर्ग है ।

अनुभव होता है,[1] ऐन्द्रियक प्रत्यक्ष के लिए इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष आवश्यक होता है, जैसे 'घट को देखता हूँ' में घट के साथ चक्षु का संयोग सन्निकर्ष होता है, तभी घट का प्रत्यक्षज्ञान होता है। इसी प्रकार यदि शुक्तिरजत प्रत्यक्ष होता है तो उसमें भी इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष आवश्यक होगा, परन्तु उक्त स्थान में रजत के साथ इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष तो है नहीं, क्योंकि रजत सामने नहीं है, फिर रजत का प्रत्यक्ष कैसे होता है ? इसके समाधान में नैयायिकों ने ज्ञानलक्षणानामक अलौकिक सन्निकर्ष की बात कही है। नैयायिक भी यह बात स्वीकार करते हैं कि प्रत्यक्ष के लिए सन्निकर्ष आवश्यक है। शुक्तिरजत प्रत्यक्ष में लौकिक अन्य सन्निकर्ष संभव नहीं है, अतः इस समस्या का समाधान ज्ञानलक्षण सन्निकर्ष से ही संभव है। भ्रमस्थल में भ्रम उसी को होता है जिसने पहले उस पदार्थ को देखा हो। देखी हुई वस्तु संस्कार के रूप में आत्मा में होती है। जब तत्सदृश कोई वस्तु सामने दीखती है और उसका विशेष धर्मसहित ज्ञान नहीं हो पाता, किन्तु सामान्य ज्ञान हो पाता है, उस समय में आत्मा में स्थित संस्कारों के उद्‌बुद्ध होने के कारण पूर्वदृष्ट वस्तु की स्मृति होती है। वह स्मृति ही ज्ञान है। पूर्व-दृष्ट वर्तमान में स्मर्यमाण वस्तु का स्मृतिरूप एक प्रकार सम्बन्ध मन के साथ होता है। उसके बाद उस सम्बन्धयुक्त मन के साथ चक्षु आदि इन्द्रियों का सम्बन्ध होता है। इस प्रकार स्मर्यमाण वस्तु के साथ इन्द्रिय का एक परम्परा सम्बन्ध होता है। इसको न्याय की भाषा में, 'स्वसंयुक्त मनोजन्यस्मृतिविषयत्वरूप सम्बन्ध' कहा जाता है। ज्ञान-लक्षणासन्निकर्ष द्वारा पूर्वोक्त प्रकार से, 'इदं रजतम्' में भी 'सुरभिचन्दनम्' के ज्ञान के समान स्मर्यमाण रजत संयुक्त मन और मन से संयुक्त चक्षु इन्द्रिय से रजत का प्रत्यक्ष हो जाता है।[2] इस विशिष्ट-ज्ञान का विशेष्य 'इदम्' और विशेषण, 'रजतम्' तथा दोनों के सम्बन्ध को वैशिष्ट्य एवं उक्त ज्ञान को विशिष्टज्ञान कहा जाता है, अर्थात् 'इदं रजतम्' में रजतप्रकारक इदंविशेष्यक विशिष्टज्ञान है। यह विपर्यय इसलिए है क्योंकि इस ज्ञान में प्रमाज्ञान का लक्षण नहीं घटता। प्रमा यथार्थ ज्ञान को कहा गया है। यथार्थ ज्ञान का अर्थ है 'तद्‌वतितत्प्रकारक ज्ञान', अर्थात् यथार्थ रजत में 'इदं रजतम्' का ज्ञान, क्योंकि इसमें रजत विशेष्य में रजतत्ववाला रजत का ज्ञान होता है, किन्तु भ्रमस्थल में रजताभाववति शुक्ति में रजतत्ववाला ज्ञान होता है; इसलिए यह भ्रम है। 'तदभाव-वति तत्प्रकारक ज्ञान' को अयथार्थ या भ्रम ज्ञान कहा है।[3]

प्रमाज्ञान होने के लिए शुक्ति में शुक्तित्वप्रकारक ज्ञान होना चाहिए, अतः रजताभावस्थल शुक्ति में रजतत्वप्रकारक ज्ञान विपर्यय या मिथ्याज्ञान है। उक्त प्रकार ज्ञानलक्षणा सन्निकर्ष से जब भ्रमस्थल में 'इदं रजतम्' इस प्रकार रजत का प्रत्यक्ष होता है, तब पूर्वानुभूत रजत में इष्टसाधनता का स्मरण हो आता है, अर्थात् रजत जो काम की वस्तु है, स्मरण हो आता है। साथ में इदं में अभिन्नरूप से दृष्टरजत का भी

1. वेदान्ततत्वविवेक, पृ० 90, नृसिंहाश्रम, नारायण शास्त्री सम्पा० मैसूर, 1955
2. अद्वैतसिद्धान्तविद्योतन टीका, पृ० 1
3. तर्कसंग्रह, पृ० 15, 16, अन्नंभट्ट, मुरादाबाद, सं० 1907

इष्टसाधनत्व अनुमित होता है। अनुमान का रूप होगा—

1. रजत द्वारा संपादन करने योग्य कार्य सम्मुख में उपस्थित वस्तु से भी हो सकता है (प्रतिज्ञा)।

2. क्योंकि सम्मुख में उपस्थित वस्तु में भी रजत का कारण रजतत्त्व है (हेतु)।

3. जिसमें भी रजत का धर्म रजतत्त्व होता है, वही रजत द्वारा संपादन योग्य कार्यसंपादन में समर्थ होता है। जिस प्रकार मेरे हाथ में स्थित रजत (दृष्टान्त)।

4. इस रजत में भी रजतत्त्व है (उपनय)।

5. अतः सम्मुखस्थ वस्तु रजत का प्रयोजनसंपादनसमर्थ है, इसमें सन्देह नहीं (निगमन)।

इससे यह सिद्ध हुआ कि रजतार्थी व्यक्ति को जो पुरोवर्ती विषयकज्ञान होता है, वह रजतज्ञान से पृथक्ज्ञान नहीं है, अपितु वह ज्ञान पुरोवर्ती द्रव्याभिन्नतया रजतविषयक होता है। इस बात को अन्यथाख्यातिवादी एक अनुमान के द्वारा सिद्ध करते हैं। न्याय-मकरन्द में आनन्द बोध ने जो अनुमान नैयायिकों की ओर से प्रस्तुत किया है, उसका रूप निम्न प्रकार है :

भ्रमस्थलीय रजतज्ञान पुरोवर्ती वस्तु विषयक है (प्रतिज्ञा)।

क्योंकि यह रजतार्थी व्यक्ति को नियमित रूप से इसके ग्रहण में प्रवृत्त कराता है (हेतु)।

जो ज्ञान जिस व्यक्ति को जिस विषय में नियमतः प्रवृत्त कराता है, वह तद्वस्तु विषयक होता है—जैसे उभयवादीसिद्ध यथार्थ रजतज्ञान। यह भी वैसा ही है (उपनय)।

अतः भ्रमस्थलीय रजतज्ञान पुरोवर्ती वस्तु विषयक है (निगमन)।[1]

अन्यथा ख्याति खण्डन

अद्वैत वेदान्तियों ने न्याय के अन्यथाख्यातिवाद को स्वीकार नहीं किया है। भामती प्रस्थान एवं विवरणप्रस्थान दोनों में युक्तितर्कों से अन्यथाख्याति का खण्डन किया गया है। अद्वैतवादियों ने न्याय के अलौकिक सन्निकर्ष को खण्डन का केन्द्रबिन्दु बनाया और पूर्ण शक्ति के साथ उसका प्रत्याख्यान किया है।[2] विवरणकार ने अन्यथा-ख्याति में अन्यथात्व क्या है? प्रश्न उठाया है। उन्होंने अन्यथा के तीन सम्भावित

---

1. विवादपदं रजताकारेणावभासते तदर्थिनो नियमेन प्रवृतिविषयत्वाद् यदित्थं तत्तथा यथोभयवाद्यविवादस्पदं रजतम्। न्यायमकरन्द, पृ० 83, 84

2. इष्टसिद्धिकार ने इष्टसिद्धि के तृतीय और पंचम अध्याय में और ब्रह्मानन्द सरस्वती ने अद्वैतसिद्धान्तविद्योतन में अन्यथाख्यातिवाद का विस्तार रूप से प्रत्याख्यान किया है।

विकल्प किये हैं --ज्ञान में अन्यथात्व, ज्ञान की फलप्रकटता में अन्यथात्व या ज्ञानविषय का अन्यथात्व ?[1] प्रथम पक्ष में ज्ञान रजताकार का ज्ञान है। उसके अन्यथात्व का अर्थ है आलम्बन दूसरा हो—अर्थात् रजतज्ञान या आलम्बन शुक्ति हो, ऐसा सम्भव नहीं है, क्योंकि अन्याकार ज्ञान का अन्य आलम्बन नहीं बन सकता; जिस प्रकार का ज्ञान होता है, वही ज्ञान का आलम्बन भी होता है।[2]

इसी प्रकार फल में अन्यथात्व भी नहीं बन सकता, क्योंकि स्फुरण ही यहाँ पर फल है और वह वस्तुनिष्ठ होता है, अतः रजतज्ञान के स्फुरणरूप फल में रजत को ही होना चाहिए। ज्ञान विषय या वस्तु में अन्यथात्व मानने पर देशान्तरीय रजत जो कि शुक्तिवस्तु में अन्यथाभाव को प्राप्त करता है, उसमें क्या कारण है पूछा जाएगा। देशान्तरीय रजत और शुक्ति दोनों अत्यन्त भिन्न पदार्थ हैं फिर भी देशान्तरीय रजत शुक्ति में किस सम्बन्ध में भासता है ? इन समस्याओं का समीचीन समाधान अन्यथा-ख्यातिवादी के पास नहीं है, अतः विवरणकार के अनुसार अनिर्वचनीय ही रजत शुक्ति-रजतभ्रम में स्वीकार कर लेना चाहिए।[3]

अद्वैतवादियों का कहना है कि विश्लेषण करने पर बोध द्वारा अन्यथाख्यातिवाद सिद्ध नहीं होता, क्योंकि भ्रमस्थल में उक्त रजतज्ञान परोक्ष नहीं है यह पूर्व ही कहा गया है। उक्त स्थल में रजत का चक्षु द्वारा साक्षात्कार होता है और इसी कारण उसे देशान्तरीय रजत का ज्ञान नहीं कहा जा सकता, क्योंकि नेत्र द्वारा व्यवहित वस्तु का प्रत्यक्ष ज्ञान सम्भव नहीं है।[4] विशेषण एवं विशेष्य इन दोनों के सन्निकर्ष बिना विशिष्ट का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। विशेष्य के साथ सन्निकर्ष एवं विशेषणज्ञान दोनों के विशिष्टज्ञान की सामग्री रहने पर भी विशेषण के साथ इन्द्रिय संप्रयोग के अभाव में विशिष्टज्ञान मानने पर दण्डहीन पुरुष में भी 'दण्डी' इस प्रकार का विशिष्ट प्रत्यक्षज्ञान होने लगेगा[5], ऐसा होता नहीं है, क्योंकि पूर्वकाल में दण्डविशिष्ट को देखने पर इस समय दण्डहीन पुरुष में 'दण्डी' है ऐसा ज्ञान नहीं होता। इस समय 'दण्डी' ज्ञान के लिए दण्ड विशेषण भी इस समय में पुरुष के साथ ही इन्द्रिय का विषय होना चाहिए, तभी 'दण्डी' यह साक्षात्कार हो सकता है।[6] इसी प्रकार शुक्ति में देशान्तरीय रजत के

---

1. केयमन्यथाख्यातिः ? अन्याकारं ज्ञानमन्यालम्बनं वा,
   वस्तुनो वस्त्वन्तरात्मनावमासो वा, अन्यथा परिणते वस्तुनि ज्ञानं वा ?
   पंचपादिकाविवरण, पृ० 144। (मद्रास 1958)
2. वही, पृ० 144। (मद्रास 1958)
3. पं० विवरण, पृ० 146 से 150। (मद्रास 1958)
4. देशान्तरीयरजतस्य क्लृप्तस्यैव तद्विषयत्वसंभवात् इतिचेत्
   न तस्यासन्निकृष्टतया प्रत्यक्षविषयत्वायोगात्, वेदान्तपरिभाषा, पृ० 54
5. न हि विशेषणसंप्रयोगं बिना विशिष्टप्रत्यक्षं सभवति-विवरणभावप्रकाशिका, पृ० 142, मद्रास, 1958
6. वेदान्ततत्वविवेक पूरणी टीका, पृ० 94

प्रत्यक्ष होने के लिए देशान्तरीय के साथ इन्द्रियसंप्रयोग अवश्य आवश्यक ह ा। ऐसा देशान्तरीय रजत के साथ सम्भव नहीं है, अतः अनिर्वचनीयरजतोत्पत्ति स्वीकार करनी पड़ेगी।

अद्वैतवादियों का कहना है कि वादी नैयायिक के अनुरोध से 'सुरभिचन्दनम्' इस ज्ञान में अलौकिक प्रत्यक्ष के समान 'इदं रजतम्' भ्रम की व्याख्या उक्त ज्ञान-लक्षणों से नहीं हो सकती,[1] क्योंकि ज्ञानलक्षणा का उक्त दृष्टान्त समीचीन नहीं है। उक्त 'सुरभिचन्दनम्' दृष्टान्त में भी अद्वैतवादी ज्ञानलक्षणा स्वीकार नहीं करते, क्योंकि 'सुरभि' नासिका का विषय है। वह चाक्षुष नहीं हो सकती (चन्दन चाक्षुष है)। सुरभि विशेषण के साथ चाक्षुषता न होने के कारण उसका अनुमान होता है, कभी किसी समय में चन्दन को उठाकर सूँघा गया है और दूसरे समय में जब चन्दन को देखते हैं तो 'सुगन्धि चन्दम्' यह अनुमित होता है। यदि यहाँ पर ज्ञान लक्षणासन्निकर्ष माना जायेगा तो अनुमान का उच्छेद हो जायेगा।[2] 'पर्वतो वह्निमान्' यह अनुमितिज्ञान अनुमान द्वारा होता है। हेतु के साथ साध्य की व्याप्ति के स्मरण से अथवा साध्यव्याप्ति के उद्बुद्ध संस्कार से अनुमितिज्ञान होता है। साध्य की व्याप्ति के स्मरण होने पर व्याप्ति निरूपक साध्य की भी स्मृति होती है, अतः यहाँ पर अनुमिति सामग्री व्याप्तिज्ञान एवं प्रत्यक्ष सामग्री वह्नि के पूर्वानुभवजन्य स्मृतिरूप ज्ञानलक्षणा सन्निकर्ष ये दोनों विद्यमान हैं, अतः वह्नि की अनुमिति न होकर प्रत्यक्ष होना चाहिए। पर्वत के साथ नैत्रसंयोग और वह्निस्मृति के कारण 'पर्वतो वह्निमान्' एवं प्रकार प्रत्यक्षज्ञान होना चाहिए। जहाँ पर एक ही विषय में अनुमिति सामग्री एवं प्रत्यक्ष सामग्री, दोनों हैं, वहाँ पर उस विषय का अनुमान न होकर प्रत्यक्ष होता है, क्योंकि प्रत्यक्ष सामग्री अनुमिति सामग्री से बलवती होती है,[3] और सर्वत्र अनुमिति में पक्षादि कुछ भाग का प्रत्यक्ष होता ही है। स्मृतांश को यदि ज्ञानलक्षणा द्वारा इस प्रकार प्रत्यक्ष मान लिया जाए तब कहीं भी अनुमान को अवकाश नहीं मिलेगा। इस प्रकार न्याय के अनुसार अनुमान-प्रमाण स्वीकार अकारणक होगा। इस पर यदि अन्यथाख्यातिवादी कहे कि प्रत्यक्षज्ञान की विषयता से अनुमिति ज्ञान की विषयता विलक्षण है, क्योंकि प्रत्यक्ष विषय में परिमाणादि का सन्देह नहीं होता, अनुमिति के विषय में परिमाणादि का सन्देह होता है। प्रत्यक्ष ज्ञान अपरोक्षताज्ञान है, अनुमिति ज्ञान परोक्षता का ज्ञान है। दोनों में अपरोक्ष ज्ञान का सम्पादक प्रत्यक्ष एवं परोक्षज्ञान का सम्पादक अनुमान है। इस पर अद्वैतवादियों का समाधान यह है कि लौकिक प्रत्यक्ष की विषयता अनुमिति से विलक्षण अवश्य है, किन्तु 'सुगन्धि चन्दनम्' इत्यादि ज्ञान सुगन्धादि अंश में अलौकिक है, अतः उसका ज्ञान

---

1. न च ज्ञानं संस्कारोवा प्रत्यासत्तिरिति वाच्यम्। वेदान्ततत्वविवेक, पृ० 93
2. पर्वतादौ विशेषणेन्द्रियसन्निकर्षातिरिक्तवह्निविशिष्टप्रत्यक्षसामग्र्यास्सत्वेनानुमित्यनुत्पादप्रसंगात्। पं० विवरणभावप्रकाशिका, पृ० 142 (मद्रास 1958)
3. समानेविषयेप्रत्यक्षसामग्र्यी बलवत्वात् पं० विवरण भा०, पृ० 142 (मद्रास 1958)

अनुमिति के समान है। जिस प्रकार अनुमिति के ज्ञान में उत्कर्षादि भी अनिर्णीत होते हैं, उसी प्रकार सुगन्ध के भी उत्कर्षादि अनिर्णीत होते हैं। 'सुगन्धिचन्दनम्' में ज्ञान-लक्षणा द्वारा सुगन्ध सहित चन्दन का प्रत्यक्ष मानने पर भी सुगन्ध चन्दन में कियत्-परिमाण है? उक्त प्रकार प्रत्यक्ष से नहीं कहा जा सकता, अतः दोनों की विषयता में अन्तर नहीं है, अतः अनुमान का निष्फल होना निश्चित है। इसी प्रकार जहाँ पर पुरुष में 'पुरुषो नवा' एवं प्रकार सन्देह होता है एवं 'पुरुषत्व व्याप्यकरादिवानयम्' इस प्रकार परामर्शज्ञान होता है, और पुरुष के साथ नेत्रसंयोग भी है, अतः उक्त स्थल में अनुमान-सामग्री परामर्श एवं प्रत्यक्षसामग्री पुरुषसहित नेत्रसंयोग दोनों हैं, परन्तु यहाँ पर अनुमिति न होकर प्रत्यक्षज्ञान ही होता है, अतः एक स्थान में दो ज्ञानों की सामग्री रहने पर प्रत्यक्ष सामग्री के प्रबल होने से 'पर्वतो वह्निमान्' में भी अनुमिति सामग्री के विद्य-मान रहते हुए भी अलौकिक सम्बन्धरूप सामग्री द्वारा वह्नि का प्रत्यक्ष ही होगा;[1] अतएव ज्ञान लक्षणा अलौकिक सम्बन्ध से प्रत्यक्षज्ञानोत्पति स्वीकार करने पर अनुमानप्रमाण की व्यर्थता निश्चित है।

यहाँ पर नैयायिकों का कहना है कि यद्यपि भिन्न विषय स्थल में प्रत्यक्ष सामग्री अपेक्षा अनुमान सामग्री प्रबल है और समान विषय स्थल में अनुमिति सामग्री अपेक्षा प्रत्यक्षसामग्री प्रबल है, तथापि समान विषय स्थलों में लौकिक प्रत्यक्ष सामग्री अनुमिति सामग्री अपेक्षा प्रबल होने पर भी अलौकिक प्रत्यक्ष सामग्री अनुमिति सामग्री अपेक्षा सर्वथा दुर्बल है; अतएव पर्वत में अनुमिति सामग्री द्वारा अलौकिक सामग्री के बाध होने पर अनुमान प्रमाण की प्रवृत्ति सम्भव होने के कारण उसके व्यर्थत्व का प्रश्न नहीं उठता। इस पर अद्वैतवादियों का कहना है कि न्याय का यह पक्ष भी समीचीन नहीं है, क्योंकि ऐसा होने पर जहाँ स्थाणु में 'स्थाणुर्वा' एवं प्रकारक सन्देहानन्तर 'पुरुषत्व-व्याप्यकरादिमानयम्' इस प्रकार भ्रम होता है और 'पुरुष एवायम्' इस प्रकार भ्रम-प्रत्यक्ष होता है, वहां पर न्याय के अनुसार अनुमिति होनी चाहिए न कि प्रत्यक्ष, क्योंकि उक्तस्थल में स्थाणु में पुरुषत्व का प्रत्यक्ष होने के कारण यद्यपि भ्रमप्रत्यक्ष और भ्रमप्रत्यक्ष की अलौकिक सामग्री भी उनके मत में हैं, तथापि अनुमिति सामग्री अपेक्षा अलौकिक प्रत्यक्ष सामग्री को दुर्बल मानने पर उक्त स्थल में अनुमिति होनी चाहिए और यदि उक्तस्थल में पुरुषभ्रम अनुमितिरूप स्वीकृत हो जाय तब उत्तरकाल में 'पुरुषं साक्षात्करोमि' इस प्रकार का जो अनुव्यवसाय होता है वह नहीं होना चाहिए। 'पुरुषं अनुमिनोमि' ऐसा अनुव्यवसाय होना चाहिए, अतः मानना होगा कि उक्तस्थल में भी लौकिकप्रत्यक्ष सामग्री के समान ही अलौकिकप्रत्यक्ष सामग्री भी अनुमिति सामग्री अपेक्षा प्रबल है। इस प्रकार अनुमिति स्थल में भी ज्ञानलक्षणा सन्निकर्ष द्वारा प्रत्यक्षोत्पत्ति होने पर अनुमान प्रमाण निष्फल होना निश्चित है।

पुनश्च अद्वैतवादियों का कहना है कि 'इदं रजतम्' में ज्ञान प्रत्यासत्ति द्वारा

---

1. भ्रमरूपविशेषदर्शनात् पुरुषत्वादि भ्रम इव पर्वते भ्रमरूपपरामर्शानन्तरं चाक्षुषवह्नि-भ्रमप्रसंगाच्च। पं० विवरण भावप्रकाशिका, पृ० 142 (मद्रास 1958)

रजत का प्रत्यक्ष सम्भव नहीं, क्योंकि उक्तस्थल के रजत का दर्शन उक्त स्थल में ही सर्वप्रथम हुआ है। इससे पूर्व उक्त शुक्तिरजत को देखा नहीं गया, अतः पूर्व अननुभूत वस्तु का स्मरण नहीं हो सकता। स्मरण न होने पर ज्ञान प्रत्यासत्ति असम्भव है। जो वस्तु जिस अवच्छेद से अनुभूत होती है, वह उस अवच्छेद से ज्ञानप्रत्यासत्तिरूप होगी।[1]

ज्ञानलक्षणा द्वारा भ्रान्तिज्ञान की व्याख्या सम्भव नहीं है, क्योंकि उससे प्रत्यक्ष होने के बाद जो अनुव्यवसाय होता है, उससे यह ज्ञात हो जाता है कि उक्तस्थल में सुरभि के प्रत्यक्ष के लिए इन्द्रिय का उल्लेख नहीं होता, अर्थात् 'चक्षु द्वारा सुरभि को देख रहा हूं', ऐसा ज्ञान नहीं होता, अपितु सामान्य ज्ञान होता है, सुरभि को जान रहा हूं, इस प्रकार। यह बात न्याय को भी स्वीकार है। यदि ज्ञान लक्षणा द्वारा प्रत्यक्ष के अनुव्यवसाय का रूप सामान्य है तब इससे 'इदं रजतम्' की व्याख्या कैसे सम्भव है? क्योंकि शुक्तिरजत भ्रम में रजत को चक्षु द्वारा प्रत्यक्ष कर रहा हूं, ऐसा अनुव्यवसाय होता है। न्यायमत के अनुसार 'रजत को जान रहा हूँ', ऐसा अनुव्यवसाय होना चाहिए, अतः रजत की चक्षुर्ग्राह्यता की सिद्धि के लिए अनिर्वचनीय रजतोत्पत्ति स्वीकार करनी पड़ेगी, और दोष को भी प्रत्यासत्ति नहीं कह सकते, क्योंकि विशेषण रजतांश में उसकी हेतुता नहीं है, वह यथार्थ है।[2] प्रवृत्ति द्वारा भी अन्यथाख्याति की सिद्धि नहीं हो सकती। अन्यथाख्यातिवाद में देशान्तर में स्थित रजत के लिए देशान्तर में प्रवृत्ति होनी चाहिए, किन्तु प्रवृत्ति शुक्तिदेश में होती है, अतः शुक्ति में अनिर्वचनीय रजतोत्पत्ति स्वीकार किये बिना उपाय नहीं है। यदि नैयायिक यह कहें कि रजत-ज्ञान का विषय शुक्ति है तो यह समीचीन नहीं है, क्योंकि अन्याकार ज्ञान अन्यालम्बनज्ञानविरुद्ध है। ज्ञान हो रहा है रजत का और उसका आलम्बन शुक्ति नहीं हो सकती।[3] इसी प्रकार बाधबुद्धि द्वारा भी अन्यथाख्याति सिद्ध नहीं हो सकती। शुक्ति रजत ज्ञान के पश्चात् 'यह रजत नहीं' इस प्रकार बाधबुद्धि होती है। 'इदं रजतम्' इस निषेध ज्ञान द्वारा ज्ञात होता है कि इस निषेध के पूर्व रजत का आरोप हुआ था। यदि संसर्ग का आरोप होता तो 'यहाँ रजतत्व नहीं' ऐसा बाध होता, परन्तु 'रजत नहीं है' ऐसा बाध होता है। इससे सिद्ध होता है कि रजततादात्म्यप्रतीति होती है और उसी का बाध होता है। बाध के लिए यहाँ पर अनिर्वचनीय रजतोत्पत्ति माननी पड़ेगी। नैयायिकों द्वारा प्रस्तुत अनुमान 'विवादपदं रजतम्' इत्यादि में न्यायमकरन्दकार ने सिद्धसाधनता दोष दिया है, क्योंकि इदंकारास्पदअनिर्वाच्य रजतावभास तो सामने अद्वैतवादी को भी अभीष्ट है।[4] यदि

---

1. वेदान्ततत्वविवेक दीपन, पृ० 96, 98 नारायण शास्त्री सं०, मैसूर
2. दोषोऽपि न रजतांशज्ञाने हेतुः तस्ययथार्थत्वात् यथार्थज्ञाने दोषस्याहेतुत्वात्। पं० वि० भा० प्रकाशिका, पृ० 143, 144 (मद्रास 1958)
3. अन्याकारज्ञानस्यान्यालम्बनत्वे संविदविरोधात्। वेदान्ततत्वविवेक, पृ० 102
4. इदंकारास्पदस्यानिर्वाच्यरजततावभासगोचरभानाभ्युपगमात् सिद्धसाधनम्। न्याय-मकरन्द, पृ० 98

रजत को इदं में अविद्यमान माना गया तब तो उक्त अनुमान का दृष्टान्त साध्यविकल है। इस प्रकार अद्वैतवादियों ने अन्यथाख्याति खण्डन करके अनिर्वचनीय ख्याति की स्थापना की है।

न्यायदर्शन आत्मा, अनात्मा दोनों पदार्थों को सत्य मानता है, इसी कारण नैयायिकों ने भ्रमस्थल में अन्यथाख्याति स्वीकार की है। न्याय के अनुसार भ्रमस्थल के अधिष्ठान एवं आरोप्य दोनों सत्य हैं। भ्रममात्र संसर्गविषयक है। अन्यत्र स्थित वस्तु को अन्यत्र जानना ही भ्रम है। भ्रमस्थल में ज्ञानलक्षणा की कल्पना से भी भ्रान्त व्यक्ति के रजतदर्शन की व्याख्या नहीं हो सकती, क्योंकि ज्ञानलक्षणा एक अलौकिक अप्रसिद्ध सन्निकर्ष है। इससे इन्द्रिय के साथ स्मृत वस्तु के दर्शन की बात अनुभवविरुद्ध है। अनुभव विरोधी बातें किसी भी दर्शन में स्वीकृत नहीं हैं। यदि हुई भी हैं तो उनकी अनुभव के साथ संगति बैठाने का प्रयास किया गया है।

आचार्य शंकर ने भ्रमस्थल में अन्य मतों का उल्लेख करके उन सभी मतों में अन्य की 'अन्यधर्मावभासता व्यभिचरित नहीं है', यह सिद्ध किया है,[1] अर्थात् कुछ दार्शनिकों ने अन्य की अन्य में अवभासता को स्वसिद्धान्तों में स्वीकार किया ही है, जैसाकि बौद्धविज्ञानवादी और शून्यवादी भ्रम को अन्य की अन्य में अवभासता के रूप में ही स्वीकार करते हैं, क्योंकि शून्यवाद में असत् शुक्ति में असत् रजत की ख्याति एवं विज्ञानवाद में अवस्तुशुक्ति में आत्मवस्तु या विज्ञान की ख्याति ही अन्य की अन्य में अवभासता है। अवभास का बाध हुआ करता है, अतः ख्याति और बाध द्वारा अनिर्वचनीय वस्तु की स्थिति को स्वीकार करना ही पड़ेगा। इसी प्रकार न्याय में देशान्तरीय वस्तु की ख्याति असम्भव होने के कारण प्रातीतिक वस्तु स्वीकार करनी पड़ेगी, अन्यथा भ्रम ही सम्भव नहीं होगा। मीमांसक प्रभाकर के मत में यद्यपि भ्रम स्वीकृत नहीं है, तथापि युक्ति द्वारा पराहत होकर उन्हें भी स्वीकार करना ही होगा।

भ्रमस्थलीय वस्तुस्वरूप एवं ज्ञान की व्याख्या करने के लिए पूर्वोक्त पंचख्याति-वादों के अतिरिक्त विज्ञानभिक्षु आदि सांख्याचार्य सदसद्ख्याति, रामानुज एवं निम्बार्क सत्ख्याति स्वीकार करते हैं।

---

1. सर्वथाऽपि तु अन्यस्य अन्यधर्मावभासतां न व्यभिचरति, ब्र० शां० भाष्यभूमिका, पृ० 32

6

जगत्, जगत्सृष्टि और मिथ्यात्व

विवर्तवाद—अज्ञान के कारण जिस प्रकार रस्सी में सर्प का भ्रम होता है, उसी प्रकार अविद्या के कारण ब्रह्म में मिथ्या प्रपंच का भ्रम होता है। जिस प्रकार रस्सी में दृष्ट सर्प का उपादान रस्सी है, उसी प्रकार ब्रह्म भी सर्वाधिष्ठानरूप से मिथ्या प्रपंच का आश्रय है। जिस प्रकार सर्पभ्रम के कारण रस्सी में किसी भी प्रकार विकृति नहीं आती, उसी प्रकार ब्रह्म भी प्रपंचभ्रम के कारण विकृत नहीं होता। वह सच्चिदानन्दरूप से अविकृत होता हुआ भी प्रपंच का 'विवर्तोपादान' बनता है। परब्रह्म जगत् का परिणामी कारण नहीं है, क्योंकि श्रुति ब्रह्म को निर्विकाररूप से प्रतिपादित करती है। विवर्तवाद के अनुसार सम्पूर्ण विश्व मायाकल्पित और मिथ्या है। अद्वैतवेदान्त में सद्सदनिर्वचनीय को मिथ्या कहा जाता है।[1] कार्यजगत् सद् ब्रह्म का विवर्त है, परिणाम नहीं। विवर्त और परिणाम के लक्षण आचार्यों ने भिन्न-भिन्न रूप से दिए हैं—'वस्तुनस्तत्समसत्ता को अन्यथाभावः परिणामः, तदसमसत्ता को विवर्त इति वा, कारणसलक्षणोअन्यथाभावः परिणामः तद्विलक्षणो विवर्त इति वा, कारणभिन्नं कार्यं परिणामः, तदभेदं विनैव तदव्यतिरेकेण दुर्वचं कार्यं विवर्त इति वा।'[2] इसी प्रकार वेदान्त परिभाषा में भी परिणाम और विवर्त के लक्षण दिये गये हैं—'परिणामो नाम उपादान समसत्ताककार्यापत्तिः, विवर्तो नाम उपादानविषमसत्ताककार्यापत्तिः।'[3] उपादानसमानजातीय कार्य को विवर्त और उपादानविषमजातीय कार्य को परिणाम कहते हैं, जैसे दही दूध का परिणाम है और शुक्तिरजत शुक्ति का विवर्त है। विवर्तभूत कार्य प्रपंच को अनिर्वाच्य भी कहा जाता है। इसी कारण विवर्तवाद को अनिर्वाच्यवाद और मायावाद भी कहा जाता है।

---

1. सदसद्विक्षणत्वम् मिथ्यात्वम्-पंचपादिका, पृ० 88
2. सिद्धान्तलेशसंग्रह, प्रथम परिच्छेद।
3. वेदान्तपरिभाषा, प्रत्यक्ष परिच्छेद।

ब्रह्म इस निखिल प्रपंच का उपादान कारण है, 'जन्माद्यस्य यतः'[1] इस सूत्र से यह समझा जा सकता है। 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' इत्यादि श्रुति से भी ब्रह्म के उपादानत्व का बोधन होता है। पूर्वोक्त सूत्र में 'यतः' पद से कारण का ही निर्देश किया गया है। श्रुति में यतः पद उपादान का बोधक ही है, 'यत इति कारण निदेशः'[2]। 'तत्तु-समन्वयात्' इस सूत्र में भी ब्रह्म को उपादान सिद्ध किया गया है। जीव-जगत् सभी का समन्वय अन्त में ब्रह्म में ही होता है। अतः ब्रह्म सभी का उपादान कारण है। इस अर्थ में ब्रह्म सभी का उपादान ही नहीं, अपितु निमित्त कारण भी है। क्योंकि घटादिकों के समान प्रपंच का अन्य कोई निमित्ति कारण नहीं है। मायाधीश ब्रह्म अर्थात् परमेश्वर ही निमित्त कारण है और अधिष्ठानरूप से वही ब्रह्म उपादान कारण भी है। यह 'प्रकृतिश्च प्रतिज्ञा दृष्टान्तानुपरोधात्' इस सूत्र के भाष्य से भी समर्थित है—'प्रकृतिश्च उपादान-कारणं च ब्रह्म अभ्युपगन्तव्यं निमित्तमारणं च, न केवलं निमित्तकारणमेव'।[3] 'सईक्षां चक्रे'—उसने ईक्षणा की, 'स प्राणमसृजत' उसने प्राणों की सृष्टि की—इन श्रुतियों में ईक्षणापूर्वक सृष्टि का कथन है। इससे सिद्ध होता है कि जिस प्रकार कुम्भ-कार घट के निर्माण में ज्ञानरूप सामग्रीवान् होता है और वह घट का निमित्त कारण भी है, उसी प्रकार ब्रह्म भी ईक्षणापूर्वक सृष्टिकर्ता होने से निमित्त कारण है, परन्तु घट निर्माता कुम्भकार घट का उपादान कारण नहीं है। वहाँ पर उपादान भिन्न है। प्रकृत-स्थल में ब्रह्म प्रपंच का निमित्त भी और उपादान भी है। श्रुति कहती है—एकं विज्ञाते सति सर्वं विज्ञातं भवति—अर्थात् एक को जान लेने पर सभी को जान लेना हो जाता है। जिस प्रकार एक मिट्टी को जान लेने से कारणरूप से सभी घटों को जान लेना हो जाता है, क्योंकि सभी घट कारण रूप से मिट्टी से अभिन्न हैं, जिस प्रकार एक सुवर्ण को जान लेने से सभी सुवर्णमय आभूषणों को जान लेना हो जाता है, उसी प्रकार एक उपादान-रूप ब्रह्म को जान लेने से सम्पूर्ण कार्यरूप विश्व को जान लेना हो जाता है। विश्व प्रपंच ब्रह्म से पृथक् नहीं है। पूर्वोक्त युक्तियों से ब्रह्म प्रपंच का कारण सिद्ध होता है, वह भी अपरिणामी रूप से। इस प्रकार अद्वैत के अनुसार ब्रह्म अपरिणामी उपादान कारण है और मायाधीश के रूप में निमित्त भी।

अद्वैतवेदान्त का यह विवर्तवाद सांख्यदर्शन अभिमत सत्कार्यवाद से विलक्षण होता हुआ भी कुछ अंश में समान है। अद्वैत मत में विश्व प्रपंच सत् ब्रह्म का विवर्त है, साथ में अनिर्वाच्य माया का परिणाम भी। सांख्य के अनुसार विश्व प्रपंच त्रिगुणात्मिका प्रकृति का परिणाम है। किन्तु सांख्य के अनुसार कार्यरूप प्रपंच सत्य है। अद्वैत के अनुसार विश्व का उपादान माया अनिर्वाच्य है, इसलिए माया का परिणाम विश्व प्रपंच भी सदसद्रूपेणअनिर्वाच्य, अतएव मिथ्या है। सांख्य का यह कथन कि कार्य मात्र ही कारण का अवस्थाविशेष है, अद्वैतवादी को स्वीकार्य नहीं है। सांख्यदर्शन कार्य और

---

1. ब्रह्मसूत्र, पृ० 1।1।2
2. वही
3. ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य, पृ० 1।4।27

कारण में अभेद सम्बन्ध मानता है। विवर्तवादी के अनुसार कार्यरूप प्रपंच अविद्याकार्य होने के कारण सत्वरजस्तमोगुणात्मक, अतएव अविशुद्ध है। कारणरूप ब्रह्म गुणातीत अतिशुद्ध अपापबिद्ध है। कार्य ससीम और कारण असीम अखण्ड हैं। दोनों में अभेद नहीं हो सकता। कार्य मिथ्या माया का परिणाम है। माया के धर्म शुद्धब्रह्म को स्पर्श नहीं करते। अद्वैतवादियों ने आरम्भवादी न्याय-वैशेषिकों द्वारा स्वीकृत असत् कार्यवाद को भी स्वीकार नहीं किया, क्योंकि आरम्भवाद के अनुसार कार्य नवीन आरम्भ होता है। अद्वैतवादी कार्य को कारण से 'अनन्य' मानते हैं। न्याय के कार्य कारणवाद के अनुसार कार्य कारण से पूर्णतया भिन्न होता है। सांख्य के कार्य-कारणवाद के अनुसार कार्य-कारण के ही समान स्तर का होता है। इसीलिए उक्त दोनों सिद्धान्तों के अनुसार कार्य-कारण की समीचीन व्याख्या नहीं हो सकती। क्योंकि कार्य और कारण को भिन्न-भिन्न मानने पर एक को जानने पर कार्यमात्र को जानना हो जाता है, इस प्रतिज्ञा का उपपादन नहीं हो सकता। इसी कारण अद्वैतवादियों ने कार्य को कारणसत्ता में अनुप्राणित माना है। 'अनन्य' का अर्थ अनतिरिक्त है। कार्य प्रपंच कारण ब्रह्म से अतिरिक्त नहीं है, यही उक्त अनन्य पद का तात्पर्य है। कार्य की सत्ता स्वतन्त्र नहीं है, अद्वैत-वेदान्त का कार्य-कारणवाद के सम्बन्ध में यही अभिप्राय है। सांख्यदर्शन कार्य को सत् कहता है।[1] अद्वैतवादी सत् कार्य नहीं, सत्कारणवाद को मानते हैं। इसको सत्विवर्त-वाद भी कह सकते हैं। इस दृष्टि से सत्कार्यवाद और आरम्भवाद विवर्तवाद की भूमिका ही हैं—'प्रतिष्ठितेअस्मिन्परिणामवादे स्वयं समायाति विवर्तवादः। आरम्भ-वादः परिणामवादो विवर्तवादस्य हि भूमिकेयम्'।[2] सत्कार्यवाद के प्रसंग में कार्य-कारण के सम्बन्ध की व्याख्या करने के लिए ब्रह्मसूत्रकार ने 'अनन्य' पद का जो प्रयोग किया है, उसकी व्याख्या में शंकराचार्य का कहना है कि द्रष्टृ-दृश्य, भोक्तृ-भोग्य, ज्ञातृ-ज्ञेय, कारण-कार्य इत्यादि विभाग अद्वैत मत में व्यावहारिक दृष्टि से मानने पर भी वस्तुतः इनका कोई पारमार्थिक अस्तित्व नहीं है। परमार्थ सत् एकमात्र ब्रह्म है। अन्य वस्तुओं की सत्ता भी अधिष्ठान ब्रह्म के कारण है। समुद्र की लहरें जिस प्रकार समुद्र से पृथक् नहीं हैं, मिट्टी के घटादि जिस प्रकार मिट्टी से नहीं हैं, और सुवर्ण आभूषण जिस प्रकार सुवर्ण से भिन्न नहीं हैं, उसी प्रकार विश्व प्रपंच भी कारणस्वरूप ब्रह्म के अतिरिक्त नहीं है। घटादि तो मात्र कथन के लिए हैं, वस्तुतः तत्व तो मिट्टी ही है। उसी प्रकार आपाततः ब्रह्म में प्रपंच भी दिखाई देता है। परमार्थ सत्य तो ब्रह्म ही है।[3] आकाशादि पदार्थ भी अधिष्ठान की सत्ता से ही भासित हो रहे हैं। परमार्थतः ब्रह्म के अतिरिक्त द्वितीय वस्तु नहीं है।

सूत्रोक्त अनन्यत्व का अर्थ करते हुए वाचस्पति मिश्र ने कहा है कि 'नखल्वनन्य-त्वमि-त्यभेदं ब्रूमः, किन्तु भेदं व्यसाधेमः'[4] अर्थात् अनन्य का अर्थ अभेद नहीं, अपितु भेद

1. सांख्यतत्वकौमुदी-कारिका, पृ० 9
2. अद्वैत ब्रह्मसिद्धि।
3. ब्रह्मसूत्र, पृ० 2।1।14
4. ब्रह्मसूत्रभाष्य भामती, पृ० 2।1।14

का निषेध है। इसका तात्पर्य यही है कि कारण की सत्ता के बिना कार्य की सत्ता नहीं है। 'मृत्तिकेत्येव सत्यम्' इसकी व्याख्या में शंकराचार्य ने कहा है कि श्रुति में इसका तात्पर्य कारण ब्रह्म से है। कारण ब्रह्म ही है, क्योंकि वह त्रिकालाबाधित है। अन्य नाम-रूपमय कार्य सत्य नहीं है—'नतुवस्तुवृत्तेन विकारो नाम कश्चिदस्ति। नामधेयमात्रं ह्येतदनृतम्'।[1] इसी विवर्तवाद की व्याख्या में आचार्य शंकार ने आगे और कहा है घटाकाश जिस प्रकार महाकाश से भिन्न नहीं है, उसी प्रकार विश्व प्रपंच भी अपरिणामी उपादान से भिन्न कुछ नहीं है। परिवर्तनशील वस्तुओं को नित्य नहीं कहा जा सकता। जो नित्य है वह त्रिकालाबाध्य है। जिसका बाध होता ह वह असत्य देखा गया है, जैसे रस्सी में सर्प। प्रकाश की सहायता से देखने पर रस्सी में मिथ्या सर्प नहीं दीखता, उसी प्रकार ज्ञानालोक के सहयोग से ब्रह्मसाक्षात्कार होने पर प्रपंच नहीं दिखाई देता है। अतएव बाधित होने से प्रपंच मिथ्या है। सांख्यदर्शन का यह सिद्धान्त कि कार्य कारण के समान सत् है, असंगत है। इसी प्रकार असत्कार्यवाद का यह सिद्धान्त कि कार्य घटादि कारण से भिन्न नवीन उत्पन्न होता है, असंगत है। क्योंकि कारण की सत्ता से भिन्न कार्य की वस्तुतः सत्ता नहीं है। परन्तु अद्वैतवाद में कार्य आकाशकुसुमादि के समान अलीक भी नहीं है। क्योंकि अलीक की कभी प्रतीति नहीं होती, विश्व प्रपंच बन्ध्यापुत्र के समान अलोक नहीं है। कार्य को अद्वैतवाद में मिथ्या, अतएव अनिर्वाच्य कहा गया है। वाचस्पति मिश्र ने प्रपंच की असत्यता में अनुमान प्रस्तुत किया है—'जिन वस्तुओं का प्रत्यक्ष ही विलय देखा जाता है, वे सत्य नहीं हैं, जैसे मृगतृष्णा का जल, इसी प्रकार समस्त प्रपंच भी अवस्तु है। जो सत् वस्तु है, वह चिरकाल से सद्रूप है, जैसे चिदात्मा।'[2] चिदात्मा सर्वदा सर्वस्थानों में विराजमान है, अतः वह व्यापक है। अनुस्यूत है। जागतिक वस्तुएं सर्वदा सर्वस्थानों में नहीं रहतीं। इसीलिए वे असत्य और अपूर्ण हैं। इस प्रकार यह देखा गया कि सत्य-मिथ्या आलोक-अन्धकार के समान विपरीत हैं। दोनों में अभेद सम्बन्ध नहीं माना जा सकता। इसलिए अद्वैतवादियों ने कार्य को कारण से अस्वतन्त्र माना है।

विवर्तवाद में यह आक्षेप भी समीचीन नहीं है कि विवर्तवाद के अनुसार संसार अलीक है। क्योंकि अद्वैतवादी मिथ्या का अर्थ अलीक नहीं करते। उनके अनुसार परिणामी वस्तुएं मिथ्या हैं। सांख्य जिसे परिणामी नित्य कहता है, न्याय जिसे उत्पन्न द्रव्य कहकर अनित्य कहता है, उसी को वेदान्ती 'मिथ्या' या 'अनिर्वाच्य' कहते हैं। व्यावहारिक सत्ता अद्वैत मत में भी मान्य है। परमार्थतः प्रपंच की सत्ता ब्रह्म से अतिरिक्त नहीं है। 'नाभाव उपलब्धेः' (ब्र०सू० 2।2।28), 'वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत्' (ब्र० सू० 2।2।29), इस सूत्रों से विज्ञानवादी बौद्धमत के खण्डन में प्रपंच के अभाव और स्वप्नादि के समान मिथ्या होने का खण्डन किया गया है। आचार्य शंकर ने कहा है कि विश्व प्रपंच स्वप्न-

---

1. ब्र० सू० शां० भा०, 2।1।14
2. ये हि दृष्टनष्टस्वरूपा न ते वस्तुसन्तो यथा मृगतृष्णिकोदकादयः, तथा च सर्व विकार-जातम्, तस्मादवस्तुसत्। भाष्यभामती—2।1।14

गजादि के समान सामयिक और व्यक्तिगत नहीं है। ब्रह्मज्ञान के उदयपर्यन्त प्रपंच की प्रतीति का निवारण नहीं किया जा सकता।[1]

इस प्रकार आचार्य शंकर वस्तुवादी दार्शनिकों द्वारा स्वीकृत वस्तुओं को मिथ्या कहते हैं। अर्थात् सांख्य जिसे जड़ कहते हैं, अद्वैतवादी उन वस्तुओं को परमार्थतः मिथ्या कहते हैं और ब्रह्म का विवर्त मानते हैं।

ऊपर की विचारप्रक्रिया में ब्रह्म को विवर्तोपादान और माया को परिणामी उपादान कारण बतलाया गया है। विवर्तोपादानकारण ब्रह्म ही मायोपहित होकर निमित्त कारण बनता है। 'यतो वा इमानि, मायिनं तु महेश्वरम्, तदैक्षत, एकाकी न रमेत, एकोऽहं बहु स्याम', इत्यादि वचनों से ब्रह्म ही उपादान और निमित्त दोनों सिद्ध होता है। अतएव अद्वैतवेदान्त में ब्रह्म को अभिन्न-निमित्तोपादान कहा है। विवर्तवाद में भी सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् ईश्वर का स्थान है। यह ईश्वर मायोपहित है, यह पहले ही कहा जा चुका है। मायोपहित अतएव मायाधीश ईश्वर ही सृष्टिकर्ता बन सकता है। विशुद्ध चैतन्य में कर्तृत्वादि धर्म नहीं माने गए हैं। शुद्ध ब्रह्म में किसी प्रकार के शुभ-अशुभ गुण सम्भव नहीं हैं।

परन्तु प्रश्न हो सकता है कि जब अद्वैत मत में एकमात्र ब्रह्म ही सत् वस्तु है, नानात्व कुछ भी नहीं है तब जीवेश्वर-विभाग और जगत्-सृष्टि कहाँ से आ गई? इसके उत्तर में अद्वैतवेदान्तियों का कथन है कि हम व्यावहारिक भेद का निषेध नहीं करते। प्रातीतिक संसार है। इसी को वेदान्त में अध्यारोपापवाद कहते हैं। 'अध्यारोपवादाभ्यां निष्प्रपंचं प्रपंच्यते'—वस्तुतः ब्रह्म निष्प्रपंच है, फिर भी प्रपंच की प्रतीति का अपलाप नहीं किया जा सकता। अतएव व्यवहार दशा में ईश्वर भी है। प्रपंच भी है। इस पर यह पूछा जा सकता है कि क्या ब्रह्म का ईश्वरभाव भी प्रपंच के अन्तर्गत आने के कारण मिथ्या है? इसके उत्तर में यह कहा जाएगा कि जिस प्रकार जीव के लिए 'जीवो ब्रह्मैव नापरः' कहा गया है, उसी प्रकार ईश्वर भी ब्रह्म ही है। इस अर्थ में ईश्वर में मिथ्यात्व नहीं आता। वेदान्त के कुछ आचार्य ईश्वर को बिम्ब न मानकर जीव के ही समान प्रतिबिम्ब मानते हैं। इस मत में जिस प्रकार अन्तःकरण प्रतिबिम्ब जीव है, उसी प्रकार अविद्या में प्रतिबिम्बित चैतन्य ईश्वर है। अन्तःकरण उपाधि को छोड़कर विशुद्ध चैतन्यांश ही 'तत्वमसि' आदि वाक्यों का लक्ष्यार्थ है। अतः अन्तःकरण उपाधि मिथ्या है। चैतन्यांश सत्य है। उसी प्रकार ईश्वर में भी दो अंश हैं—अविद्यांश और चैतन्यांश। अविद्यांश उपाधि है, वह मिथ्या है। चैतन्यांश ब्रह्म है, वह सत्य है। इसी प्रकार प्रपंच घटादि में भी 'घटोऽस्ति, पटोऽस्ति' इत्यादि अस्तिबोधक सत्ता चैतन्य की सत्ता है। घट-पटादि उपाधि होने के कारण मिथ्या है। अस्तिबोधक सत्ता ब्रह्म की है, वह सर्वत्र समान होने के कारण सत्य है।

---

1. नखत्वभावो बाह्यस्यार्थस्याध्यावसातुं शक्यते। कस्मात्? उपलब्धेः। उपलभ्यते हि प्रतिप्रत्ययं बाह्योऽर्थः स्तम्भः, कुड्यं, घटः पट इति। न चोपलभ्यमानस्याभावो भवितुमर्हति। ब्र० सू० शां० भा०-2।2।28

उपरोक्त प्रक्रिया में ब्रह्म का ईश्वरभाव वैसे ही प्रातीतक है जैसे ब्रह्म का जीव-भाव और प्रपंचभाव। जो आचार्य ईश्वर को प्रतिबिम्ब न मानकर बिम्ब मानते हैं, उनके अनुसार ईश्वर ब्रह्म ही है। उनके मत में जिस प्रकार एक व्यक्ति अध्यापक भी है, और अपने पिता के लिए पुत्र भी तथा बहिन के लिए भाई भी। व्यक्ति में पुत्रत्वादि धर्म वस्तुतः व्यक्तित्व का विभाजक नहीं होते हैं। पुत्रत्वादि धर्म सापेक्ष धर्म है, व्यक्ति तो विशुद्ध एक है, पुत्रत्वादि धर्मों के नष्ट हो जाने पर भी व्यक्ति स्वयं अस्तित्ववान् रहता है, उसी प्रकार एक ही विशुद्ध ब्रह्म ईश्वरत्वादि भावों से सम्पन्न होता हुआ भी ब्रह्म ही रहता है। वह सदा एकरूप रहता है। इस मत में वास्तविक अर्थ में चैतन्य के एक होने के कारण ईश्वर भी सत्य है और जीव भी सत्य है। इस अर्थ में वेदान्तियों ने न्याय-वैशेषिक के निमित्तकारण ईश्वर को स्वीकार नहीं किया है। सांख्य की प्रकृति भी सृष्टि करने में असमर्थ है, क्योंकि सांख्य की प्रकृति जड़ है। श्रुति में ईक्षणापूर्वक सृष्टि का कथन है। सूत्रकार ने इस प्रकार की प्रकृति के सृष्टिकर्तृत्व में श्रुतिप्रमाण न होने के कारण खण्डन किया है।[1] लोक में भी कुम्भकारादि निमित्त कारणों को ज्ञानवान् देखा जाता है। इसलिए सांख्य की प्रकृति से सृष्टि की व्याख्या नहीं हो सकती। इसी प्रकार वैशेषिक के परमाणु भी परस्पर आकर्षण और विकर्षण से संयुक्त होकर स्वतः ही सृष्टि करने में असमर्थ हैं, क्योंकि वे परमाणु जड़ हैं। आचार्य शंकर ने ब्रह्मसूत्र भाष्य द्वितीय अध्याय में परमाणुकारणवाद के खण्डन में कहा है—यदि परमाणुओं का स्वभाव आकर्षण है, तब तो सर्वदा सृष्टि होगी, प्रलय कभी नहीं होगी और यदि परमाणुओं का स्वभाव विकर्षण है तब सर्वदा सृष्टि का अभाव होगा, सृष्टि कभी न होगी।[2] परमाणु अति क्षुद्रतम हैं, उनमें आकर्षण-विकर्षण रूपी दो क्रियाओं को मानने पर उनका परमाणुत्व व्याहत हो जाएगा। आकर्षण और विकर्षण दोनों विरुद्ध धर्म हैं, अतएव सरल परमाणु में दो विरुद्ध धर्म सम्भव नहीं हैं।[3] यदि परमाणुओं के आकर्षण-विकर्षण धर्म आगन्तुक हैं, तो पूछा जा सकता है कि आगन्तुक धर्म का निमित्त क्या है? कर्म या ईश्वर? कर्म जड़ है, उसको चालित करने के लिए ईश्वर को निमित्त मानना पड़ेगा। ईश्वर निमित्तक यह सृष्टि श्रुति से भी प्रमाणित है—'एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्यचन्द्रमसौ···।' वृहदारण्यक, अक्षर ब्राह्मण। वेदवचन भी है—"द्यावा भूमी जनयन् देव एकः···'। इस प्रकार अद्वैतवेदान्त के अनुसार सर्वत्र सर्वशक्तिमान् ईश्वर ही जगत् का निमित्त कारण है। अरिस्टोटल ने इसी प्रकार के निमित्त कारण ईश्वर का वर्णन किया है।[4]

---

1. ईक्षतेर्नाशब्दम्, ब्र० सू० 1।1।5, रचनानुपपत्तेश्चनानुमानम्, 2।2।1
2. उभयथाऽपिन कर्मातस्तदभावः, 2।2।12 ब्र० सू०। वही-नित्यमेवच भावात्, पृ० 2।2।14
3. वही।
4. अरिस्टोटल ने ईश्वर को Prime Mover कहा है।

अब प्रश्न यह रह जाता है कि जीवकर्मसापेक्ष ईश्वर जगत्कारण है या जीव-कर्मनिरपेक्ष ? जीवकर्मसापेक्ष ईश्वर को जगत्कारण मानने पर ईश्वर की सर्व-शक्तिमत्ता और दयालुता का व्याघात होता है। अतः सापेक्ष ईश्वर तो पराधीन ईश्वर हुआ। पराधीन ईश्वर में ईश्वरत्व हो ही नहीं सकता। इसलिए जीवकर्मसापेक्ष ईश्वर को निमित्त माना जाए। यह मत नकुलीश-पाशुपत मतसमर्थित है।[1] यह अतिप्राचीन ईश्वरवाद है।

महर्षि गौतम ने 'ईश्वरः कारणं पुरुषकर्माफल्यदर्शनात्' न्यायदर्शन— 4। 1। 19। इस सूत्र में कर्मनिरपेक्ष ईश्वरवाद का खण्डन और कर्मसापेक्ष ईश्वरवाद का समर्थन किया है। जैमिनी ने ईश्वर को निमित्त कारण नहीं स्वीकार किया है। इस मत का खण्डन बादरायण ने ब्रह्म सूत्र में किया है।[2] पतंजलि ने प्रकृति को मानते हुए भी परमेश्वर को माना है। अद्वैतवेदान्त के अनुसार जीवकर्मसापेक्ष ईश्वर को निमित्त कारण मान लेने पर सृष्टि के वैषम्यादि के प्रति ईश्वर उत्तरदायी नहीं ठहरता। क्योंकि जीव अपने-अपने कर्मों के अनुसार ही धनी-गरीब, विद्वान्-मूर्खादि बनते हैं। ईश्वर किसी के ऊपर पापपुण्यादि नहीं लादते। आदिसृष्टि में किसके कर्म के अनुसार परमेश्वर ने सृष्टि की थी ? यह प्रश्न वेदान्त के अनुसार अनुपपन्न है, क्योंकि जीव और जीवकर्म वेदान्त के अनुसार अनादि हैं।

जगत्-सृष्टि—अद्वैतवेदान्त के अनुसार जगत्-सृष्टि सत्स्वरूप ब्रह्म में आरोपित है। इसी को वेदान्तीगण अध्यारोप कहते हैं। अध्यारोपवादन्याय से सृष्टि की व्याख्या दी जाती है। अध्यारोप का कारण अज्ञान है, यह कहा जा चुका है। अज्ञान की आवरण और विक्षेप नामक दो शक्तियां हैं, यह भी कहा जा चुका है। ब्रह्मविषयक आवरण शक्ति से मेघ से सूर्य के प्रकाश के समान ब्रह्म का स्वरूप आवृत हो जाता है। फिर तमोगुण प्रधान अज्ञान की विक्षेपशक्ति के कारण तदुपहित चैतन्य से सर्वप्रथम सूक्ष्म अपंचीकृत आकाश उत्पन्न होता है। आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, एवं जल से पृथ्वी उत्पन्न होती है।[3] इन आकाशादि सूक्ष्म भूतों को पंचतन्मात्राएं भी कहते हैं। सूक्ष्म आकाश आदि में वर्तमान प्रत्येक के सत्व गुणांश से पृथक्-पृथक् रूप से पंच ज्ञानेन्द्रियां उत्पन्न होती हैं। ये क्रमशः इस प्रकार हैं—आकाश तन्मात्रा के सात्विकांश से श्रोत्र, वायुतन्मात्रा के सात्विकांश से त्वक्, तेजतन्मात्रा के सात्विकांश से चक्षु, जल-तन्मात्रा के सात्विकांश से जिह्वा और पृथ्वीतन्मात्रा के सात्विकांश से घ्राण उत्पन्न होता है। उक्त आकाशादि सूक्ष्मभूतों में रहने वाले सत्वगुण के सम्मिलित अंशों से बुद्धि, मन, चित्त और अहंकार उत्पन्न होते हैं। इन चारों को अन्तःकरण कहते हैं। पूर्वोक्त पंचज्ञानेद्रियां एवं चार अन्तःकरण विषयप्रकाशक हैं, इसीलिए इनको सत्वगुण का कार्य कहा गया है। अन्तःकरण की निश्चयात्मिका वृत्ति को बुद्धि कहते हैं। संकल्प-

---

1. सर्वदर्शनसंग्रह, नकुलीश, पाशुपतदर्शन।
2. सर्ववेदान्तेषु चेश्वरहेतुका एव सृष्टयो व्यपदिश्यन्ते। ब्र० सू० 3।2।40
3. तस्मादेतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः···इत्यादि, तैत्तिरीय 2।1

विकल्पात्मिका वृत्ति को मन कहा गया है। इन्हीं दो वृत्तियों में चित्त और अहंकार का भी अन्तर्भाव हो जाता है। बुद्धि में चित्त का और मन में अहंकार का अन्तर्भाव हो जाता है। वाक्, पाणि, पाद, पायु, और उपस्थ—ये पंच कर्मेन्द्रियाँ हैं। ये आकाशादि सूक्ष्म भूतों के रजोगुणांशों से क्रमशः उत्पन्न होती हैं। आकाश के रजोगुणांश से वाक्, वायु के रजोगुणांश से हस्त, अग्नि के रजोगुणांश से पाद, जल के रजोगुणांश से वायु और पृथ्वी के रजोगुणांश से उपस्थ उत्पन्न होता है। प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान—ये पंच प्राण हैं। आकाशादि सूक्ष्म भूतों के सम्मिलित रजोगुणांशों से प्राणादि उत्पन्न होते हैं। नासिका के अग्रभाग में रहने वाले वायु का नाम प्राण है। नीचे की ओर बहने वाले बायु को अपान, समग्र शरीर में बहने वाले वायु को व्यान, ऊपर की ओर उत्क्रमण करने वाले वायु को उदान एवं खाये हुए अन्न-पानादि को व्यवस्थित करने वाले वायु को समान कहते हैं। मन, बुद्धि, पंच ज्ञानेन्द्रियां, पंच कर्मेन्द्रियाँ तथा पंच प्राण—इनको मिलाकर 17 तत्वोंवाला सूक्ष्म शरीर कहलाता है।

स्थूल शरीर पंचीकृतभूतों से उत्पन्न होता है। सूक्ष्म पंचभूत शुद्धभूत होते हैं, परन्तु स्थूल पंचभूत परस्पर मिश्रण से उत्पन्न होते हैं। इस मिश्रण प्रक्रिया को वेदान्ती-गण पंचीकरणप्रक्रिया कहते हैं। पंचदशी में पंचीकरण की व्याख्या करते हुए विद्यारण्य स्वामी ने कहा है—प्रत्येक भूत को दो-दो भागों में विभक्त करके, पुनः प्रथम भाग को चार भागों में विभक्त करके अपने-अपने से भिन्न चार भूतों के दूसरे भागों में मिला देने से वे आकाशादि पंच सूक्ष्मभूत पंचात्मक अर्थात् पंचीकृत हो जाते हैं।[1] पंचीकरण हो जाने पर प्रत्येक स्थूल भूत का स्वरूप इस प्रकार होगा—अपंचीकृत सूक्ष्म आकाश तन्मात्रा को दो भागों में विभक्त करके 1/2 आकाश + 1/8 वायु + 1/8 अग्नि + 1/8 जल + 1/8 पृथ्वी—स्थूल आकाश। इसी प्रकार वायुतन्मात्रा 1/2 + आकाश 1/8 + अग्नि 1/8 + जल 1/8 + पृथ्वी 1/8—स्थूल वायु। अग्नितन्मात्रा 1/2 + आकाश 1/8 + वायु 1/8 + जल 1/8 + पृथ्वी 1/8— स्थूल अग्नि। जल-तन्मात्रा 1/2 + आकाश 1/8 + वायु 1/8 + अग्नि 1/8 पृथ्वी 1/8—स्थूल जल। पृथ्वी 1/2 + आकाश 1/8 + वायु 1/8 + अग्नि 1/8 + जल 1/8—स्थूल पृथ्वी। ये ही पंचीकृत स्थूलपंच महाभूत हैं। स्थूलभूतों में अन्य भूतों के अंश रहने पर भी 1/2 स्वयं के भाग होने के कारण अर्थात् अपना भाग अधिक होने के कारण आकाश आदि को तत्तत् भूतों के नाम से कहा जाता है। शब्द-स्पर्शादि भी इन भूतों में स्पष्टरूप से अभिव्यक्त होते हैं। आकाश में शब्द, वायु में स्पर्श, अग्नि में रूप, जल में रस और पृथिवी में गन्ध की अभिव्यक्ति होती है। इन पंचीकृत भूतों से भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः, और सत्यम्— ये ऊपर के सप्त लोक उत्पन्न होते हैं। इसी प्रकार नीचे की ओर स्थित अतल, वितल, सुतल, रसातल, तलातल, महातल और पाताल नामक लोक भी इन्हीं भूतों से उत्पन्न होते हैं। पूर्वोक्त नामों वाले चतुर्दशलोकों वाला यह ब्रह्माण्ड

---

1. द्विधा विधाय चैकैकं चतुर्धा प्रथमं पुनः।
स्वस्वेतरद्वितीयांशैर्योजनात् पंच पंच ते ।। पंचदशी 1।27

है। इसी में चार प्रकार के स्थूल शरीर भी उत्पन्न होते हैं। इन चार प्रकार के शरीरों को 1. जरायुज 2. अण्डज 3. उद्भिज 4. स्वेदज कहते हैं। मनुष्य का शरीर जरायुज होता है। पक्षी आदि का शरीर अण्डज होता है। वृक्षादि उद्भिज तथा यूकादि स्वेदज हैं। हमारा यह शरीर स्थूल भूतों से बना स्थूल शरीर है। इसे अन्नमय कोश कहते हैं, क्योंकि यह अन्न पर निर्भर करता है। अथवा स्थूलभूतों पर निर्भर करने के कारण भी इसे अन्नमय कोश कहा जाता है। अवस्था की दृष्टि से यह जाग्रदवस्था है। पंच प्राण और पंच कर्मेन्द्रियों को मिलाकर प्राणमयकोश बनता है। यह क्रियाशक्तिमान् कोश है। पंचज्ञानेन्द्रियों के साथ मन को मिलाने से मनोमयकोश बनता है। यह इच्छाशक्तिमान् कोश है। पंच ज्ञानेन्द्रियों सहित बुद्धि को मिलाने से विज्ञानमयकोश होता है। यह ज्ञानशक्तिमानकोश है। तुरीय अवस्थावाला कारण शरीर को आनन्द प्रचुरता के कारण आनन्दमयकोश कहा जाता है। यह सुषुप्ति अवस्था है। यह स्थूल-सूक्ष्म प्रपंचों का लय स्थान है। विज्ञानमय-मनोमय-प्राणमय कोशों को अवस्था की दृष्टि से स्वप्नावस्था कहते हैं।

इस प्रकार अद्वैतवेदान्त में अध्यारोप द्वारा ब्रह्म में अविद्योपादानक सृष्टि की व्याख्या दी जाती है। अपवाद द्वारा सृष्टिविलय की व्याख्या दी जाती है। वह इस प्रकार है—चतुर्दश भुवनोंवाला ब्रह्माण्ड चारों प्रकार शरीरों सहित स्थूलपंचभूतों में विलीन हो जाता है। पंच महाभूत भी सूक्ष्मतन्मात्राओं के रूप में रह जाते हैं। मन-बुद्धि, कर्मेन्द्रियाँ एवं पंचप्राण तथा ज्ञानेन्द्रियाँ अपने-अपने उपादानों में लय को प्राप्त हो जाती हैं। अन्त में पंचतन्मात्राएँ भी अज्ञान की विक्षेपशक्ति में विलीन हो जाती हैं। ब्रह्मविषयकज्ञान से शक्तिद्वयसमन्वित अविद्या का भी विलय हो जाता है, क्योंकि अविद्या को ज्ञानबाध्य कहा गया है। अविद्या और अविद्याकार्य प्रपंच के विलय से एकमात्र अद्वितीय सद् ब्रह्म ही शेष रह जाता है, वही तुरीय शिव और अद्वैत है।

मिथ्यात्व

मिथ्यात्व का प्रथम लक्षण :—(पंचपादिकाकार का मत)

आचार्य शंकर के 'अध्यासोमिथ्येति भवितुं युक्तम्'[1] इस वचन को आधार मानकर ही पद्मपादाचार्य के पंचपादिका में कहा है 'मिथ्या शब्दो द्वयर्थः अपह्नववचनोऽनिर्वचनीयतावचनश्च'[2] अर्थात् मिथ्या शब्द के दो अर्थ हो सकते हैं—अपह्नववचन, क्योंकि मिथ्या शब्द का लोक में अपह्नव अर्थ में भी प्रयोग देखा जाता है, तथा अनिर्वचनीयतावचन अर्थात् सदसदादि रूपों से अकथनीय। यहां पर मिथ्या शब्द का अर्थ अनिर्वचनीयता ही है, 'मिथ्येत्यनिर्वचनीयतोच्यते'[3] अतः मिथ्यात्व का लक्षण हुआ सदसदनधिकरणत्वरूप अनिर्वाच्यत्व, अर्थात् सत् भी नहीं, असत् भी नहीं, सदसद्रूप

1. ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य भूमिका, पृ० 15
2. पंचपादिका पृ० 67, 68। कलकत्ता संस्करण सं० अनन्तकृष्ण शास्त्री, 1933
3. वही, पृ० 88

भी नहीं, तीनों प्रकारों से विलक्षण। जो सद्रूप से असद्रूप से और सदसद् उभयरूप से भी कथनीय नहीं, वही अनिर्वचनीयरूप मिथ्या है। नृसिंहाश्रम ने वेदान्त-तत्त्व-विवेक में पंचपादिका का यह लक्षण उद्धत किया है, और उन्होंने 'सदन्यत्वमनिर्वचनीयत्वम्' अनिर्वचनीयत्व का लक्षण किया है। तुच्छ आकाश कुसुमादि में अन्यत्वादि धर्म भी सम्भव नहीं है, अतः तुच्छ में लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं हो सकती, अन्यत्वादि धर्म तुच्छ में मानने पर तो वह भी प्रपंच के ही अन्तर्गत होगा। दूसरी बात यह है कि तुच्छ तो निःस्वरूप है।[1]

अब शंका हो सकती है कि अनिर्वचनीयत्वरूप से तो फिर भी निर्वचनीय हो ही रहा है ? इसके उत्तर में अद्वैतवादियों का कहना है कि निरुक्तिविहता मात्र को तो हम अनिर्वचनीय नहीं कहते, अपितु सत्वासत्व उभयरूप से निरुक्तिविरहता ही अनिर्वचनीय है।[2]

पंचपादिका का यह लक्षण चित्सुखाचार्य ने तत्वप्रदीपिका में पंचम लक्षण के रूप में उपन्यस्त किया है।[3] उक्त सदसदनधिकरणत्वरूप अनिर्वाच्यत्व अप्रसिद्ध है, ऐसा आक्षेप द्वैतवादी न्यायामृतकार ने किया है और उक्त सदसदनधिकरणत्वरूप साध्य के तीन विकल्प करके तीनों में अर्थान्तरतादि दोष प्रदर्शित किये हैं।[4] उक्त तीन विकल्पों में से द्वितीय 'सत्वात्यन्ताभावासत्वात्यन्ताभावरूपधर्मद्वय' विकल्प को मान लेने पर पूर्वोक्त दोषों की सम्भावना नहीं है।[5] अप्रसिद्धि विशेषणता अर्थात् साध्याप्रसिद्धि की आपत्ति-निरसन के लिए अनुमान प्रयोग से सामान्यतया साध्य की प्रसिद्धि की जाती है, यथा सत्व और असत्व एतदुभय धर्मों का किसी एक धर्मी में अभाव अवश्य होगा, धर्मी होने से, रूपरस के समान, जैसे रूप और रस पृथ्वी और जल के धर्म हैं और इन दोनों का अभाव वायु में सिद्ध है। रूप और रस में धर्मत्वरूप हेतु है, तथाच एकधर्मी वायु में रूप और रस का अत्यन्ताभाव है। इस प्रकार अनुमान के अंग-हेतु, साध्य और हेतु एवं साध्य की व्याप्ति भी प्रसिद्ध हैं। पूर्वोक्त अनुमान का पक्ष है सदसत्व। उसमें हेतु धर्मत्व सिद्ध ही है अर्थात् हेतु की पक्षवृत्तिता सिद्ध हुई, अतः अनुमान बल से सत्वासत्व धर्मों का अत्यन्ताभाव किसी एक धर्मी में अवश्य होगा। इस प्रकार सत्वासत्वानधिकरणत्वरूप साध्य सामान्यतः सिद्ध होने पर साध्याप्रसिद्धि दोष नहीं दिया जा सकता।

इस पर पूर्वपक्षी का कहना है कि रूप और रस का अभाव वायु में है, यह हमें

---

1. वेदान्ततत्वविवेक, पृ० 168
2. न हि निरुक्तिविरहमात्रेणानिर्वाच्यत्वं ब्रूमः किन्तु सत्वादिना निरुक्तिविरहेण— अद्वैतसिद्धि, पृ० 473
3. सदसद्विलक्षणत्वे वा। चित्सुखी, पृ० 33
4. सत्वे सत्यसत्वरूपविशिष्टस्याभावोऽभिप्रेतः। किंवासत्वात्यन्ताभावासत्वात्यन्ताभावरूपधर्मद्वयम्। यद्वासत्वात्यान्ताभावत्वेसति असत्वात्यन्ताभाववत्वरूप न्यायामृत पृ० 22
5. अद्वैतसिद्धि पृ० 50

भी स्वीकार्य है, परन्तु सत्व और असत्व दोनों परस्पर विरुद्ध धर्म हैं, इसलिए एक के अभाव से दूसरे का भाव और एक के भाव से दूसरे का अभाव अवश्य होगा। जो सत् न होगा, वह असत् होगा और जो सत् होगा, वह असत् न होगा, क्योंकि मध्व के मत में बाध्यत्व ही असत्व है और अबाध्यत्व सत्व। शुक्ति-रजतादि बाध्य होने के कारण अत्यन्तासत् हैं। उनके अनुसार प्रपंच परिणामी तो है ही, परन्तु वह मिथ्या नहीं है। प्रपंच सत्य है, परन्तु वह परिणामी सत्य है। इस प्रकार माध्वादि के अनुसार अत्यन्तबाध कभी नहीं होता, अतएव शुक्तिरजत के समान बाध्य न होने के कारण प्रपंच भी सत्य है। शुक्तिरजत इस मत के अनुसार आकाशकुसुम के सामान अलीक है। इस मत में सत्वासत्व के बीच में प्रातीतिक सत्व स्वीकार्य नहीं है, अतएव सत्वासत्वानधिकरणत्व-रूपमिथ्यात्व मानने पर भी व्यहति है ही। इसी आशंका के उत्तर में अद्वैतवादी पूर्व-पक्षी से यह पूछते हैं, कि व्यहति के हेतु क्या हैं? अर्थात् वह व्याघात सत्वासत्व के परस्परविरहरूपतया, परस्परविरव्यापकतया अथवा परस्परविरहव्याप्यतया है?[1] लघुचन्द्रिकाकार ने उक्त तीन विकल्पों के दो-दो विभाजन करके छः विकल्प किये हैं— 1. सत्व का अभावरूप असत्व 2. असत्व का अभावरूप सत्व 3. सत्व अभाव असत्व का व्यापक 4. असत्व का अभाव सत्व का व्यापक 5. सत्व का अभाव असत्व का व्याप्य तथा 6. असत्व का अभाव सत्व का व्याप्त।[2] इस प्रकार व्याघात म छः प्रकार प्रतिकूल तर्क हेतु हो सकते हैं। सिद्धान्ती का उत्तर यह है कि व्याघात के हेतुभूत प्रथम दो प्रतिकूल तर्क हमारे प्रति अनिष्टकारक नहीं हैं, क्योंकि अद्वैतवादी सत्व-असत्व दोनों को परस्पर विरह रूप नहीं मानते। अद्वैतमत में यह नियम नहीं है कि कोई पदार्थ सत् नहीं है तो असत् हो जाए, या असत् नहीं है तो सत् हो जाये। ऐसा भी पदार्थ सम्भव है जोकि सदसद् अनुभयरूप हो, क्योंकि सिद्धान्तपक्ष में त्रिकालाबाध्यत्वरूप ही सत्व है। एवंभूत सत्व का अत्यन्ताभाव ही असत्व है, ऐसी बात नहीं। असत्व का स्वरूप है—'जो किसी भी धर्मी में सत्वरूप से प्रतीत न हो'।[3] जो भ्रमरूप से, प्रमारूप से किसी भी प्रकार किसी भी उपाधि में प्रतीति का विषय न हो, वही प्रतीयमानत्वानधिकरण शब्द से विवक्षित है। आकाशकुसुमादि कभी भी, किसी प्रकार से प्रतीति के विषय नहीं बनते। 'यह आकाशकुसुम सुरभियुक्त है' 'यह बन्ध्यापुत्र जाता है' इत्याकारक अनुभव, भ्रम से, प्रमा से, किसी भी प्रकार से नहीं होते। घटादि पदार्थ प्रतीयमान होते हैं, परन्तु किसी भी वस्तु की प्रतीति मात्र से ही वस्तु सत् नहीं बन जाती, क्योंकि प्रतीत भ्रमवशात् भी होती है। वस्तुतः त्रिकालाबाध्यत्वरूप सत् एकमात्र ब्रह्म ही है। असत्व के लक्षण में 'क्वचिदप्युपाधौ' पद गुरुत्वादि में अतिव्याप्तिवारण के लिए दिया गया है, क्योंकि गुरुत्व भी निरुपाधिक स्वयं प्रतीति का विषय नहीं बनता। 'गुरुत्वं सत्' ऐसा अनुमान भी

---

1. अद्वैतसिद्धि, पृ० 50
2. लघुचन्द्रिका, पृ० 50
3. त्रिकालाबाध्यत्वरूपसत्वव्यतिरेको नासत्वम् किन्तु क्वचिदप्युपाधौ सत्वेन प्रतीय-मानत्वानधिकरणत्वम्। अद्वैतसिद्धि, पृ० 50-51

गुरुत्व की सिद्धि में असमर्थ है, क्योंकि अनुमान का पक्ष गुरुत्व ही असिद्ध है, अतः घटादि उपाधि में अर्थात् आश्रय में आश्रितरूप से गुरुत्व का अनुमान करना होगा। 'घटगुरुत्वं सत्' ऐसा अनुमान घटाश्रय को लेकर किया जा सकता है। उपाधिपद के देने से और घटरूप उपाधि में गुरुत्व की प्रतीति होने से गुरुत्व में असत्वलक्षण की अतिव्याप्ति नहीं हुई,[1] क्योंकि असत् किसी भी प्रकार उपाधि में भी प्रतीति का विषय नहीं होता। निरुपाधिक प्रतीति का विषय तो बनता ही नहीं। घटादि अपने आप में सद्रूप से प्रतीत होने का सामर्थ्य नहीं रखते, अतः सद्रूप ब्रह्म में तादात्म्यतया अध्यस्त होकर ही घटादि 'घट है', 'वस्त्र है' इत्यादि रूपों से सद्रूपेण प्रतीत होते हैं।[2] शुक्ति-रजत के समान ब्रह्मज्ञानरूप बाधकज्ञान से घटादि अज्ञानकार्य बाधित हो जाते हैं। इस कारण अर्थात् बाधित होने से और प्रतीयमान होने से घटादि सदसदनधिकरणत्वरूरेण मिथ्या हैं, अतः सत्वासत्व धर्मों को परस्परविरहरूप न स्वीकार करने के कारण पूर्वोक्त व्याघातदोष नहीं दिया जा सकता।

इसी प्रकार सत्वासत्व दोनों की परस्परविरहव्यापकता भी स्वीकार्य नहीं है, क्योंकि दोनों परस्परविरहव्यापक होने पर असत्व यदि सत्वाभाव का व्यापक हो तब तो सत्वाभाव जहाँ पर होगा, असत्व वहाँ पर होगा ही, और यदि असत्वाभाव का व्यापक सत्व होगा तब जहाँ पर असत्व का अभाव होगा वहाँ पर सत्व होगा ही, परन्तु पूर्वोक्त असत्व के लक्षण द्वारा और शुक्ति-रजतादि में प्रत्यक्ष द्वारा 'सत्वाभाव-व्यापकमसत्वं असत्वाभावव्वापकंसत्वं' यह व्याप्ति व्यभिचारिणी सिद्ध हो चुकी है। शुक्ति-रजत में सत्वाभाव है, क्योंकि त्रिकालाबाध्यत्वरूप सत्व शुक्ति-रजत में नहीं है। वह शुक्ति-ज्ञान द्वारा बाधित होता है। अथच शुक्ति-रजत को असत् भी नहीं कह सकते, क्योंकि असत् का पूर्वोक्त लक्षण 'किसी भी उपाधि में प्रतीयमानत्वानधि-करणत्व', उसमें नहीं है। शुक्ति-रजत अथवा रज्जु-सर्प स्वाधिकरण में— शुक्ति आदि में प्रतीयमान होते हैं, इसलिए आकाशकुसुमादि के समान शुक्ति-रजत की सत्ता को उड़ाया नहीं जा सकता। प्रतीतिकालिक सत्ता तो उसकी माननी ही होगी। अद्वैतसिद्धिकार ने कहा है कि 'सत्वाभाववति शुक्तिरूप्ये विवक्षितासत्वव्यतिरेकस्य विद्यमानत्वेन व्यभिचारात्'।[3] इसी प्रकार सत्व भी असत्वाभाव का व्यापक नहीं है, शुक्ति-रजत में असत्वाभाव होने पर भी सत्व नहीं है, अतएव सत्वासत्व का परस्पर-विरहव्यापकतया भी व्याघात दोष नहीं दिया जा सकता।

सत्व और असत्व की परस्परविरहव्याप्यतया जो व्याघातदोष दिया गया था वह भी असमीचीन है, क्योंकि पारस्परिक विरहव्याप्यता व्याघात का प्रयोजन नहीं है।[4] गोत्व और अश्वत्व परस्पर अभाव के व्याप्य होते हुए भी उन दोनों का अभाव एक

---

1. लघुचन्द्रिका, पृ० 51
2. घटादयः स्वानुगतप्रनिभासे वस्तुनि कल्पिताः विभक्तत्वात्।
   अद्वैतसिद्धि, पृ० 316
3. वही, पृ० 51 तथा 52
4. तस्य व्याघातप्रयोजकत्वात्, वही, पृ० 52

उष्ट्रादि धर्मी में है गोत्वधर्म गौ में रहता है; अश्वत्व धर्म का गौ में अभाव है, क्योंकि अश्वत्व तो अश्व में ही रह सकता है, अन्यत्र नहीं। इसी प्रकार अश्वत्व अश्व में रहता है, गोत्व धर्म का अश्व में अभाव है, क्योंकि गोत्व गौ में ही रह सकता है, अन्यत्र नहीं। इस प्रकार गोत्व और अश्वत्व परस्पर के विरह-व्याप्य हुए। ऐसा होने पर भी दोनों धर्मों का अभाव जैसे उष्ट्रादि धर्मी में सम्भव है, उसी प्रकार सत्व और असत्व धर्म परस्पर-परस्पर के अभाव के व्याप्य होकर भी एक प्रपंचरूप धर्मी में दोनों का अत्यन्ताभाव सम्भव हो सकता है,[1] अतः जिन दो धर्मों का अत्यन्ताभाव एक धर्मी में विद्यमान रहता है, तादृशधर्मद्वय परस्पर अभाव के व्याप्य नहीं हो सकते, ऐसा कथन असमीचीन है, अतएव तृतीय विकल्प के प्रतिकूल तर्कद्वय भी व्याघातदोष उपपादन में असमर्थ हैं।

अर्थान्तरदोषनिरास

पूर्वपक्ष का अभिप्राय है कि जिस प्रकार निर्धर्मक ब्रह्म में सत्व और असत्व धर्म न रहने पर भी ब्रह्म सद्रूप हो सकता है, उसी प्रकार प्रपंचरूप धर्मी में भी सत्व और असत्व धर्म न रहने पर भी प्रपंच सद्रूप हो सकता है[2]। सिद्धान्ती प्रपंच में मिथ्यात्वसिद्धि करना चाहते थे, किन्तु मिथ्यात्वविरोधी, सद्रूपत्व में ही उनका अनुमान पर्यवसित हुआ। उद्देश्य था मिथ्यात्वसिद्धि और सिद्ध हुआ ब्रह्म के समान प्रपंच का भी सत्यत्व। यही अर्थान्तर कहलाता है। उद्देश्य भिन्न अर्थसिद्धि को अर्थान्तर कहते हैं। इसका समाधान सिद्धान्ती इस रूप में करते हैं कि प्रपंच जो ब्रह्म के समान सद्रूप होगा उसमें प्रमाण क्या है ? पूर्वपक्षी का कहना है 'घटः सन्' घट है, इत्यादि प्रत्यक्ष ही प्रपंच की सद्रूपता में प्रमाण है। सिद्धान्त पक्ष का कहना है कि प्रपंचान्तर्गत प्रत्येक वस्तु की सद्रूपता की कल्पना करने की अपेक्षा सर्वप्रपंचानुगत एक ब्रह्म की सद्रूपता की कल्पना करना लाघव होगा और सद्रूप ब्रह्म के घटादि वस्तुओं में अनुगत होने से घटादि वस्तुएं भी सद्रूप से प्रतीत होती हैं। इसमें 'एतदात्म्यमिदं सर्वम्', 'इदम् सर्वम्' यदयमात्मा,' 'ब्रह्मैवेदं सर्वम्', 'आत्मैवेदं सर्वम्' इत्यादि श्रुतियां भी चरितार्थ होती हैं। प्रपंच की सद्रूपता के लिए तत्तत् वस्तुओं को सद्रूप मानने पर अनन्त सद्रूपता कल्पनारूप महागौरव दोष होगा। एक मात्र ब्रह्म की सद्रूपताकल्पना से व्यवहार की उपपत्ति हो सकती है। इस प्रकार लाघव ही प्रपंच सद्रूपताकल्पना में बाधक है, अतः अर्थान्तरताकल्पना समीचीन नहीं है।[3] ब्रह्म की सद्रूपता प्रमित है, भ्रान्ति नहीं और प्रपंच की सद्रूपता की प्रतीति भ्रमयुक्त है, अर्थात् सद्तादात्म्यध्यास के कारण है। 'घटः सन्, पटः सन्' इत्यादि समस्त सदाकार बुद्धिओं में सद्रूप ब्रह्म ही तादात्म्य-सम्बन्ध से विशेषणतया भासमान होता है। अधिष्ठानभूत सद्रूप ब्रह्म में समस्त प्रपंच

---

1. अद्वैतसिद्धि, 52, 55
2. निर्धर्मकब्रह्मवत्सत्वराहित्येऽपि सद्रूपत्वेनामिथ्यात्वोपपत्यार्थान्तराच्च।
   न्यायामृत, पृ० 24
   अद्वैतसिद्धि—सिद्धि व्याख्या, पृ० 55

तादात्म्यसम्बन्ध से आरोपित है, और उसी अधिष्ठान की सत्ता से प्रपंच भी सद्रूप-सा प्रतीत होने लगता है, अन्यथा आरोपित प्रपंच की सत्ता है ही नहीं।[1] 'घटः सन्' इत्यादि प्रत्यक्ष प्रमाण प्रपंच की सद्रूपता की सिद्धि में जो उपन्यस्त किया गया है, वह भी समीचीन नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्षादि का व्यावहारिक प्रामाण्य ही स्वीकार किया गया है और श्रुति का तात्विक प्रामाण्य।

इसी प्रकार तार्किक मत में सत्ता-जाति-प्रयुक्त प्रपंच में सद्रूपता का आक्षेप भी युक्त नहीं है, क्योंकि सत्ताजाति स्वयं सत्ताशून्य है, फिर वह प्रपंच को सद्रूप कैसे बना सकती है? परपक्षगिरिबज्रकार निम्बार्क प० माधवमुकुन्द का आक्षेप कि 'ब्रह्म निर्धर्मक होने के कारण उसमें सत्वासत्व दोनों धर्मों का अभाव होगा, अतएव ब्रह्म में उक्तलक्षण की अतिव्याप्ति होगी,[2] समीचीन नहीं है, क्योंकि ब्रह्म अद्वैत के अनुसार सत्वस्वरूप है न कि सत्वधर्मवाला। सत्वधर्म न रहने पर भी स्वरूपेण वह सत् है, इसलिए वह असत् नहीं है, अतः अतिव्याप्ति का प्रश्न नहीं उठता।

अस्तु पूर्वोक्त लक्षण में अर्थान्तरता की आपत्ति है, यह 'तुष्यतु दुर्जनः' इस न्याय से मान भी लिया जाए तो भी 'सत् प्रतियोगिकासत्प्रतियोगिक जो भेद तादृग भेदद्वय को साध्य करने पर किसी प्रकार से भी अर्थान्तरता का अवकाश नहीं है।[3] द्वैतवाद के मत में प्रपंच में असद्व्यतिरेकांश को लेकर तथा असद् भेद प्रपंच में सिद्ध ही है, ऐसा मानकर अंशतः सिद्धसाधन दोष भी नहीं दिया जा सकता, क्योंकि सत्प्रतियोगिकभेद अथवा असत् प्रतियोगिकभेद उद्देश्य नहीं है, अपितु उभयप्रतियोगिक भेद, ऐसा मिलित रूप से प्रतीति ही उद्देश्य है, और मिलित रूप से उद्देश्यप्रतीति का उदाहरण भी जयतीर्थाचार्य ने प्रमाणपद्धति में दिया है। 'गुणादिकं गुण्यादिना भिन्नाभिन्नं समानाधिकृतत्वात्'[4] इस प्रयोग में तार्किक मत में गुणादिकों का गुण्यादि से भिन्नत्व सिद्ध होने पर भी भिन्नाभिन्नत्वरूप मिलितरूप से असिद्ध मान कर ही उक्त न्याय-प्रयोग किया गया है। उक्त न्यायप्रयोग में मिलित उद्देश्य में जिस प्रकार अंशतः सिद्ध-साधन नहीं होता, उसी प्रकार प्रकृत में भी नहीं है।[5]

इसी प्रकार शुक्ति-रजत दृष्टान्त में साध्य-वैकल्प दोष भी नहीं है, क्योंकि किसी भी उपाधि में सत्वेन अप्रतीयमानत्व ही असत्व है। एवंरूप असत्व शुक्तिरजत में नहीं है। शुक्ति-रजत की प्रतीति भ्रमकालिक सर्वलोकविदित है। शुक्तिज्ञान से बाधित होने के कारण शुक्ति-रजत में त्रिकालाबाध्यत्वरूप सत्व नहीं है, अतः सत्व और असत्व का

---

1. आरोपितस्भास्ति किमर्थवत्ता अधिष्ठानमाभासि तथा भ्रमेण—विवेक चूड़ामणि, पृ० 237। शंकराचार्य, गीता प्रेस, 2010 सं
2. परपक्षगिरिबज्र, पृ० 116
3. अद्वैतसिद्धि, पृ० 57
4. वही, पृ० 59-78
5. मिलितप्रतीतेरुद्देश्यत्वान्नसिद्धसाधनम्।
   अद्वैतसिद्धि, पृ० 78

अभावरूप साध्य शुक्ति-रजत में रहने से उक्त दोष नहीं हुआ,[1] अतएव सदसत्वानाधिकरणत्वअनिर्वचनीयत्वमिथ्यात्व साध्य के तृतीय विकल्प 'सत्वात्यन्ताभाववत्वे सति असत्वात्यन्ताभावरूपं विशिष्टम्,' स्वीकार करने पर भी पूर्वोक्त अर्थान्तरादि दोष नहीं हैं।[2] साध्याप्रसिद्धि को लेकर अप्रसिद्धविशेषणतादोष भी नहीं दिया जा सकता, क्योंकि शुक्ति रूप्य में साध्य की प्रसिद्धि की जा चुकी है, अतएव पंचपादिकोक्त सदसत्वानधिकरणत्वरूप अनिर्वाच्यत्व मिथ्यात्वलक्षण निर्दोष सिद्ध हुआ।

मिथ्यात्व का द्वितीय लक्षण (विवरणकार प्रकाशात्मयति के अनुसार)

पंचपादिका विवरणकार प्रकाशात्मयति ने 'प्रतिपन्नोपाधावभावप्रतियोगित्वमेव मिथ्यात्वं नाम',[3] इस प्रकार मिथ्यात्व का लक्षण किया है। अद्वैत सिद्धिकार ने लक्षण को और स्पष्ट करने के लिए लक्षणस्थ अभाव पद के स्थान में 'त्रैकालिक निषेध' शब्द का प्रयोग किया है।[4] विवरणकार ने 'नेह नानास्ति' इस श्रुति का अनुसरण करते हुए यह लक्षण प्रस्तुत किया है। लक्षण का अर्थ है 'प्रतियोगी के आधाररूप से प्रतीत जो अधिकरण, एवं भूत अधिकरण में अत्यन्ताभाव का प्रतियोगित्व ही मिथ्यात्व है'। इस लक्षण में स्वाश्रय रूप से अभिमत अर्थात् 'प्रतिपन्नोपाधौ' इस पद के ग्रहण होने से आकाशकुसुमादि में मिथ्यात्व लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होगी।[5] आकाशकुसुम या शशविषाण अलीक पदार्थ है। अलीक पदार्थ की प्रतीति किसी भी आधार में नहीं होती। ब्रह्म में भी लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं है। ब्रह्म सकल पदार्थों का अधिष्ठान है, परन्तु ब्रह्म का कोई अधिष्ठान नहीं है, वह निरधिष्ठान है। आकाशादि प्रपंच लक्षण का लक्ष्य है। उसमें लक्षण जाता है, क्योंकि अद्वैत मत में आकाशादि सभी प्रपंच सद्ब्रह्माश्रित हैं, अतएव आकाशादि प्रपंच अन्याश्रित होने के कारण मिथ्या हैं। प्रकाशात्मयति द्वारा प्रदर्शित इस लक्षण में 'प्रतिपन्नोपाधि' पद के द्वारा प्रतिपत्ति अर्थात् ज्ञान की बात कही गई है। यह प्रतिपत्ति यथार्थरूप प्रतिपत्ति या भ्रान्तिरूप ? यदि प्रतिपत्ति यथार्थरूप है अर्थात् स्वाश्रय में वस्तुतः वह है, तब तो उस वस्तु का उस आधार में अत्यन्ताभाव असंभव हो जायेगा, अतएव वह वस्तु त्रैकालिक निषेध का प्रतियोगी कैसे होगी ? और प्रतिपत्ति को मिथ्या अर्थात् भ्रान्तिरूप प्रतिपत्ति स्वीकार करने पर लक्षण में सिद्धसाधनतादोष होगा, क्योंकि जहां जो वस्तु नहीं है वहाँ पर उस वस्तु का अत्यन्ताभाव तो प्रतिवादी को भी स्वीकार

---

1. एवं च सति न शुक्तिरूप्ये साध्यवैकल्यमपि।
   वही, पृ० 51
2. अद्वैतसिद्धि, पृ० 79
3. अ० पंचपादिका विवरण, पृ० 212 (कलकत्ता संस्करण)
4. प्रतिपन्नोपाधौ त्रैकालिक निषेधप्रतियोगित्वं वा मिथ्यात्वम्।
   अद्वैतसिद्धि, पृ० 94
5. शशविषाणाद्यसद् व्यावृत्यर्थं प्रतिपन्नत्वमुपाधिविशेषणम्। लघुचन्द्रिका पर विट्ठलेशोपाध्यायी टीका, पृ० 94

है। लक्षण में कुछ नई बात तो रही नहीं ? इस आक्षेप के निराकरण के लिए कहना होगा कि उक्त मिथ्यात्व लक्षण में प्रतिपन्नोपाधि पद द्वारा विवक्षित प्रतिपत्ति न भ्रम-रूप है और न प्रमारूप है, अपितु भ्रमप्रमा साधारणी प्रतिपत्ति ही विवक्षित है न कि किसी प्रकार विशेष प्रतिपत्ति। 'पर्वतो वह्निमान धूमात्' इस अनुमान में हेतु धूम, पर्वतीय अथवा महानसीय, इस प्रकार किसी विशेष धूम को हेतु नहीं कहा जा सकता, क्योंकि दोनों पक्ष ही दोषयुक्त हैं। पर्वतीय धूम को यदि हेतु मान लिया जाए तब महानस दृष्टान्त में पर्वतीय धूम के अभाव होने के कारण दृष्टान्त साध्यविकल होगा, और महानसीय धूम को हेतु लेने पर पक्षभूत पर्वत में महानसीय धूम के न रहने के कारण स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास होगा, अतएव सामान्य धूम को हेतु लिया जाता है, न कि महानसीय या पर्वतीय आदि विशेषरूप धूम को। इसी प्रकार प्रकृत लक्षण में प्रतिपत्ति से भ्रमप्रमासामान्य प्रतिपत्ति ली जायेगी, भ्रान्तिरूप या प्रमारूप नहीं।

पुनश्च शंका हो सकती है कि प्रतिपत्ति पद से यहाँ पर सामान्य प्रतिपत्ति का ग्रहण किया गया है न कि भ्रम या प्रमारूप विशेष, इस पर भी सिद्धसाधनता दोष तो रहेगा ही, क्योंकि अन्यथाख्यातिवादी[1] नैयायिक के मत में शुक्ति रजत विभ्रम स्थल में अन्यत्र स्थित (आपणस्थ) रजत की ही ज्ञानलक्षणासन्निकर्ष के द्वारा शुक्ति रजत के रूप में प्रतीति होती है और बाधबुद्धि के द्वारा शुक्ति में 'नेदं रजतम्' यह रजत नहीं है, इस प्रकार रजतत्व का बाध होता है। शुक्ति में उनके मत में भी रजत तो मिथ्या ही है। अन्यत्र आपण में सत्य रजत है, इसलिए शुक्ति में स्थित मिथ्या रजत अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी है। उसका बाध होता है, यह तो नैयायिक को भी स्वीकार है, अतः सिद्ध-साधनता दुर्वार है। इसके उत्तर में अद्वैतवेदान्ती का कहना है कि केवल मात्र 'प्रति-पन्नोपाधौ' न कहकर सर्वस्मिन् प्रतिपन्नोपाधौ,[2] ऐसा कहना होगा और ऐसा कहने पर सिद्धसाधन दोष नहीं हो सकेगा, क्योंकि आपणस्थ रजत प्रतिवादी के मत में अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी नहीं है। 'सर्वस्मिन्' विशेषण पद के द्वारा रजत के सभी आश्रय लिये जायेंगे, और वेदान्ती के मत में आपणस्थ रजत भी तदाश्रय में प्रतिपन्न होने के कारण अत्यन्ताभाव प्रतियोगितया मिथ्या है। परमार्थतः प्रातिभासिक एवं व्यावहारिक सभी प्रकार रजत प्रतिपन्नोपाधि में होने के कारण मिथ्या हैं।

पुनश्च शंका है—कि लक्षण में त्रैकालिक निषेध या अत्यन्ताभाव कहा गया है, वह त्रैकालिक निषेध तात्विक है या अतात्विक ? अतात्विक में भी प्रातिभासिक या व्याव-हारिक ? निषेध यदि तात्विक है और ब्रह्म भी तात्विक है तब तो अद्वैतवाद में दो तात्विक पदार्थ हुए—(1) तात्विक निषेध, (2) ब्रह्म। इस प्रकार अद्वैतवाद दो पदार्थों को सत्य मानने पर द्वैतवाद बन जायेगा, अतः अद्वैत की हानि हुई।[3]

---

1. इसी ग्रन्थ में अन्यथाख्याति—द्रष्टव्य
2. सर्वत्र प्रतिपन्नोपाधौ प्रतिपत्तिविषयीभूत-त्रैकालिकनिषेध-प्रतियोगित्वस्य विवक्षि-तत्वात्। अ० सि० सिद्धि व्याख्या, पृ० 94
   बलभद्र, निर्णय सागर, 1917
3. त्रैकालिकनिषेधस्य तात्विकत्वे अद्वैतहानिः। अद्वैतसिद्धि, पृ० 94, 95

निषेध को अतात्विक मानेंगे तो वह प्रातिभासिक या व्यावहारिक रूप होगा ? प्रथम पक्ष में अर्थात् अतात्विक निषेध को प्रातिभासिक मानने पर सिद्ध-साधन दोष होगा, क्योंकि जो प्रातिभासिक प्रपंच-निषेध है वह तत्प्रतियोगित्व प्रपंच के सत्यत्व का विरोधी नहीं है। प्रपंच का सत्यत्व तो प्रतिवादी के मत में सिद्ध ही है। उसी की साधना प्रतिवादी को तो इष्ट ही है।[1] अतात्विक निषेध को प्रातिभासिक स्वीकार करने पर अर्थान्तरता भी है, जिस प्रकार 'घटवत् भूतलम्' में घट प्रतियोगिक निषेध प्रातिभासिक होता है और वह दोषप्रयुक्त होता है, उसी प्रकार प्रपंच विशिष्ट ब्रह्म में प्रपंच प्रतियोगिक प्रातिभासिक निषेध भी आगन्तुक दोषप्रयुक्तभानरूप अध्यास ही सिद्ध होगा। सिद्धान्ती के मत में अध्यासरूप निषेध का प्रतियोगित्व प्रपंच में सिद्ध करने पर भी सिद्धान्तिअभिमत प्रतियोगी प्रपंच का मिथ्यात्व सिद्ध नहीं होगा। इस प्रकार सिद्धान्ती के प्रपंच मिथ्यात्वानुमान में प्रपंचसत्यत्ववादी सिद्धसाधन और अर्थान्तर दोनों ही दोषों का उद्भावन कर सकते हैं।[2]

प्रपंच निषेध को व्यावहारिक मान लेने पर भी अद्वैतवादी दोषमुक्त नहीं हो सकते, क्योंकि व्यावहारिक निषेध, व्यावहारिक प्रपंच के समान ब्रह्मज्ञानबाध्य है। व्यावहारिक प्रपंच सभी दृश्य हैं एवं दृश्यत्वेन मिथ्या हैं। इस प्रकार व्यावहारिक निषेध प्रपंच की तात्विक सत्ता का विरोधी नहीं है। प्रपंच की तात्विकता बनी ही रहेगी, तथा च अर्थान्तर दोष होगा।[3] अद्वैतमत में प्रतियोगी और निषेध के समसत्ताकत्व होने पर ही विरोध होगा, अधिकसत्ताकप्रतियोगी का न्यूनसत्ताकनिषेध प्रतियोगी का विरोधी नहीं।[4] विरोधिताप्रयुक्त व्यावहारिक प्रतियोगी के अधिकरण में व्यावहारिक निषेध नहीं रह सकता, अतः निषेध को जब व्यावहारिक कहा गया तब प्रतियोगी प्रपंच पारमार्थिकसत्तायुक्त होगा। त्रैकालिक निषेध को व्यावहारिक मानने पर अन्य दोष भी हैं। 'नेह नानाऽस्तिकिंचन' इत्यादि श्रुति प्रपंच के मिथ्यात्व का प्रतिपादन करती है। यदि अद्वैतवादी श्रुति द्वारा प्रतिपादित प्रपंचनिषेध को व्यावहारिक निषेध कहेंगे तब व्यावहारिक अर्थात् मिथ्याभूतनिषेध का प्रतिपादन करने वाली श्रुति का प्रामाण्य नहीं रह जायेगा। श्रुति का प्रामाण्य तत्वावेदकत्वेन माना जाता है। निषेध ब्रह्मज्ञान बाध्य है, इस कारण तात्विक नहीं और अतात्विक निषेध का कथन करती हुई श्रुति भी अप्रामाणिक हो जायेगी।[5]

इन प्रश्नों के उत्तर में अद्वैतवादी का कहना है कि त्रैकालिक निषेध अर्थात् अत्यन्ताभाव को तात्विक मान लेने पर किसी प्रकार असंगति नहीं होगी, क्योंकि अद्वैत-

---

1. प्रतिभासिकत्वे सिद्धसाधनात्। न्यायामृत श्री निवासीय सहित, पृ० 26
2. सिद्धि व्याख्या, पृ० 95
3. व्यावहारिकत्वे अपि तस्य बाध्यत्वेन तात्विकसत्वाविरोधित्वेन अर्थान्तरात्। न्यायामृत, पृ० 26
4. लघु चन्द्रिका, पृ० 96
5. अद्वैतश्रुतेरतत्वावेदकत्वापाताच्च। न्यायामृत, पृ० 26

वाद में अभाव को अधिकरणरूप माना जाता है,[1] अर्थात् यह जो कहा गया था कि अभाव को तात्विक मानने पर अद्वैतवाद की हानि होगी, ठीक नहीं है। परिदृश्यमान विश्वप्रपंच का आश्रय ब्रह्म में प्रपंच का निषेध ब्रह्मस्वरूप ही है, अतिरिक्त नहीं। अतिरिक्त स्वीकार करने पर तो द्वैतवाद आ ही जायेगा। और यह भी आक्षेप निराधार है कि प्रपंचनिषेध यदि तात्विक है तो उस सत्य या तात्विक निषेध का प्रतियोगी प्रपंच तात्विक हो जायेगा।[2] शुक्ति-रजत में प्रातिभासिक रजत का जो शुक्ति में अभाव है वह तो व्यावहारिक अभाव ही है। प्रातिभासिक रजत की अपेक्षा व्यावहारिक अभाव अधिक सत्य है, फिर भी व्यावहारिक सत्य अभाव के प्रतियोगी अध्यस्त रजत को सत्य रजत कहा नहीं जाता।

इस निषेध को अतात्विक भी मान लिया जाय तो भी क्षति नहीं है। अतात्विक होने पर भी अद्वैतवादी इसे प्रातिभासिक स्वीकार नहीं करते, क्योंकि वैसा करने पर तो सिद्धसाधन अनिवार्य है, अतएव प्रपंच निषेध को अद्वैतवादी व्यावहारिक ही स्वीकार करते हैं।[3] और जो यह कहा गया है कि प्रपंच निषेध यदि व्यावहारिक है और व्यावहारिक वस्तु-मात्र ही दृश्य है, तथा दृश्य मात्र ही मिथ्या है, मिथ्या मात्र ही बाध्य है या जो बाध्य है वही मिथ्या है, इस प्रकार व्यावहारिक होने से प्रपंच निषेध भी मिथ्या ही है, घटादि प्रपंच के अधिकरण से घटादि का अत्यन्ताभाव यदि मिथ्या है तो प्रपंच को सत्य होना ही चाहिए, यह आशंका भी निर्मूल है, क्योंकि सर्वत्र यह नियम लागू नहीं होता, अर्थात् निषेध के निषेध होने पर प्रतियोगी का सत्वस्थापित हो जाय, ऐसा सर्वत्र नियम नहीं है। उदाहरण के लिए स्वप्न में आरोपित वस्तु गजादिदर्शन, और उन गजादि का यदि स्वप्न में ही बाध हो जाता है, उस स्थिति में स्वप्न के गजादि तो आरोपित हैं ही और स्वप्न में दृष्टगजादि का स्वप्न में ही बाध भी आरोपित ही है। इसका अर्थ यह तो कभी नहीं हो सकता कि स्वप्न पदार्थ गजादि के स्वप्नबाध होने पर स्वप्नारोपित गजादि तात्विक हो जायेंगे। हां जागरण में स्वाप्नगजादि तथा स्वाप्न-गजादि का स्वाप्नबाध दोनों का बाध हो जाता है, अतः दोनों ही मिथ्या हो जाते हैं। इसी प्रकार व्यावहारिक प्रपंच का व्यावहारिक निषेध होता है। हैं दोनों ही मिथ्या। निषेध के मिथ्या होने पर प्रतियोगी सत्य हो जायेगा ऐसी आशंका युक्तिपूर्ण नहीं। पारमार्थिक अधिकरण के साक्षात्कार से निषेध और प्रतियोगी दोनों का बाध हो जाता है, अतएव दोनों ही मिथ्या हैं। निषेध के बाध्य होने से प्रपंच के पारमार्थिक होने में विरोध नहीं है, ऐसी बात नहीं। अभिप्राय यह है कि जहाँ पर निषेधनिषेध्य प्रतियोगी अपेक्षा न्यूनसत्ताक है वहीं पर निषेध्य प्रतियोगी पारमार्थिक सत्ता का अविरोधी होगा,

---

1. अद्वैतवाद के अनुसार अभाव अधिकरणस्वरूप है। न्याय के अनुसार अभाव एक अतिरिक्त पदार्थ है। 'भूतले घटाभावः' इसमें वेदान्ती के अनुसार घटाभाव भूतल के अतिरिक्त कुछ नहीं है, जबकि न्याय के अनुसार भूतल के अतिरिक्त पदार्थ है।
2. अद्वैतसिद्धि, पृ० 96, 97
3. वही, पृ० 99, 100

अर्थात् निषेध यदि अल्पसत्ताक है, तो प्रतियोगी पारमार्थिक हो सकता है। प्रकृत में प्रपंच निषेध अल्पसत्ताक होता तो प्रातिभासिक होता, तब प्रपंच अधिक सत्ताकतया निषेधापेक्षया सत्य होता, परन्तु यहाँ पर निषेध और प्रतियोगी दोनों ही समसत्ताक हैं,[1] इसलिए अर्थान्तर का अवकाश नहीं है। वहीं पर निषेध के निषेध से प्रतियोगी का सत्व माना जाता है जहाँ पर निषेध के निषेध का उद्देश्य ही प्रतियोगीसत्व का संस्थापन होता है। जैसे—सत्य रजत में किसी को भ्रम हुआ 'यह रजत नहीं है' और उसके पश्चात् सत्य रजत के मिथ्याभाव का बोध होता है, जैसे 'यह अरजत नहीं है, अपितु रजत है', ऐसे स्थल में निषेध के निषेध से प्रतियोगी का सत्व स्थापित होता है। प्रकृत में ऐसा नहीं है।[2] यहाँ पर आरोपित प्रतियोगी प्रपंच का आरोपित निषेध है और इस आरोपित निषेध को जब व्यावहारिक कहा जाता है तब वह भी बाध्य है, अर्थात मिथ्या है, क्योंकि दृश्यत्वादि धर्म प्रपंच और तदभाव दोनों में हैं, सुतरां दोनों मिथ्या हैं। यहाँ पर प्रतियोगी और उसके निषेध दोनों का निषेध होता है, अर्थात् यहाँ पर प्रतियोगी और निषेध दोनों ही निषेध्यतावच्छेदकवृत्ति हैं।[3] इस बात को समझाने के लिए उदाहरण प्रस्तुत किया गया है यथा—घटध्वंसकाल में घटध्वंसाधिकरणीभूत कपाल में जिस प्रकार घट और उसका अत्यन्ताभाव नहीं हैं, उसी प्रकार प्रागभाव भी नहीं है। एवंभूत कपाल में प्रागभाव की प्रतीति यदि किसी को हो तो उसे आरोपित ही कहना होगा। उस प्रागभाव के प्रतियोगी घट को भी आरोपित कहना होगा और प्रागभाग एवं तत्प्रतियोगी घट दोनों ही आरोपित हैं, अतएव दोनों का व्यावहारिक निषेध भी संभव है। यहां पर ध्यान देने की बात यह है कि आरोपित प्रागभाव के निषेध करने पर भी जिस प्रकार अभावप्रतियोगी घट का सत्वस्थापित नहीं होता, उसी प्रकार प्रकृत में भी समझना चाहिये। प्रपंच प्रतियोगिक निषेध व्यावहारिक है, और प्रतियोगी प्रपंच भी व्यावहारिक है। व्यावहारिक होने के कारण प्रपंच तथा प्रपंच निषेध दोनों में मिथ्यात्वानुमापक दृश्यत्वादि हेतु समान हैं। प्रतिपन्नोपाधौत्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्वरूप मिथ्यात्व प्रपंच और तद्भाव दोनों में दृश्यत्वादि हेतुबल से सिद्ध है, अतएय पूर्वपक्षी द्वारा निषेध के निषेध को लेकर प्रपंच की तात्विकत्वापत्ति निर्मूल है।[4]

पूर्वपक्ष की ओर से श्रुति प्रमाण के ऊपर आपेक्ष किया गया था कि मिथ्यात्वघटक त्रैकालिकनिषेध को व्यावहारिक स्वीकार करने पर 'नेहनानास्ति किंचन, मृत्योः स' इत्यादि अद्वैत प्रतिपादक श्रुतियों में भी अप्रामाणिकता आ जायेगी, क्योंकि ये श्रुतियाँ भी ब्रह्मप्रमाबाध्य व्यावहारिक निषेध की प्रतिपादकतया अतत्वावेदक हैं। इस प्रकार की आशंका का उत्तर अद्वैतवादी देते हैं कि प्रपंच का त्रैकालिक निषेध व्यावहारिक है, वह निषेध भी ब्रह्म प्रमाबाध्यतया अतात्विक है। उस अतात्विक निषेध का 'नेह

1. अद्वैतसिद्धि, पृ० 101
2. वही, पृ० 105
3. वही, पृ० 109, 110
4. वही, पृ० 106, 107, 109

नानाऽस्ति किंचन', 'एकमेवाद्वितीयं' इत्यादि अद्वैतप्रतिपादक श्रुतियाँ यदि तात्पर्यतः प्रतिपादन करतीं तब तो 'श्रुतेः अप्रामाण्यापत्तिः' अर्थात् अपारमार्थिकनिषेधबोधकत्व-प्रयुक्त अप्रमाण्यापत्ति होती, क्योंकि अबाधितार्थबोधकत्व प्रमाण और बाधितार्थबोध-कत्व अप्रमाण है।[1]

यहां पर 'तद्वतितत्प्रकारकबोधजनकत्व' को प्रामाण्य स्वीकार करने पर 'नेहनानाऽस्तिकिंचन' इत्यादि श्रुतियों के प्रामाण्य में आशंका नहीं होगी। यहाँ पर 'तत्वावेदकत्वं प्रामाण्यम्' ऐसा प्रमाण्य के लक्षण को मन में रखकर उक्त श्रुतियों में अप्रमाण्यता की शंका की गई है। तत्व का अर्थ तीनों कालों में अबाध्य वस्तु और जो कालत्रय में अबाध्य वस्तु का बोधक, वही प्रमाण है। प्रतिपन्नोपाधि में त्रैकालिक निषेध ब्रह्मप्रमा द्वारा बाध्य है, अतः वह कालत्रय में अबाध्य नहीं हुआ, सुतरां वह अतत्व ही हुआ। एवंभूत अतत्व को बोधन करने वाली श्रुति भी अप्रामाणिक ही है ?

इस पर अद्वैतवेदान्ती का उत्तर है कि पूर्वपक्षी की उक्त आशंका असंगत है, क्योंकि प्रपंच निषेधक श्रुतिओं का पारमार्थिक प्रामाण्य न होने पर भी व्यावहारिक प्रामाण्य तो है ही। व्यावहारिक अर्थात् मिथ्या वस्तु की प्रतिपादक श्रुतिओं का व्यावहारिक प्रमाण्य असंगत नहीं है। जहाँ पर जो धर्म नहीं वहां पर यदि उस धर्म का बोधक हो तो व्यावहारिक अप्रामाण्यता वहां पर होगी। प्रपंच और उसका निषेध यथार्थतः मिथ्या है और उन मिथ्या वस्तुओं का तद्रूप में प्रतिपादन कैसे अप्रमाण्य हो सकता है ? अतएव प्रपंचनिषेधक श्रुतिओं का व्यावहारिक प्रामाण्य स्वीकार करना ही पड़ेगा,[2] और यदि कालत्रयाबाध्य वस्तु के प्रतिपादक को ही तत्वावेदकरूप प्रमाण मानने का आग्रह है, तब तो 'नेह नानाऽस्ति किंचन' इत्यादि श्रुतिओं के द्वारा व्यावहारिक निषेध का प्रतिपादन करने के कारण उक्त श्रुतिओं का तत्वावेदकरूप प्रामाण्य नहीं है, यह तो अद्वैतवादी को भी इष्ट ही है, किन्तु तत्प्रकारकबोधजनकत्वरूप व्यावहारिक प्रमाण्य तो है ही। अखण्डार्थ प्रतिपादक 'तत्वमसि' एवं 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादि श्रुतिओं का तत्वावेदकत्वरूप प्रमाण्य है,[3] क्योंकि उक्त श्रुतिओं का प्रतिपाद्य विषय है शुद्धचैतन्य। वह शुद्धचैतन्य अखण्ड एवं कालत्रयों में अबाध्य वस्तु है, अतएव कालत्रया-बाध्यवस्तु के प्रतिपादक श्रुतिओं का तत्वावेदकत्वलक्षण प्रमाण्य संभव है।

इस पर प्रतिवादी पुनः शंका करते हैं कि 'प्रतिपन्नोपाधौ त्रैकालिक निषेध-प्रतियोगित्वम्' इस मिथ्यात्वलक्षण में अथवा 'नेह नानाऽस्ति किंचन' इत्यादि श्रुतिओं में 'नास्ति' पद द्वारा जो निषेध प्रतीत हो रहा है, उस निषेध का प्रतियोगितावच्छेदक धर्म क्या है ? अर्थात् निषेध प्रतियोगिता का अवच्छेदकधर्म स्वरूप है, या पारमार्थिकत्व ?[4] निषेध प्रतियोगी प्रपंच, प्रपंच का सामान्य स्वरूप दृश्यत्वादि और विशेष स्वरूप

1. अद्वैतसिद्धि, पृ० 110, 112
2. लघुचन्द्रिका, पृ० 112
3. लघुचन्द्रिका एवं विट्ठलेशोपाध्यायी, पृ० 112
4. अद्वैतसिद्धि, पृ० 12, 14

आकाशत्वादि हैं। एवंभूत निषेध प्रतियोगी का क्या वायु में रूपात्यन्ताभाव के समान स्वरूपतः अत्यन्ताभाव है ? और इसी प्रकार पुरोवर्तिवस्तु में रजत का भी स्वरूपतः अत्यन्ताभाव है ? या व्यावहारतः ? और प्रातिभासिकतः ? प्रतिपन्नो पाधि में घटादि प्रपंच के तथा पुरोवर्ती में रजत के रहते हुए ही पारमार्थिक रूप से प्रतिपन्नोपाधि में घटादि प्रपंच के तथा पुरोवर्ती में रजत के रहते हुए ही पारमार्थिक रूप से प्रतिपन्नोपाधि में प्रपंच का और पुरोवर्ति में रजत का अत्यन्ताभाव है। प्रथम पक्ष अर्थात् स्वरूपतः अत्यन्ताभाव स्वीकार करने पर द्वैतवादी का आक्षेप है कि ऐसा मानने पर प्रपंच और अद्वैत में प्रातिभासिक स्वीकृत शुक्ति रजत में अलीकत्वापत्ति हो जायेगी, तथा श्रुति-प्रमाणविरुद्ध हो जायेगा, क्योंकि श्रुति में प्रपंच की उत्पत्ति का वर्णन है। जिसकी उत्पत्ति है उसका विनाश भी है, यह युक्तिसिद्ध है। प्रपंच जब अलीक होगा उससे अर्थक्रिया नहीं बनेगा, अर्थात् व्यावहारिक सत्यवस्तु (माध्वादि के मत में परमार्थ वस्तु है) ही अर्थक्रिया में समर्थ है।[1] आकाशकुसुमादि अलीक पदार्थ अर्थक्रियासमर्थ नहीं हैं। जलाहरणकार्य घट से होता है, आकाशकुसुम से किसी प्रकार का कार्य नहीं होता। माध्वपक्ष से तृतीय दोष यह लगाया गया कि सिद्धान्ती ने असद् से विलक्षण बतलाने के लिए ही तो प्रपंच का उपादान अविद्या को स्वीकार किया है, इसमें श्रुति प्रमाण भी है। 'अजामेकां लोहित शुक्लकृष्णाम्' इत्यादि, इस प्रकार प्रपंच को अविद्योपादान स्वीकार करके सिद्धान्ती पुनः उसका स्वोपाधि में त्रैकालिक निषेध कैसे कहता है ? यदि प्रपंच का स्वरूप से ही निषेध कर दिया जायेगा तो वह तत्वज्ञाननाश्य भी नहीं हो सकेगा, ना ही उसकी सद्रूपता से प्रतीति ही होनी चाहिए ? परन्तु होती है। द्वितीय पक्ष पारमार्थिक प्रतियोगितावच्छेदक धर्म को स्वीकार करने पर भी नाना दोष हैं। प्रपंच की प्रतीति और अर्थक्रियादि का अपलाप नहीं किया जा सकता, इसलिए स्वरूपतः निषेध न करके घटादि प्रपंच अपने स्वरूप में रहते हुए भी पारमार्थिकाकारेण 'प्रतिपन्नोपाधौ प्रपंचोनास्ति' यह कहना पड़ेगा, इसी प्रकार शुक्ति-रजत में भी, परन्तु इस प्रकार बाधनिषेध द्वारा शुक्ति-रजत का निषेध नहीं हुआ, अपितु उसमें परमार्थिकत्व का ही निषेध हुआ है। इसी प्रकार प्रपंच का भी निषेध नहीं हुआ, उसमें पारमार्थिकत्व का निषेध हुआ। इसमें दोष अन्योन्याश्रय है, क्योंकि पारमार्थिकत्व का अर्थ अबाध्यत्व अर्थात् बाध्यत्वाभाव है। एवंभूत पारमार्थिकत्व का ज्ञान होने पर पारमार्थिकत्वघटित बाध्यत्वरूप मिथ्यात्व का ज्ञान होगा, और बाध्यत्वरूप मिथ्यात्वज्ञान होने पर बाध्यत्वाभावरूप अबाध्यत्वज्ञान होगा, वह पारमार्थिकत्व है, अतः ज्ञानगत अन्योन्याश्रय है, अतएव मिथ्यात्व का ज्ञान हो ही नहीं सकता, इसलिए 'पारमार्थिकत्वरूपेण त्रैकालिक-निषेधप्रतियोगित्वं मिथ्यात्वम्' यह लक्षण असिद्ध है।[2] रजत भ्रम के अनन्तर 'रजतं नास्ति, नासीत्, न भविष्यति' इस प्रकार स्वरूपतः रजत का निषेध प्रतीत होता है। परमार्थिकत्वरूप से निषेध कहने पर इस अनुभव का विरोध होता है। 'नेह नानाऽस्ति-किंचन' इस श्रुति से स्वरूपतः निषेध का ही बोध होता है।

1. न्यायामृत, पृ० 27
2. वही, पृ० 36

अब प्रतिवादी अनवस्था और अलीकत्वापत्ति दे रहे हैं। पूर्वोक्त पारमार्थिकत्व स्वयं पारमार्थिक नहीं है, क्योंकि बाध्यत्वाभावरूप अबाध्यत्व ही पारमार्थिकत्व है, और यह अभाव बाध्यत्वनिरूपित है, अतएव व्यावहारिक है, अतः पारमार्थिकत्व धर्म भी व्यावहारिक होकर व्यावहारिकपक्षक मिथ्यात्वानुमान के पक्ष के अन्तर्गत आ गया है, क्योंकि समस्त व्यावहारिक वस्तुओं को पक्ष बनाकर मिथ्यात्वानुमान की प्रवृत्ति है। पारमार्थिकत्व धर्म निर्धर्मक ब्रह्म का धर्म नहीं हो सकता, अतः ब्रह्म से भिन्न हुआ। सुसरां यह भी मिथ्या हुआ। यदि पारमार्थिकत्वरूप से त्रैकालिक निषेध प्रतियोगित्य ही मिथ्यात्व है, तब तो पारमार्थिकत्व धर्म भी मिथ्या है। पारमार्थिकत्व धर्म व्यावहारिक है, उसमें भी पारमार्थिकत्वरूप से मिथ्यात्व सिद्ध करना होगा, इस प्रकार अनवस्था हो जायेगी, अतएव पूर्वपक्षी का कहना है कि स्वरूपतः त्रैकालिक निषेधप्रतियोगित्वमिथ्यात्व कहने पर प्रतियोगी अत्यन्तासत्वापत्ति होगी। 'पारमार्थिकत्वरूपेण' त्रैकालिक निषेध-प्रतियोगित्वमिथ्यात्व कहने पर अन्योन्याश्रय और अनवस्थादि दोष होंगे, अतः 'प्रतिपन्नोपाधि में त्रैकालिक निषेध प्रतियोगित्वरूप मिथ्यात्व' असंभव है।[1]

अद्वैत वेदान्ती पूर्वपक्षकर्तृक उत्थापित विकल्पद्वय में से प्रथम अर्थात् "स्वरूपतः त्रैकालिक निषेधप्रतियोगित्व मिथ्यात्व" इस पक्ष को स्वीकार करता हुआ उद्भावित दोषों का निराकरण करते हैं। अधिष्ठान में आरोपित वस्तु का निषेध स्वरूपतः ही हुआ करता है, यह अनुभव सिद्ध है। इस अनुभव को प्रमाण मानते हुए सिद्धान्ती कहते हैं कि प्रपंच और शक्ति-रजत स्वरूपतः ही त्रैकालिक निषेध के प्रतियोगी हैं। प्रातिभासिक वस्तु जिस प्रकार स्वअधिष्ठान में त्रैकालिक निषेध का प्रतियोगी है उसी प्रकार व्यावहारिक प्रपंच भी स्व-अधिष्ठान ब्रह्म में स्वरूपतः त्रैकालिक-निषेध का प्रतियोगी है। इस मिथ्यात्वानुमान में शुक्तिरजत दृष्टान्त है। दृष्टान्त में शुक्तिरजत का स्वरूपतः त्रैकालिक निषेध-प्रतियोगित्व सिद्ध होने पर तदनुसार पक्षीकृत व्यवाहारिक प्रपंच में भी वह सिद्ध होगा।[2] शुक्ति में रजतभ्रम के अनन्तर अधिष्ठानतत्वसाक्षात्कार होने पर रजत वर्तमान में नहीं है, पहले भी नहीं था और पश्चात् भी नहीं रहेगा, इस प्रकार स्वरूपतः रजत के निषेध की प्रतीति होती है। इसी प्रकार 'नेह नानाऽस्ति' इस श्रुति से व्यावहारिक प्रपंच का भी स्वरूपतः निषेध प्रतीत होता है। रजतभ्रम के अनन्तर 'रजतं नास्ति' इस प्रकार के निषेध में व्यावहारिक अर्थात् लौकिक पारमार्थिक रजत ही उक्त निषेध का प्रतियोगी है, ऐसा नहीं कहा जा सकता, ऐसा होने पर वैयधि-करण्यदोष प्राप्त होगा।[3] 'इदं रजतं' इस भ्रमात्मक प्रतीति में इदं के साथ अभेदरूप से अनिर्वचनीय प्रातिभासिक रजत है, और निषेध का विषय हुआ लौकिक पारमार्थिक रजत, अर्थात् व्यावहारिक। भ्रम का विषय हुआ प्रातिभासिक रजत और बाध का विषय हुआ व्यावहारिक रजत, अतः भ्रम और बाध की विषयभिन्नता के कारण व्यधिकरणरूप

1. न्यायामृत, पृ० 27
2. अद्वैतसिद्धि-लघुचन्द्रिका, पृ० 120
3. अद्वैतसिद्धि एवं सिद्धिव्याख्या, पृ० 121

दोष प्रसक्त हुआ, क्योंकि दोनों के अधिकरण भिन्न-भिन्न हुए। ऐसा मानने पर अप्रसक्तप्रतिषेधरूप दोष होगा। प्रातिभासिक रजत का बाध हुआ ही नहीं जिसकी कि प्रसक्ति थी, अप्रसक्त लौकिक रजत का बाध हुआ। शुक्ति में व्यावहारिक रजत का तादात्म्य अद्वैतवादी नहीं मानते। ऐसा मानने पर उनको अन्यथाख्यातिवाद को स्वीकार करना पड़ेगा। अद्वैत के अनुसार शुक्ति के साथ तादात्म्यभावापन्न प्रातिभासिक रजत है, और निषेध भी उसी का होना चाहिए। अनुभव से भी यही सिद्ध है कि शुक्ति में प्रसक्त प्रातिभासिक रजत का ही निषेध होता है। स्वरूपतः निषेध-प्रतियोगी मानने पर पूर्वपक्ष की ओर से श्रुति-सिद्ध प्रपंच की उत्पत्ति आदि की असंभावना-दोष दिखाया गया था। इसका निरसन करते हुए अद्वैत वेदान्ती कहते हैं—स्वरूपतः निषेध-प्रतियोगी स्वीकार करने पर भी प्रपंच की उत्पत्यादि असंभव नहीं है, एवं शुक्ति में भी रजतभ्रम की असंभावना नहीं, क्योंकि उत्पत्ति आदिमत्व का व्याप्य अनिषिद्धस्वरूपत्व नहीं है। पूर्वपक्षी का यह सिद्धान्त कि जो अनिषिद्धस्वरूप है उसके उत्पत्यादि हैं और जिसके उत्पत्यादि हैं वह अनिषिद्धस्वरूप है। इस प्रकार की समव्यापकता सिद्ध नहीं है। इसमें व्यभिचार दोष है। पूर्वपक्षी के मत में वियदादिप्रपंच अनिषिद्धस्वरूप होने पर भी उत्पत्यादिविहीन हैं। पूर्वपक्ष के अनुसार जिस प्रकार अनिषिद्धस्वरूपत्वप्रयुक्त उत्पत्यादि स्वीकृत नहीं हैं उसी प्रकार अद्वैतवादी के अनुसार भी निषिद्धस्वरूप होने पर भी उत्पत्यादि असम्भव नहीं है। अनिषिद्धस्वरूपता में उत्पत्यादि की व्याप्ति नहीं है, अतः व्याप्ति भंग हुई।[1]

अद्वैतवादी अपना पक्ष स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि हमारे मत में उत्पत्यादिमत्व का प्रयोजक अविद्यादिषट्कभिन्न दृश्यत्व है। अविद्यादिषट् उत्पत्तिमत् नहीं है।[2] अतः तद्भिन्न कहा गया है। अनादि छः पदार्थों की उत्पत्ति नहीं मानी जाती, सादि दृश्य निषिद्धस्वरूप होते हुए उत्पत्ति आदिमान है। दृश्यमात्र की उत्पत्ति में 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' इत्यादि श्रुति प्रमाण है।[3] जिस प्रकार अनिषिद्धस्वरूपत्व उत्पत्यादिमत्व का व्याप्त नहीं है उसी प्रकार वह व्यापक भी नहीं है, क्योंकि उत्पत्यादिमान होने पर अनिषिध्यमान होगा, ऐसा नियम नहीं है। उत्पत्यादिविशिष्ट शुक्तिरजत में 'शुक्तौ रूप्यं नास्ति' एवं प्रकार अनुभव होता है, अतएव निषेधविषयक अनुभव सिद्ध है। इसी प्रकार 'यतो वा इमानि'—इत्यादि श्रुतिओं से उत्पत्यादिसिद्ध प्रपंच का भी 'नेह नानाऽस्ति' इस श्रुति से निषेध होता है। अनुभव और श्रुति द्वारा उत्पत्यादिमान का निषिद्धस्वरूपत्व सिद्ध है, अतः पूर्वपक्ष का आक्षेप कि निषिध्यमान वस्तु में उत्पात्यदि नहीं बन सकते, निराधार है। निषिद्धस्वरूप होते हुए उत्पत्ति जिस प्रकार संभव है, उसी प्रकार प्रपंच में अर्थक्रियादि भी संभव है। अर्थक्रियादि की सिद्धि के लिए वस्तु

---

1. अद्वैतसिद्धि, पृ० 121, 122
2. जीवईशोविशुद्धाचित् विभागश्चतयोर्द्वयोः
   अविद्या तच्चितोंयोगः षडस्माकमनादयः। लघुचन्द्रिका में उद्धृत, पृ० 122
3. तैत्तिरीयोपनिषद्—3 । 1

का सत्व होना कोई नियत हेतु नहीं है। एतदर्थ विद्यमानता ही पर्याप्त है। पूर्वक्षण में वर्तमानता ही अर्थक्रियादि के लिए पर्याप्त प्रयोजक है।[1] नृसिंहाश्रम ने अद्वैतदीपिका में इस पर पर्याप्त विचार किया है कि स्वयं सत्ता-शून्य वस्तु भी अर्थक्रियासमर्थ हो सकती है।[2] इसी प्रकार अविद्योपादानत्व, तत्वज्ञाननाश्यत्व और सद्रूप से प्रतीति आदि होने में भी कोई बाधा नहीं है। पुनश्च प्रतिवादी स्वरूपतः निषेध-प्रतियोगी स्वीकार करने पर आपत्ति उठाते हैं। यह आपत्ति स्वमत हानिरूप है। विवरणाचार्य ने पंचपादिका-विवरण में कहा है कि 'नेदं रजतम्' इस निषेध का प्रतियोगी आपणस्थ रजत है, न कि प्रातिभासित रजत। मधुसूदन सरस्वती ने अद्वैतसिद्धि में प्रातिभासिक रजत को ही निषेध का प्रतियोगी कहा है।[3] इस प्रकार पूर्वाचार्य विवरणाकार के साथ अद्वैतसिद्धिकार का मतैक्य नहीं हुआ, और स्वमत-हानि दोष हुआ। इस आक्षेप का उत्तर अद्वैतवादी यह कह कर देते हैं कि पूर्वपक्षी ने आचार्य वाक्य का आशय नहीं समझा है। आचार्यवाक्य का आशय व्यावहारिक आपणस्थ रजत को प्रतियोगी मानने का नहीं है, अपितु आचार्य वाक्य का आशय है कि प्रातिभासिक रजत आपणस्थ रजत के साथ तादात्म्यभावापन्न होकर निषेध का प्रतियोगी है, अर्थात् पारमार्थिकलौकिक रजत के साथ अभेदरूप से प्रतीत प्रातिभासिक रजत ही प्रतियोगी है। आचार्य वाक्य में "वा" शब्द का अन्वय स्वरूपेण पारमार्थिकत्वाकारेण वा, इस प्रकार करना होगा। इसका अर्थ है कि सिद्धान्ती के अनुसार स्वरूप या पारमार्थिकत्व दोनों में से कोई प्रतियोगिता-वच्छेदकधर्म हो सकता है। किसी एक पर आग्रह विशेष नहीं है। विवरणाचार्य की उक्ति के अनुसार ही मिथ्यात्व लक्षण की ऐसी व्याख्या की गई। आचार्य का वाक्य है—"प्रतिपन्नोपाधि में त्रैकालिक अभाव प्रतियोगित्व मिथ्यात्व है"। वह मिथ्यात्व प्रत्यक्ष ही है, क्योंकि बाधकज्ञान में प्रतिपन्नोपाधि में अभावप्रतियोगीरूप से रजत भासित होता है।[4] प्रतिपन्नोपाधि में निषेधप्रतियोगी के रूप में भासमान रजत प्रातिभासिक ही हो सकता है, व्यावहारिक नहीं। पुरोवर्ती वस्तु में प्रातीतिक रजत ही भ्रम में भासता है। पूर्वपक्ष द्वारा प्रदर्शित अनवस्था-दोष का परिहार करने के लिए पारमार्थिकत्व का अर्थ 'ज्ञानानिवर्त्यमात्रविशेष्यकधी' करना होगा, ऐसा अर्थ करने पर अनवस्था-दोष नहीं होगा। ज्ञान के द्वारा जिसकी निवृत्ति न हो, एवंभूत वस्तुविशेष्यक-ज्ञान ही यहां पर पारमार्थिकत्व है। ज्ञान द्वारा अनिवर्त्य वस्तु ब्रह्म और अलीक हैं। ब्रह्म और अलीक दोनों ही अकल्पित हैं, अतः दोनों की निवृत्ति ज्ञान से नहीं हो सकती। इनमें से अलीकविशेष्यक ज्ञान सम्भव नहीं है, अतएव ज्ञानानिवर्त्यमात्रविशेष्यकधी से

---

1. अद्वैतसिद्धि—असतः साधकत्वाभावे बाधकनिरूपणम्, पृ० 443—451 द्रष्टव्य
2. अद्वैतदीपिका, पृ० 66, नृसिंहाश्रम, वाराणसी, 1919
3. अद्वैतसिद्धि, पृ० 123
4. पंचपादिका-विवरण, पृ० 113 (कलकत्ता संस्करण) अनन्तकृष्ण सम्पादित, 1933

एकमात्र ब्रह्मविशेष्यक धी ही लेनी होगी, और यही धी पारमार्थिकत्वरूप है। यही उक्त प्रतियोगिता का अवच्छेदक होगी, अर्थात् विशेष्यतासम्बन्ध से उक्त धी ही प्रतियोगिता का अवच्छेदक होगी। विशेष्यता-सम्बन्ध से यह धी ज्ञान द्वारा अनिवर्त्य ब्रह्मवस्तु में ही रहेगी, ज्ञान निवर्त्य प्रपंच में नहीं, अतः उक्त धी रूप अवच्छेदक धर्म प्रपंच-निष्ठ प्रतियोगिता का व्याधिकरण धर्म है, क्योंकि प्रपंच मात्र ही ज्ञान निवर्त्य है, अतएव 'विशेष्यता-सम्बन्ध से उक्त धीरूप धर्म से अवच्छिन्न 'त्रैकालिक-निषेध-प्रतियोगित्व ही मिथ्यात्व है', ऐसा कहने पर अन्योन्याश्रयादि दोष नहीं होंगे, क्योंकि उक्त धीरूप अवच्छेदक धर्म का ज्ञान द्वितीयमिथ्यात्वज्ञान सापेक्ष नहीं है।

इसी प्रकार अनवस्था भी सम्भव नहीं है, क्योंकि ज्ञानानिवर्त्य मात्र विशेष्यक धीरूप से समस्त दृश्य का निषेध करने पर उस निषेध की प्रतियोगिता जिस प्रकार सम्पूर्ण दृश्य में रहेगी उसी प्रकार उक्त धी में भी रहेगी, वह भी तो दृश्य है, अतः उक्त पारमार्थिकत्वरूप से सर्वदृश्यमात्र के निषेध करने पर सर्वदृश्य के साथ पारमार्थिकत्व का भी निषेध हो जाएगा। पारमार्थिकत्व के निषेध करने के लिए दूसरी धी की आवश्यकता नहीं है। प्रपंच के निषेध के बाद भी पारमार्थिकत्व के अनिषिद्ध रह जाने पर अनवस्था-दोष दिया जा सकता था। दृश्यत्व से उसका भी निषेध होने पर अनवस्था की आशंका निर्मूल है। आचार्यवाक्य के अनुसार आपणस्थ रूप्य को ही बाध का प्रतियोगी मानेंगे तो भ्रम और बाध में वैयधिकरण्य दोष होगा। भ्रान्त व्यक्ति पुरोवर्ती वस्तु में प्रातिभासिक रजत का दर्शन करता है और उसको व्यावहारिक रजत समझकर प्राप्त करने के लिए जाता है। रजत की प्राप्ति न होने पर व्यावहारिक रजत के साथ तादात्म्यभावापन्न प्रातिभासिक रजत की बाध-बुद्धि उत्पन्न होती है। चित्सुखाचार्य ने भी आचार्य वाक्य को उद्धृत करके कहा है— 'इदं रजतं न भवति" इत्याकारक बाधक ज्ञान में प्रातिभासिक रजत लौकिक रजत नहीं है, ऐसा बोध होता है। यह अन्योन्याभाव है। अत्यन्ताभाव के लिए तो प्रातिभासिक रजत ही निषेध का प्रतियोगी है, क्योंकि शुक्ति में व्यावहारिक रजत का निषेध संभव नहीं है। इसकी प्रसक्ति ही नहीं, ऐसा हमने पूर्व पृष्ठों में विचार किया है, अतः जहां हर पूर्वाचार्य द्वारा व्यावहारिक रजत का निषेध किया हुआ अर्थ का बोध होता है वहां पर अनुयोगी शुक्ति नहीं, अपितु प्रातिभासिक रजत है और प्रतियोगी व्यावहारिक रजत, अतएव अन्योन्याभाव सिद्ध हुआ। इसी आशय को चित्सुखाचार्य ने तत्वप्रदीपिका में व्यक्त किया है—"तस्माल्लौकिकपरमार्थरजतमेव नेदं रजतमिति निषेधप्रतियोगीति पूर्वाचार्यवाचोयुक्तिरपि पुरोवर्तिनि रजतार्थिनः प्रवृत्तिदर्शनात् लौकिक रजतात्मत्वेना परोक्षतया प्रतीतस्य कालत्रयेऽपि लौकिकरजतमिदं न भवतीति निषेधप्रतियोगितामंगीकृत्य नेतव्या"।[1] इसका तात्पर्य है कि पूर्वाचार्य अर्थात् विवरणकार ने जिस व्यावहारिक रजत को "नेदं रजतम्" इस निषेध का प्रतियोगी कहा है—वह इदं अर्थात् प्रातिभासिक रजत लौकिक पारमार्थिक 'रजतं न भवति' व्यावहारिक नहीं है। अभिप्राय यह है कि प्रातिभासिक

1. चित्सुखी, पृ० 80

रजत व्यावहारिक रजत से भिन्न है, इस प्रकार भेदरूप निषेध की प्रतियोगिता तो व्यावहारिक रजत में है ही। अत्यन्ताभाव की प्रतियोगिता व्यावहारिक रजत में कैसे रह सकती है ?

अद्वैतसिद्धिकार पूर्वोक्त दोनों आचार्यों के वाक्यों का आशय प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि पंचपादिका-विवरणकार के "नेदं रजतं" इस प्रकार के बाधज्ञान को यदि अन्योन्याभाव-विषयक मान लिया जाए तो भी रजत का अर्थात् प्रातिभासिक रजत का आंशिक मिथ्यात्व सिद्ध हो जाएगा। प्रातीतिक रजत में परमार्थरजत का भेद प्रतीत होने पर ऐसा भान होता है कि प्रतीत रजत परमार्थरजत से भिन्न है, अतएव मिथ्यात्व रूप से अर्थात् प्रतिपन्नोपाधिनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वरूप से भासित हुआ था, अतः अत्यन्ताभाव प्रतियोगित्वरूप जो मिथ्यात्व, वह उक्त बाधोक्त भेदज्ञान-लभ्य है। इस कारण विवरणाचार्य ने अत्यन्ताभाव प्रतियोगित्व को मिथ्यात्व कहा है। पंचपादिका में उक्त भेद-विषयक बाधज्ञान का भी अत्यन्ताभाव-विषयक ज्ञान में पर्यवसान है, इसलिए पंचपादिका में भी भेद-विषयक बाधज्ञान दिखाकर प्रतिपन्नरजत को मिथ्या कहा है। जहां पर "इदं रजतं" ऐसा भ्रमानुभव होता है वहां पर 'नेदं रजतम्' ऐसा निषेध होता है और जहां पर 'अत्र रजत' वहां पर 'नात्र रजतं' ऐसा बाध होता है। यह अनुभव सिद्ध है।[1]

अब पूर्वपक्ष की ओर से शंका यह की जाती है कि यदि प्रपंच मात्र का स्वरूपतः त्रैकालिक निषेधरूप मिथ्यात्व सिद्ध हुआ, तब तो शश-विषाणादि के समान प्रपंच में भी अत्यन्तासत्वापत्ति होगी, क्योंकि समस्त प्रपंच स्वाधिकरणभिन्न स्थान में अर्थात् प्रतिपन्नोपाधि से भिन्न स्थान में स्वरूपतः नहीं रहता यह तो सर्ववादिविदित है। स्वाधिकरण भिन्न स्थान में जिसका स्वरूपतः अत्यन्ताभाव सिद्ध है उसका अपने अधिकरण में भी अत्यन्ताभाव स्वरूपतः मानने पर उसका अलीकत्व ही तो हुआ ?[2] अतः असद् वैलक्षण्य भी प्रपंच को नहीं कहा जा सकता, क्योंकि असत् भी तो कहीं पर नहीं रहता ?[3] अतः अर्थान्तरता दोष कहा जा सकता है। इससे अद्वैतवादी शून्यवाद में प्रविष्ट हो जाएंगे।

अद्वैतवेदान्ती इस आपत्ति का निराकरण करते हुए कहते हैं कि मिथ्यात्वानुमान में "सत्वेन प्रतीत्यर्हम्" अर्थात् 'सत्वप्रकारकप्रतीतिविषयत्व' को पक्ष विशेषण रूप से कहा गया है, जिसका तात्पर्य हुआ 'पूर्वोक्त विशेषण-विशिष्ट पक्ष-प्रतिपन्नोपाधि में त्रैकालिकनिषेध-प्रतियोगित्वरूप मिथ्यात्व' ऐसा कहने पर प्रपंच में अलीकत्वापत्ति नहीं दी जा सकती, और अर्थान्तरता भी नहीं है। प्रपंच किंचिद्धर्मनिष्ठ सत्वरूप से प्रतीत होता है। अलीक आकाशकुसुमादि कभी भी सत्वेन प्रतीत नहीं होते। अद्वैतसिद्धिकार का कहना है कि प्रातिभासिक वस्तु सदधिष्ठान कल्पित है और अलीक

1. अद्वैतसिद्धि, पृ० 130
2. वही, पृ० 134, 135
3. वही, पृ० 136

निरधिष्ठानकल्पित है। शशविषाणादि का कोई अधिष्ठान नहीं, किन्तु शुक्तिरजत कभी निरधिष्ठान नहीं होता। बाध से पूर्व शुक्ति-रजत एवं प्रपंच की प्रतीति सत्वरूप से होती है, अतः असद्-विलक्षण तो हुआ ही।[1] शुक्ति-रजत की शुक्ति के साथ तादात्म्य-प्रतीति होती है, एवं सद्वस्तु ब्रह्म के साथ प्रपंच की भी तादात्म्यप्रतीति होती है, किन्तु अलीक की किसी के साथ तादात्म्यप्रतीति नहीं होती, इसलिए अतिव्याप्ति और अर्थान्तरता की आशंका निराधार है। मिथ्यात्व-लक्षण में जो उपाधि पद है उस पद से अबाध्य सद्वस्तु का निर्देश है, उसी सद्वस्तु की सत्ता के साथ तादात्म्यभावापन्न प्रपंच भी सत्-सा भासता है, अतः सद्वस्तु की स्वीकृति होने के कारण अद्वैतवादी शून्यवाद में प्रविष्ट नहीं होते।[2] अद्वैतवाद के अनुसार अलीक आकाश-कुसुमादि की असत्ता और अनिर्वचनीय विश्व-प्रपंच की असत्ता एक जातीय असत्ता नहीं है। जो कभी किसी भी आश्रय में सद्रूप से प्रतीत नहीं होता वही अलीक असत्व है। आकाशकुसुम शशविषाण आदि शब्दों से एक प्रकार शब्दबुद्धि उत्पन्न होती है। यह एक प्रकार विकल्पवृत्ति-विशेष है। अनिर्वचनीय विश्वप्रपंच अथवा प्रातिभासिक शुक्तिरजत प्रभृति की असत्ता या सत्ता उससे विलक्षण है, क्योंकि ब्रह्मसाक्षात्कार अथवा शुक्तिसाक्षात्कार के पूर्व तक ब्रह्म में प्रपंच की और शुक्ति में रजत की सत्वरूप से प्रतीति होती है, इसलिए यह असद्-विलक्षण है और त्रिकालाबाध्यसत्व न होने के कारण प्रपंच ब्रह्मसत्ता से भी विलक्षणसत्व है, अतः अनिर्वचनीय कहा गया है।

नैयायिक की ओर से यह शंका की गई कि 'प्रतिपन्नोपाधो त्रैकालिक निषेध प्रतियोगित्वम् मिथ्यात्वम्' इसके अर्थ के अनुसार संयोग सम्बन्ध से भूतल में घट है, उसी भूतल में (प्रतिपन्नोपाधौ) समवाय सम्बन्ध से घटाभाव तो हमें इष्ट ही है। एवं च कपाल में समवाय सम्बन्ध से घट है, उसी प्रतिपन्नोपाधि में संयोग सम्बन्ध से घटाभाव है ही, अतः अद्वैतवेदान्ती के मिथ्यात्व लक्षण में सिद्धसाधनता-दोष है।[3] इस आशंका का उत्तर अद्वैतवादी इस प्रकार देते हैं—जिस सम्बन्ध विशेष से जिस अवच्छेद विशेष से जो जिसका अधिकरणरूप से प्रतीत होता है, उस अधिकरण में उस सम्बन्ध-विशेष से, उस अवच्छेदक विशेष से तदधिकरणनिष्ठ अत्यन्ताभाव-प्रतियोगित्व ही मिथ्यात्व है।[4] पुनश्च शंका द्वारा अर्थान्तरता प्रदर्शित करते हैं—संयोग विभागादि को अव्याप्यवृत्ति कहा जाता है। एवंभूत संयोग विभागादि जिस आधार में होते हैं उसी आधार में अव्याप्यवृत्ति होने के कारण अपरांश में उनका अभाव भी रहता है। कपि-संयोगी वृक्ष में शाखावच्छेदेन संयोग है और मूलावच्छेदेन संयोगाभाव है, अतः मिथ्यात्व-लक्षण उनमें अतिव्याप्त है,[5] तथा अर्थान्तरता भी। इसका उत्तर अद्वैतवादी

1. अद्वैतसिद्धि, पृ० 139, 140
2. वही, पृ० 140-150
3. वही, पृ० 150
4. वही, पृ० 105
5. वही, पृ० 151

देते हैं कि अंशभेद तो मानना ही पड़ेगा, कपिसंयोगी वृक्ष में शाखा को ही संयोगाधिकरण मानना पड़ेगा, मूल को नहीं, अतः व्याधिकरण तो हुआ ही। ऋजुविवरणकार ने प्रतिपन्नोपाधि शब्द के द्वारा ही संयोगादि में अतिव्याप्ति आदि का निराकरण किया है। "संयोगादेः प्रतिपन्नोपाधावभावप्रतियोगित्वमेव [नास्ति"[1] अन्यथा एक में ही भावाभाव रहने लग जायेंगे तब भाव-अभाव का विरोध ही समाप्त हो जाएगा और ऐसा संभव नहीं है।[2] अद्वैतसिद्धिकार अर्थान्तरता का निराकरण करते हुए कहते हैं— जिस आधार में जो वस्तु जिस रूप में जिस सम्बन्ध से है उस आधार में उस वस्तु के उस रूप में उस सम्बन्ध से अत्यन्ताभाव रहने पर उसका मिथ्यात्व सिद्ध है, अतएव कपिसंयोगी वृक्ष में कपिसंयोग का आधार भिन्न होने के कारण मिथ्यात्व का वह लक्ष्य ही नहीं। तथा च अतिव्याप्ति, सिद्धसाधनता या अर्थान्तरता की आशंका व्यर्थ है।[3] माध्वप्रदर्शित अर्थान्तरतादि दोष परिहार करने के लिए धर्मराज-अध्वरीन्द्र ने वेदान्तपरिभाषा में मिथ्यात्व का लक्षण करते हुए लक्षण में 'यावत्' पद समाविष्ट किया।[4] 'वृक्षकपिसंयोगी' में यावत् वृक्ष में तो कपिसंयोगाभाव नहीं है, अतः वृक्षमूलस्थ संयोगाभाव के प्रतियोगी कपिसंयोग आलोच्य मिथ्यात्वलक्षण का लक्ष्य ही नहीं हुआ। वस्तुतः वेदान्ती संयोग को अव्याप्यवृत्ति नहीं मानते, इसलिए उक्त दोष की शंका ही नहीं होती।

पूर्वपक्ष की ओर से यह आशंका की गयी कि "सएव अधस्तात्' इत्यादि श्रुति द्वारा निम्नादि प्रदेश में आत्मा है, ऐसा बोध होता है। इसका अर्थ हुआ पूर्वोत्तरादि प्रदेश आत्मा का प्रतिपन्नोपाधि है, इसी प्रकार 'सएव अद्यः' 'सएव उश्वः' इत्यादि श्रुति द्वारा बोधित काल भी आत्मा का प्रतिपन्नोपाधि हुआ। ब्रह्म के साथ किसी वस्तु का किसी प्रकार से पारमार्थिक सम्बन्ध नहीं हो सकता, अतएव ऐसा कहा जा सकता है— देशकालादि आधार में अर्थात् 'प्रतिपन्नोपाधौ पारमार्थिकत्वरूपेण त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्व' ब्रह्म में है, अतः अतिव्याप्तिदोष हुआ। इसका उत्तर अद्वैतवादी इस प्रकार देते हैं कि ब्रह्म निर्धर्मक है, इस कारण उसमें निषेध-प्रतियोगित्वादि धर्म नहीं हैं,[5] अतः मिथ्यात्व का लक्षण ब्रह्म में अतिव्याप्त नहीं है। यदि कहा जाय ब्रह्म में सत्यत्वादि धर्म कैसे रहते हैं ? सत्यत्वादि धर्म निषेधात्मक हैं अर्थात् सत्यत्व मिथ्यात्व का निषेधरूप है। चित् जड़ का निषेधरूप है। इसी प्रकार आनन्द भी दुःख का निषेधरूप है। यह पूर्व ही कहा जा चुका है कि अभाव अद्वैत के अनुसार अधिकरणस्वरूप है। इसी प्रकार

---

1. ऋजुविवरण, पृ० 212 (ब्र० शा० भा० पं० पादिकादिटीका, कलकत्ता, 1933)
2. भावाभावयोरेकदैकत्र सत्वविरोधात्। तत्वदीपन, पृ० 212 (ब्र० शा० भा० पं० पादिकादिटीका, कलकत्ता, 1933)
3. अद्वैतसिद्धि, पृ० 151
4. मिथ्यात्वं च स्वाश्रयत्वेनाभिमतयावन्निष्ठात्यन्ताभावप्रगियोमित्वम्। वेदान्तपरिभाषा, पृ० 94, 95, धर्मराजाध्वरीन्द्र, चौखम्बा, सं० 2011।
5. अद्वैतसिद्धि, पृ० 156

विभुत्व, पूर्णत्वादि धर्म भी अभावरूप समझना चाहिए।[1]

तृतीयमिथ्यात्व लक्षण (विवरणाचार्य के अनुसार) —

'ज्ञान निवर्त्यंवं वा मिथ्यात्वम्'[2]—ज्ञान द्वारा जिसका बाध हो वही मिथ्या है। विवरणाचार्य प्रकाशात्मयति के अनुसार—'बाध्यत्य मिथ्यात्व है'[3] और यह बाध्यत्व प्रतिपन्नोपाधि में अभाव प्रतियोगित्वरूप अथवा ज्ञाननिवर्त्यत्व रूप है। इनमें से प्रतिपन्नोपाधि में अभाव-प्रतियोगित्वरूप मिथ्यात्व का निरूपण 'नेह नानाऽस्ति किंचन' इस श्रुत्यानुसारी है और ज्ञाननिवर्त्यत्वरूप मिथ्यात्वलक्षण 'विद्वान् नामरूपाद विमुक्तः' इत्यादि श्रुत्यनुसार है। विवरणकार द्वारा प्रदर्शित मिथ्यात्व का यह द्वितीय लक्षण अर्थात् मिथ्यात्व लक्षणों में तृतीयलक्षण अन्याचार्यों द्वारा भी समर्थित है। वार्तिककार सुरेश्वराचार्य ने भी 'तत्वमस्यादि वाक्योत्थ-सम्यक्धी जन्ममात्रतः'[4] इस कथन के द्वारा इस लक्षण का उल्लेख किया है।

इस लक्षण में पूर्व पक्षी दोष दिखाते हुए कहते हैं 'ज्ञान निवर्त्यत्व ही मिथ्यात्व है' ऐसा कहने पर जिस किसी रूप में ज्ञान-निवर्त्यत्व लिया जा सकता है अर्थात् स्वोत्तरवर्ति योग्य विभु-विशेषगुणत्वरूप से भी ज्ञान द्वारा निवर्त्यत्व लिया जा सकता है। ऐसा अर्थ करने पर उत्तर-ज्ञान द्वारा निवर्तनीय पूर्वज्ञान में मिथ्यात्वलक्षण की अतिव्याप्ति होगी,[5] जैसाकि 'अयं घटः' ऐसा मुझे ज्ञान हुआ पश्चात्—'अयं पटः'—ऐसा ज्ञान हुआ, इस प्रक्रिया में 'अयं पटः' इस उत्तर ज्ञान के उत्पन्न होने से 'अयं घटः' यह पूर्वज्ञान नष्ट हो जाता है, ऐसा नियम है और अनुभव से भी सिद्ध है, अतएव उत्तरज्ञान द्वारा पूर्वज्ञान का नाश हुआ और मिथ्यात्व-लक्षण की अतिव्याप्ति पूर्वज्ञान में हुई, क्योंकि उत्तर ज्ञान द्वारा नाश्य पूर्वज्ञान विनाशी तो है, पर वह मिथ्या नहीं। अलक्ष्य में लक्षण के जाने से अतिव्याप्ति हुई, अतएव सिद्धसाधनता-दोष होगा। दृश्यत्वादि हेतु द्वारा इस प्रकार के मिथ्यात्व की सिद्धि करने पर अंशतः सिद्धसाधनता है, क्योंकि पूर्वज्ञान में ज्ञान-निवर्त्यत्व पूर्वपक्षी भी स्वीकार करते हैं और मुद्गर पातादि द्वारा निवर्त्य अतीत घटादि में लक्षण को अव्याप्ति होगी, क्योंकि मुद्गर या दण्ड प्रहार से जो घट नष्ट हो चुका है, सिद्धान्त पक्ष में तो वह मिथ्या ही है। उस मिथ्या अतीत घट में लक्षण नहीं पहुंचा, क्योंकि वह अतीत घट ज्ञान द्वारा निवर्त्य नहीं, अपितु मुद्गरादि

1. अद्वैतसिद्धि, पृ० 156
2. वही, पृ० 160
3. बाधकज्ञानसिद्धस्य प्रतिपन्नोपाधावभावप्रतियोगित्वलक्षणस्य मिथ्या वस्य पुनः स्वशब्देन परामर्शाच्च बाधविषयो मिथ्यात्वमिति। पंचपादिका-विवरण, पृ० 213
   अनन्तकृष्ण शास्त्री सम्पादित, कलकत्ता, 1933
4. वेदान्तप्रक्रियाप्रत्यभिज्ञा (वार्तिकप्रस्थान परीक्षा), पृ० 220
5. अद्वैतसिद्धि, पृ० 160

द्वारा निवर्त्य है और यदि सिद्धान्ती 'ज्ञानत्वेन ज्ञाननिवर्त्यत्वं वा मिथ्यात्वम्'[1] ऐसा कहते हैं, तब अर्थ होगा—'ज्ञानत्वावच्छिन्नकारणतानिरूपितकार्यतावत् जो नाश,[2] तन्नाशप्रतियोगित्व मिथ्यात्व' इस प्रकार के अर्थ करने पर भी मद्गरादि द्वारा नष्ट घटादि में अव्याप्ति तो रहेगी ही, और मिथ्यात्वानुमान का दृष्टान्त भी साध्यविकल है, क्योंकि शुक्तिज्ञान द्वारा रजत का नाश हो गया, ऐसा अनुभव असिद्ध है। इसी प्रकार प्रपंच नाश के प्रति ब्रह्मज्ञान की भी कारणता नहीं है।[3] यह लक्षण असंभव-दोष युक्त भी है, क्योंकि अपरोक्ष अध्यास का निवर्तक ज्ञान को भी अपरोक्ष ही होना चाहिए, परोक्ष ज्ञान के द्वारा अपरोक्ष अध्यास की निवृत्ति कैसे हो सकती है? अतः शुक्ति-रजतादि अधिष्ठानतत्वसाक्षात्कारत्वरूप से ज्ञान निवर्त्य होने पर भी ज्ञानत्वेन ज्ञान-निवर्त्य नहीं है। यदि सिद्धान्ती पूर्वोक्त दोषों को दूर करने के लिए 'ज्ञानत्वव्याप्यधर्मेण ज्ञान-निवर्त्यत्वं मिथ्यात्वम्'[4] ऐसा कहे तो भी अतिव्याप्ति दोष से मुक्ति नहीं है, जैसेकि ज्ञानत्वव्याप्यधर्म स्मृतित्व और उस स्मृतित्वरूप से ज्ञान-निवर्त्यत्व संस्कार में है। संस्कारों से स्मृति उत्पन्न होती है। पश्चात् स्मृतिजनक संस्कार नष्ट हो जाते हैं, अतः संस्कार में स्मृतिनाश्यत्व है और स्मृतिनाश्यत्वप्रयुक्त मिथ्यात्व संस्कार में अतिव्याप्त है।[5] यदि अद्वैतवादी कहे कि संस्कार में स्मृतिनाश्यत्व होने पर भी नाशकतावच्छेदक धर्म स्मृति नहीं अपितु उत्तरवर्ती आत्मविशेषगुणत्व ही है, अतः ज्ञानत्वव्याप्यधर्मपुरः सर स्मृति संस्कारनाशक नहीं है, आत्मविशेषगुणत्व तो ज्ञानत्वव्याप्य धर्म है नहीं। इस प्रकार अद्वैतवादी का दोषमुक्त होने का प्रयास व्यर्थ है, क्योंकि स्मृति स्मृतित्वरूप से ही संस्कार का ही निवर्तक है। आत्मविशेष गुणत्वरूप से निवर्तक मानने पर इच्छा, कृति द्वेषादि को भी, आत्मविशेषगुण होने के कारण संस्कार निवर्तक मानना पड़ेगा।[6] ज्ञान प्रागभाव भी ज्ञाननिवर्त्य है, परन्तु मिथ्या नहीं। इस प्रकार 'विद्वान् नामरूपाद् विमुक्तः' इत्यादि श्रुति द्वारा नामरूप की निवृत्ति प्रतिपादित होने पर भी नाम-रूप का मिथ्यात्व सिद्ध नहीं होता, यही पूर्वपक्ष का आशय है।[7]

पूर्वपक्ष की ओर से उक्त प्रकार आशंकाओं के करने पर अद्वैतवेदान्ती उत्तर देते हैं कि मिथ्यात्वलक्षण असंभव नहीं है। 'ज्ञाननिवर्त्य' का अर्थ हम इस प्रकार नहीं करते जैसाकि पूर्वपक्षी ने किया है। 'ज्ञाननिवर्त्यत्व' से हमारा तात्पर्य है 'ज्ञानप्रयुक्ता-वस्थितिसामान्यविरह-प्रतियोगित्वम्'[8] अर्थात् ज्ञानप्रयुक्त अवस्थितिसामान्य का

1. अद्वैतसिद्धि, पृ० 160
2. लघुचन्द्रिका, पृ० 160
3. वही, पृ० 160
4. अद्वैतसिद्धि, पृ० 160
5. वही, पृ० 160
6. सिद्धिव्याख्या, पृ० 160
7. लघुचन्द्रिका, पृ० 160
8. अद्वैतसिद्धि, पृ० 160

अत्यन्ताभाव, उसका प्रतियोगित्व ही ज्ञाननिवर्त्यत्व का अर्थ है और एवंभूत प्रतियोगित्व ही मिथ्यात्व है। ज्ञान पद से अधिष्ठानतत्वज्ञान लेना है, अर्थात् अधिष्ठानतत्वज्ञान-व्यापक जो अवस्थितिसामान्य का अत्यन्ताभाव तत्प्रतियोगित्व मिथ्यात्व है।[1]

अवस्थिति दो प्रकार की है—स्वरूपतः अवस्थिति और कारण रूप से अवस्थिति,[2] अर्थात् स्थूलरूप से और सूक्ष्मरूप से अवस्थिति। संस्काररूप से अवस्थिति ही कारणरूपावस्थिति है। सामान्यपद द्वारा दोनों अवस्थितियों का ग्रहण है, जिसका अर्थ होगा—'अधिष्ठानतत्वज्ञानव्यापक जो स्व और स्वीय संस्कार, एतदन्यतर का अत्यन्ताभावप्रतियोगित्व ही मिथ्यात्व है। स्थूलरूपातिरिक्त पटादि के सूक्ष्मरूप से अवस्थान का अनुभव न होने पर भी कार्य का कारणरूप से सूक्ष्मावस्थान अद्वैतमत में स्वीकार्य है, क्योंकि अद्वैतवादी भी सत्कार्यवादी है[3] 'तद्वै दं तर्हि अव्याकृतमासीत्' इत्यादि श्रुति से प्रलयकाल में भी कार्य की अनभिव्यक्तरूप अवस्थिति सिद्ध है। दण्डादिप्रहार द्वारा 'घटोनष्टः' इत्यादि लौकिक प्रत्यय से भी नाश प्राप्त घट, घट की उत्तरावस्था है, ऐसा सिद्ध है।[4]

अद्वैतवेदान्ती अब अव्याप्ति-दोष निराकरण के लिए अपना पक्ष प्रस्तुत करते हैं। लक्षण में 'अवस्थितिसामान्य का अभाव' पद के ग्रहण होने से मुद्गर-पातादि द्वारा घट के नाश होने पर भी वहां पर अव्याप्ति नहीं है, क्योंकि दण्डप्रहारध्वस्त घट का स्वरूपतः नाश हो जाने पर भी उसकी कारणरूप से अवस्थिति है, अतः अवस्थिति सामान्य का विरह नहीं हुआ।[5] घट की अवस्थितिसामान्य का विरह ब्रह्मज्ञानप्रयुक्त होगा, न कि मुद्गरादिपात द्वारा। पूर्वोक्त लक्षण में 'ज्ञानप्रयुक्त' पद गृहीत न होने पर शशविषाणादि में अतिव्याप्ति होगी, क्योंकि अवस्थिति-सामान्यविरह तो शशविषाणादि का भी है, परन्तु शशविषाणादि में ज्ञानप्रयुक्तत्व नहीं हो सकता, अतः अलीक पदार्थों में अतिव्याप्तिदोष नहीं है।[6]

पूर्वपक्षी का कथन कि 'शुक्तिरजत नष्ट हो गया' ऐसा अनुभव नहीं होता, अतएव 'ज्ञानप्रयुक्तावस्थितिसामान्यविरहप्रतियोगित्व' शुक्ति रजत में नहीं है, अतः दृटान्त साध्यविकल है और लक्षण में अव्याप्ति दोष भी है, अयौक्तिक है। माध्वमत ही पर्याप्त है। पूर्वक्षण में वर्तमानता ही अर्थक्रियादि के लिए पर्याप्त प्रयोजक है।[7] नृसिंहाश्रम ने अद्वैतदीपिका में इस पर पर्याप्त विचार किया है कि स्वयं सत्ता-शून्य वस्तु भी अर्थक्रियासमर्थ हो सकती है।[8] इसी प्रकार अविद्योपादानत्व, तत्वज्ञान-नाश्यत्व और

1. लघुचन्द्रिका, पृ० 160
2. अद्वैतसिद्धि, पृ० 160, 161
3. सत्कार्यवादाभ्युपगमात्, वही
4. लघुचन्द्रिका, पृ० 161
5. अद्वैतसिद्धि, पृ० 161, 162
6. वही, पृ० 163, 164
7. अद्वैतसिद्धि, असतः साधकत्वाभावे बाधकनिरूपणम्, पृ० 443—451 द्रष्टव्य।
8. अद्वैतदीपिका, पृ० 66, नृसिंहाश्रम, वाराणसी, 1919।

सद्रूप से प्रतीति आदि होने में भी कोई बाधा नहीं है। पुनश्च प्रतिवादी स्वरूपतः निषेध-प्रतियोगी स्वीकार करने पर आपत्ति उठाते हैं। यह आपत्ति स्वमत हानिरूप है। विवरणाचार्य ने पंचपादिका-विवरण में कहा है कि 'नेदं रजतम्' इस निषेध का प्रतियोगी आपणस्थ रजत है, न कि प्रातिभासिक रजत। मधुसूदन सरस्वती ने अद्वैतसिद्धि में प्रातिभासिक रजत को ही निषेध का प्रतियोगी कहा है।[1] इस प्रकार पूर्वाचार्य विवरणाकार के साथ अद्वैतसिद्धिकार का मतैक्य नहीं हुआ, और स्वमत-हानि दोष हुआ। इस आक्षेप का उत्तर अद्वैतवादी यह कहकर देते हैं कि पूर्वपक्षी ने आचार्य वाक्य का आशय नहीं समझा है। आचार्यवाक्य का आशय व्यावहारिक आपणस्थ रजत को प्रतियोगी मानने का नहीं है, अपितु आचार्य वाक्य का आशय है कि प्रातिभासिक रजत आपणस्थ रजत के साथ तादात्म्यभावापन्न होकर निषेध का प्रतियोगी है, अर्थात् पारमार्थिकलौकिक रजत के साथ अभेदरूप से प्रतीत प्रातिभासिक रजत ही प्रतियोगी है। आचार्य वाक्य में "वा" शब्द का अन्वय स्वरूपेण पारमार्थिकत्वाकारेण वा, इस प्रकार करना होगा। इसका अर्थ है कि सिद्धान्ती के अनुसार स्वरूप या पारमार्थिकत्व दोनों में से कोई प्रतियोगितावच्छेदक-धर्म हो सकता है।[2] किसी एक पर आग्रह विशेष नहीं है। विवरणाचार्य की उक्ति के अनुसार ही मिथ्यात्व लक्षण की ऐसी व्यवस्था की गई। आचार्य का वाक्य है—"प्रतिपन्नोपाधि में त्रैकालिक अभाव प्रतियोगित्व मिथ्यात्व है"। वह मिथ्यात्व प्रत्यक्ष ही है, क्योंकि बाधक-ज्ञान में प्रतिपन्नोपाधि में अभावप्रतियोगीरूप से रजत भासित होता है।[3] प्रतिपन्नोपाधि में निषेधप्रतियोगी के रूप में भासमान रजत प्रातिभासिक ही हो सकता है, व्यावहारिक नहीं। पुरोवर्ती वस्तु में प्रातीतिक रजत ही भ्रम में भासता है। पूर्वपक्ष द्वारा प्रदर्शित अनवस्था-दोष का परिहार करने के लिए पारमार्थिकत्व का अर्थ 'ज्ञानानिवर्त्यमात्र-विशेष्यकधी' करना होगा, ऐसा अर्थ करने पर अनवस्था-दोष नहीं होगा। ज्ञान के द्वारा जिसकी निवृत्ति न हो, एवंभूत वस्तुविशेष्यक-ज्ञान ही यहाँ पर पारमार्थिकत्व है। ज्ञान द्वारा अनिवर्त्य वस्तु ब्रह्म और अलीक है। ब्रह्म और अलीक दोनों ही अकल्पित हैं, अतः दोनों की निवृत्ति ज्ञान से नहीं हो सकती। इनमें से अलीकविशेष्यक ज्ञान सम्भव नहीं है, अतएव ज्ञानानिवर्त्यमात्रविशेष्यकधी से एकमात्र ब्रह्मविशेष्यक धी ही लेनी होगी, और यही धी पारमार्थिकत्वरूप है। यही उक्त प्रतियोगिता का अवच्छेदक होगी, अर्थात् विशेष्यता-सम्बन्ध से उक्त धी ही प्रतियोगिता का अवच्छेदक होगी। विशेष्यता-सम्बन्ध से यह धी ज्ञान द्वारा अनिवर्त्य ब्रह्मवस्तु में ही रहेगी, ज्ञान निवर्त्य प्रपंच में नहीं, अतः उक्त धीरूप अवच्छेदक धर्म प्रपंच-निष्ठ प्रतियोगिता का व्यधिकरण धर्म है, क्योंकि प्रपंच मात्र ही ज्ञान निवर्त्य है, अतएव 'विशेष्यता-सम्बन्ध' से उक्त धीरूप धर्म से अवच्छिन्न-'त्रैकालिक-निषेध-प्रतियोगित्व ही मिथ्यात्व है', ऐसा कहने पर अन्योन्याश्रयादि दोष नहीं होंगे,

1. अद्वैतसिद्धि, पृ० 123
2. वही, पृ० 124
3. पंचपादिका-विवरण, पृ० 113 (कलकत्ता संस्करण) अनन्तकृष्ण सम्पादित, 1933

क्योंकि उक्त धीरूप अवच्छेदक धर्म का ज्ञान द्वितीयमिथ्यात्वज्ञान सापेक्ष नहीं है।

इसी प्रकार अनवस्था भी सम्भव नहीं है, क्योंकि ज्ञानानिवर्त्य मात्र विशेष्यक धीरूप से समस्त दृश्य का निषेध करने पर उस निषेध की प्रतियोगिता जिस प्रकार सम्पूर्ण दृश्य में रहेगी, उसी प्रकार उक्त धी में भी रहेगी, वह भी तो दृश्य है, अतः उक्त पारमार्थिकत्वरूप से सर्वदृश्यमात्र के निषेध करने पर सर्वदृश्य के साथ पारमार्थिकत्व का भी निषेध हो जाएगा। पारमार्थिकत्व के निषेध करने के लिए दूसरी धी की आवश्यकता नहीं है। प्रपंच के निषेध के बाद भी पारमार्थिकत्व के अनिषिद्धि रह जाने पर अनवस्था-दोष दिया जा सकता था। दृश्यत्व से उसका भी निषेध होने पर अनवस्था की आशंका निर्मूल है। आचार्यवाक्य के अनुसार आपणस्थ रूप्य को ही बाध का प्रतियोगी मानेंगे तो भ्रम और बाध में वैयधिकरण्य दोष होगा। भ्रान्त व्यक्ति पुरोवर्ती वस्तु में प्रातिभासिक रजत का दर्शन करता है और उसको व्यावहारिक रजत समझकर प्राप्त करने के लिए जाता है। रजत की प्राप्ति न होने पर व्यावहारिक रजत के साथ तादात्म्यभावापन्न प्रातिभासिक रजत की बाध-बुद्धि उत्पन्न होती है। चित्सुखाचार्य ने भी आचार्य वाक्य को उद्धृत करके कहा है—"इदं रजतं न भवति" इत्याकारक बाधक ज्ञान में प्रातिभासिक रजत लौकिक रजत नहीं है, ऐसा बोध होता है। यह अन्योन्याभाव है। अत्यन्ताभाव के लिए तो प्रातिभासिक रजत ही निषेध का प्रतियोगी है, क्योंकि शुक्ति में व्यावहारिक रजत का निषेध संभव नहीं है। इसकी प्रसक्ति ही नहीं, ऐसा हमने पूर्व पृष्ठों में विचार किया है, अतः जहां पर पूर्वाचार्य द्वारा व्यावहारिक रजत का निषेध किया हुआ अर्थ का बोध होता है वहां पर अनुयोगी शुक्ति नहीं, अपितु प्रातिभासिक रजत है और प्रतियोगी व्यावहारिक रजत, अतएव अन्योन्याभाव सिद्ध हुआ। इसी आशय को चित्सुखाचार्य ने तत्वप्रदीपिका में व्यक्त किया है—"तस्माल्लौकिकपरमार्थरजतमेव नेदं रजतमिति निषेधप्रतियोगीति पूर्वाचार्यवाचोयुक्तिरपि पुरोवर्तिनि रजतार्थिनः प्रवृत्तिदर्शनात् लौकिक रजतात्मत्वेना परोक्षतया प्रतीतस्य कालत्रयेऽपि लौकिकरजतमिदं न भवतीति निषेधप्रतियोगितामंगीकृत्य नेतव्या"।[1] इसका तात्पर्य है कि पूर्वाचार्य अर्थात् विवरणकार ने जिस व्यावहारिक रजत को "नेदं रजतम" इस निषेध का प्रतियोगी कहा है—वह इदम् अर्थात् प्रातिभासिक रजत लौकिक पारमार्थिक 'रजतं न भवति' व्यावहारिक नहीं है। अभिप्राय यह है कि प्रातिभासिक रजत व्यावहारिक रजत से भिन्न है, इस प्रकार भेदरूप निषेध की प्रतियोगिता तो व्यावहारिक रजत में है ही। अत्यन्ताभाव की प्रतियोगिता व्यावहारिक रजत में कैसे रह सकती है?

अद्वैतसिद्धिकार पूर्वोक्त दोनों आचार्यों के वाक्यों का आशय प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि पंचपादिका-विवरणकार के "नेदं रजतं" इस प्रकार के बाधज्ञान को यदि अन्योन्याभाव-विषयक मान लिया जाय तो भी रजत का अर्थात् प्रातिभासिक रजत का आर्थिक मिथ्यात्व सिद्ध हो जायेगा। प्रातीतिक रजत में परमार्थरजत का भेद प्रतीत होने पर ऐसा भान होता है कि प्रतीत रजत परमार्थरजत से भिन्न है, अतएव मिथ्यात्व

1. चित्सुखी, पृ० 80

रूप से अर्थात् प्रतिपन्नोपाधिनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वरूप से भासित हुआ था, अतः अत्यन्ताभाव प्रतियोगित्वरूप जो मिथ्यात्व, वह उक्त बाधोक्त भेदज्ञान-लभ्य है। इस कारण विवरणाचार्य ने अत्यन्ताभाव प्रतियोगित्व को मिथ्यात्व कहा है। पंचपादिका में उक्त भेद-विषयक बाधज्ञान का भी अत्यन्ताभाव-विषयक ज्ञान में पर्यवसान है, इसलिए पंचपादिका में भी भेद-विषयक बाधज्ञान दिखाकर प्रतिपन्नरजत को मिथ्या कहा है। जहां पर 'इदंरजतं' ऐसा भ्रमानुभव होता है वहां पर 'नेदं रजतम्' ऐसा निषेध होता है और जहां पर 'अत्र रजतं' वहां पर 'नात्र रजतं' ऐसा बाध होता है। यह अनुभव सिद्ध है।[1]

अब पूर्वपक्ष की ओर से यह शंका की जाती है कि यदि प्रपंच मात्र का स्वरूपतः त्रैकालिक निषेधरूप मिथ्यात्व सिद्ध हुआ, तब तो शश-विषाणादि के समान प्रपंच में भी अत्यन्तासत्वापत्ति होगी, क्योंकि समस्त प्रपंच स्वाधिकरणभिन्न स्थान में अर्थात् प्रतिपन्नोपाधि से भिन्न स्थान में स्वरूपतः नहीं रहता यह तो सर्ववादिविदित है। स्वाधिकरण भिन्न स्थान में जिसका स्वरूपतः अत्यन्ताभाव सिद्ध है उसका अपने अधिकरण में भी अत्यन्ताभाव स्वरूपतः मानने पर उसका अलीकत्व ही तो हुआ ?[2] अतः असद् वैलक्षण्य भी प्रपंच को नहीं कहा जा सकता, क्योंकि असत् भी तो कहीं पर नहीं रहता ?[3] अतः अर्थान्तरता दोष कहा जा सकता है। इससे अद्वैतवादी शून्यवाद में प्रविष्ट हो जायेंगे।

अद्वैतवेदान्ती इस आपत्ति का निराकरण करते हुए कहते हैं कि मिथ्यात्वानुमान में "सत्वेन प्रतीत्यर्हम्" अर्थात् 'सत्वप्रकारकप्रतीतिविषयत्व' को पक्ष विशेषण रूप से कहा गया है, जिसका तात्पर्य हुआ 'पूर्वोक्त विशेषण-विशिष्ट पक्ष-प्रतिपन्नोपाधि में त्रैकालिकनिषेध प्रतियोगित्वरूप मिथ्यात्व' ऐसा कहने पर प्रपंच में अलीकत्वापत्ति नहीं दी जा सकती, और अर्थान्तरता भी नहीं है। प्रपंच किंचिद्धर्मनिष्ठ सत्वरूप से प्रतीत होता है। अलीक आकाशकुसुमादि कभी भी सत्वेन प्रतीत नहीं होते। अद्वैतसिद्धिकार का कहना है कि प्रातिभासिक वस्तु सदधिष्ठान कल्पित है और अलीक निरधिष्ठान-कल्पित है। शशविषाणादि का कोई अधिष्ठान नहीं, किन्तु शुक्तिरजत कभी निरधिष्ठान नहीं होता। बाध से पूर्व शुक्ति-रजत एवं प्रपंच की प्रतीति सत्वरूप से होती है, अतः असद्-विलक्षण तो हुआ ही।[4] शुक्ति-रजत की शुक्ति के साथ तादात्म्यप्रतीति होती है, एवं सद्वस्तु ब्रह्म के साथ प्रपंच की भी तादात्म्यप्रतीति होती है किन्तु अलीक की किसी के साथ तादात्म्यप्रतीति नहीं होती, इसलिए अतिव्याप्ति और अर्थान्तरता की आशंका निराधार है। मिथ्यात्व-लक्षण में जो उपाधि पद है उस पद से अबाध्य सद्वस्तु का निर्देश है, उसी सद्वस्तु की सत्ता के साथ तादात्म्यभावापन्न प्रपंच भी सत्-सा भासता है, अतः

1. अद्वैतसिद्धि, पृ० 130
2. वही, पृ० 134, 135
3. वही, पृ 136
4. वही, पृ० 130, 140

सद्वस्तु की स्वीकृति होने के कारण अद्वैतवादी शून्यवाद में प्रविष्ट नहीं होते।[1] अद्वैतवाद के अनुसार अलीक आकाश-कुसुमादि की असत्ता और अनिर्वचनीय विश्व-प्रपंच की असत्ता एक जातीय असत्ता नहीं है। जो कभी किसी भी आश्रय में सद्रूप से प्रतीत नहीं होता वही अलीक असत्व है। आकाशकुसुम शशविषाण आदि शब्दों से एक प्रकार शाब्दबुद्धि उत्पन्न होती है। यह एक प्रकार विकल्पवृत्तिविशेष है। अनिर्वचनीय विश्वप्रपंच अथवा प्रातिभासिक शुक्तिरजत प्रभृति की असत्ता या सत्ता उससे विलक्षण है, क्योंकि ब्रह्मसाक्षात्कार अथवा शुक्तिसाक्षात्कार के पूर्व तक ब्रह्म में प्रपंच की और शुक्ति में रजत की सत्वरूप से प्रतीति होती है, इसलिए यह असद्-विलक्षण है और त्रिकालाबाध्यसत्व न होने के कारण प्रपंच ब्रह्मसत्ता से भी विलक्षणसत्व है, अतः अनिर्वचनीय कहा गया है।

नैयायिक की ओर से यह शंका की गई कि 'प्रतिपन्नोपाधौ त्रैकालिक निषेध प्रतियोगित्वम् मिथ्यात्वम्' इसके अर्थ के अनुसार संयोग सम्बन्ध से भूतल में घट है, उसी भूतल में (प्रतिपन्नोपाधौ) समवाय सम्बन्ध से घटाभाव तो हमें इष्ट ही है। एवं च कपाल में समवाय सम्बन्ध से घट है, उसी प्रतिपन्नोपाधि में संयोग सम्बन्ध से घटाभाव है ही, अतः अद्वैतवेदान्ती के मिथ्यात्व लक्षण में सिद्धसाधनता-दोष है।[2] इस आशंका का उत्तर अद्वैतवादी इस प्रकार देते हैं—जिस सम्बन्ध विशेष से जिस अवच्छेद से जो जिसका अधिकरणरूप से प्रतीत होता है, उस अधिकरण में उस सम्बन्ध-विशेष से, उस अवच्छेदक विशेष से तदधिकरणनिष्ठ अत्यन्ताभाव-प्रतियोगित्व ही मिथ्यात्व है।[3] पुनश्च शंका द्वारा अर्थान्तरता प्रदर्शित करते हैं—संयोग विभागादि को अव्याप्यवृत्ति कहा जाता है। एवंभूत संयोग विभागादि जिस आधार में होते हैं उसी आधार में अव्याप्य-वृद्धि होने के कारण अपरांश में उनका अभाव भी रहता है। कपि-संयोगी वृक्ष में शाखा-वच्छेदेन संयोग है और मूलावच्छेदेन संयोगाभाव है, अतः मिथ्यात्व-लक्षण उनमें अतिव्याप्त है,[4] तथा अर्थान्तरता भी। इसका उत्तर अद्वैतवादी देते हैं कि अंशभेद तो मानना ही पड़ेगा, कपिसंयोगी वृक्ष में शाखा को ही संयोगाधिकरण मानना पड़ेगा, मूल को नहीं, अतः व्यधिकरण तो हुआ ही। ऋजुविवरणकार ने प्रतिपन्नोपाधि शब्द के द्वारा ही संयोगादि में अतिव्याप्ति आदि का निराकरण किया है। "संयोगादेः प्रतिपन्नोपाधावभावप्रतियोगित्वमेव नास्ति"[5] अन्यथा एक ही में भावाभाव रहने लग जायेंगे तब भाव-अभाव का विरोध ही समाप्त हो जायेगा और ऐसा संभव नहीं है।[6]

---

1. अद्वैतसिद्धि, पृ० 140-150
2. वही, पृ० 150
3. वही, पृ० 105
4. वही, पृ० 151
5. ऋजुविवरण, पृ० 212 (ब्र०शा०भा०पं० पादिकादिटीका, कलकत्ता, 1933)
6. भावाभावयोरेकदैकत्र सत्वविरोधात्। तत्वदीपन, पृ० 212 (ब्र०शा०भा०पं० पादिकादिटीका, कलकत्ता, 1933)

अद्वैतसिद्धिकार अर्थान्तरता का निराकरण करते हुए कहते हैं—जिस आधार में जो वस्तु जिस रूप में जिस सम्बन्ध से है उस आधार में उस वस्तु के उस रूप में उस सम्बन्ध से अत्यन्ताभाव रहने पर उसका मिथ्यात्व सिद्ध है, अतएव कपिसंयोगी वृक्ष में कपिसंयोग का आधार भिन्न होने के कारण मिथ्यात्व का वह लक्ष्य ही नहीं। तथा च अतिव्याप्ति, सिद्धसाधनता या अर्थान्तरता की आशंका व्यर्थ है।[1] माध्वप्रदर्शित अर्थान्तरतादि दोष परिहार करने के लिये धर्मराज-अध्वरीन्द्र ने वेदान्तपरिभाषा में मिथ्यात्व का लक्षण करते हुए लक्षण में 'यावत्' पद समाविष्ट किया।[2] 'वृक्षकपिसंयोगी' में यावत् वृक्ष में तो कपिसंयोगाभाव नहीं है, अतः वृक्षमूलस्थ संयोगाभाव के प्रतियोगी कपिसंयोगी आलोच्य मिथ्यात्वलक्षण का लक्ष्य ही नहीं हुआ। वस्तुतः वेदान्ती संयोग को अव्याप्य-वृत्ति नहीं मानते, इसलिए उक्त दोष की शंका ही नहीं होती।

पूर्वपक्ष की ओर से यह आशंका की गयी कि 'सएव अधस्तात्' इत्यादि श्रुति द्वारा निम्नादि प्रदेश में आत्मा है, ऐसा बोध होता है। इसका अर्थ हुआ पूर्वोत्तरादि प्रदेश आत्मा का प्रतिपन्नोपाधि हैं, इसी प्रकार 'सएव अद्यः' 'सएव उश्वः' इत्यादि श्रुति द्वारा बोधित काल भी आत्मा का प्रतिपन्नोपाधि हुआ। ब्रह्म के साथ किसी वस्तु का किसी प्रकार से पारमार्थिक सम्बन्ध नहीं हो सकता, अतएव ऐसा कहा जा सकता है—देशकालादि आधार में अर्थात् 'प्रतिपन्नोपाधौ पारमार्थिकत्वरूपेण त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्व' ब्रह्म में है, अतः अतिव्याप्तिदोष हुआ। इसका उत्तर अद्वैतवादी इस प्रकार देते हैं कि ब्रह्म निर्धर्मक है, इस कारण उसमें निषेध-प्रतियोगित्वादि धर्म नहीं है।[3] अतः मिथ्यात्व का लक्षण ब्रह्म में अतिव्याप्त नहीं है। यदि कहा जाय ब्रह्म में सत्यत्वादि धर्म कैसे रहते हैं? सत्यत्वादि धर्म निषेधात्मक हैं अर्थात् सत्यत्व मिथ्यात्व का निषेधरूप है। चित् जड़ का निषेधरूप है। इसी प्रकार आनन्द भी दुःख का निषेधरूप है। यह पूर्व ही कहा जा चुका है कि अभाव अद्वैत के अनुसार अधिकरणस्वरूप है। इसी प्रकार विभुत्व, पूर्णत्वादि धर्म भी अभावरूप समझना चाहिए।[4]

तृतीयमिथ्यात्व लक्षण (विवरणाचार्य के अनुसार)—

'ज्ञान निवर्त्यं वा मिथ्यात्वम्'[5]—ज्ञान द्वारा जिसका बाध हो वही मिथ्या है। विवरणाचार्य प्रकाशात्मयति के अनुसार–'बाध्यत्व मिथ्यात्व है'[6] और यह बाध्यत्व

---

1. अद्वैतसिद्धि, पृ० 151
2. मिथ्यात्वं च स्वाश्रयत्वेनाभिमतयावन्निष्ठात्यन्ताभावप्रगियोमित्वम्। वेदान्त-परिभाषा, पृ० 94,95, धर्मराजाध्वरीन्द्र, चौखम्बा, सं 2011
3. अद्वैतसिद्धि, पृ० 156
4. वही, पृ० 156
5. वही, पृ० 160
6. बाधकज्ञानसिद्धस्य प्रतिपन्नोपाधावभावप्रतियोगित्वलक्षणस्य मिथ्या वस्य पुनः स्वशब्देन परामर्शाच्च बाधविषयो मिथ्यात्वमिति। पंचपादिका-विवरण—पृ० 213

प्रतिपन्नोपाधि में अभाव प्रतियोगित्वरूप अथवा ज्ञाननिवर्त्यत्व रूप है। इनमें से प्रतिपन्नोपाधि में अभाव-प्रतियोगित्वरूप मिथ्यात्व का निरूपण 'नेह नानाऽस्ति किंचन' इस श्रुत्यानुसारी है और ज्ञाननिवर्त्यत्वरूप मिथ्यात्वलक्षण 'विद्वान् नामरूपाद विमुक्तः' इत्यादि श्रुत्यनुसार है। विवरणकार द्वारा प्रदर्शित मिथ्यात्व का यह द्वितीय लक्षण अर्थात् मिथ्यात्व लक्षणों में तृतीयलक्षण अन्याचार्यों द्वारा भी समर्थित है। वार्तिककार सुरेश्वराचार्य ने भी 'तत्वमस्यादि वाक्योत्थ-सम्यक्धी जन्ममात्रतः'[1] इस कथन के द्वारा इस लक्षण का उल्लेख किया है।

इस लक्षण में पूर्व पक्षी दोष दिखाते हुए कहते हैं 'ज्ञान निवर्त्यत्व ही मिथ्यात्व है' ऐसा कहने पर जिस किसी रूप में ज्ञान-निवर्त्यत्व लिया जा सकता है अर्थात् स्वोत्तरवर्ति योग्य विभु-विशेषगुणत्वरूप से भी ज्ञान द्वारा निवर्त्यत्व लिया जा सकता है। ऐसा अर्थ करने पर उत्तर-ज्ञान द्वारा निवर्तनीय पूर्वज्ञान में मिथ्यात्वलक्षण की अति-व्याप्ति होगी,[2] जैसाकि 'अयं घटः' ऐसा मुझे ज्ञान हुआ पश्चात्—'अयं पटः'—ऐसा ज्ञान हुआ, इस प्रक्रिया में 'अयं पटः' इस उत्तर ज्ञान के उत्पन्न होने से 'अयं घटः' यह पूर्वज्ञान नष्ट हो जाता है, ऐसा नियम है और अनुभव से भी सिद्ध है, अतएव उत्तरज्ञान द्वारा पूर्वज्ञान का नाश हुआ और मिथ्यात्व-लक्षण की अतिव्याप्ति पूर्वज्ञान में हुई, क्योंकि उत्तर ज्ञान द्वारा नाश्य पूर्वज्ञान विनाशी तो है, पर वह मिथ्या नहीं। अलक्ष्य में लक्षण के जाने से अतिव्याप्ति हुई, अतएव सिद्धसाधनता-दोष होगा। दृश्यत्वादि हेतु द्वारा इस प्रकार के मिथ्यात्व की सिद्धि करने पर अंशतः सिद्धसाधनता है, क्योंकि पूर्वज्ञान में ज्ञान-निवर्त्यत्व पूर्वपक्षी भी स्वीकार करते हैं और मुद्गर पातादि द्वारा निवर्त्य अतीत घटादि में लक्षण की अव्याप्ति होगी, क्योंकि मुद्गर या दण्ड प्रहार से जो घट नष्ट हो चुका है, सिद्धान्त पक्ष में तो वह मिथ्या ही है। उस मिथ्या अतीत घट में लक्षण नहीं पहुँचा, क्योंकि वह अतीत घट ज्ञान द्वारा निवर्त्य नहीं, अपितु मुद्गरादि द्वारा निवर्त्य है और यदि सिद्धान्ती 'ज्ञानत्वेन ज्ञाननिवर्त्यत्वं वा मिथ्यात्वम्'[3] ऐसा कहते हैं तब अर्थ होगा—'ज्ञानत्वावच्छिन्नकारणतानिरूपितकार्यतावत् जो नाश,[4] तन्नाशप्रतियोगित्व मिथ्यात्वं' इस प्रकार के अर्थ करने पर भी मुद्गरादि द्वारा नष्ट घटादि में अव्याप्ति तो रहेगी ही, और मिथ्यात्वानुमान का दृष्टान्त भी साध्यविकल है, क्योंकि शुक्तिज्ञान द्वारा रजत का नाश हो गया, ऐसा अनुभव असिद्ध है। इसी प्रकार प्रपंच नाश के प्रति ब्रह्मज्ञान की भी कारणता नहीं है।[5] यह लक्षण असंभव-दोष युक्त भी है, क्योंकि अपरोक्ष अध्यास का निवर्तक ज्ञान को भी अपरोक्ष ही होना चाहिए, परोक्षज्ञान के द्वारा अपरोक्ष अध्यास की निवृत्ति कैसे हो सकती है? अतः शुक्ति-रजतादि अधिष्ठानतत्व-साक्षात्कारत्वरूप से ज्ञान निवर्त्य होने पर भी ज्ञानत्वेन ज्ञान-निवर्त्य नहीं है। यदि

अनन्तकृष्ण शास्त्री सम्पादित, कलकत्ता, 1933

1. वेदान्तप्रक्रियाप्रत्यभिज्ञा (वार्तिकप्रस्थान परीक्षा), पृ० 220
2. अद्वैतसिद्धि—पृ० 160
3. वही, पृ० 160
4. लघुचन्द्रिका, पृ० 160
5. वही, पृ० 160

सिद्धान्ती पूर्वोक्त दोषों को दूर करने के लिये 'ज्ञानत्वव्याप्यधर्मेण ज्ञान-निवर्त्यत्वं मिथ्यात्वम्'[1] ऐसा कहे तो भी अतिव्याप्ति दोष से मुक्ति नहीं है, जैसेकि ज्ञानत्वव्याप्यधर्म स्मृतित्व और उस स्मृतित्वरूप से ज्ञान-निवर्त्यत्व संस्कार में है। संस्कारों से स्मृति उत्पन्न होती है। पश्चात् स्मृतिजनक संस्कार नष्ट हो जाते हैं, अतः संस्कार में स्मृतिनाश्यत्व है और स्मृतिनाश्यत्वप्रयुक्त मिथ्यात्व संस्कार में अतिव्याप्त है।[2] यदि अद्वैतवादी कहे कि संस्कार में स्मृतिनाश्यत्व होने पर भी नाशकतावच्छेदक धर्म स्मृति नहीं अपितु उत्तरवर्ती आत्मविशेषगुणत्व ही है, अतः ज्ञानत्वव्याप्यधर्मपुरःसर स्मृति संस्कारनाशक नहीं है, आत्मविशेषगुणत्व तो ज्ञानत्वव्याप्य धर्म है नहीं। इस प्रकार अद्वैतवादी का दोषमुक्त होने का प्रयास व्यर्थ है, क्योंकि स्मृति स्मृतित्वरूप से ही संस्कार का ही निवर्तक है। आत्मविशेषगुणत्वरूप से निवर्तक मानने पर इच्छा, कृति द्वेषादि को भी, आत्मविशेषगुण होने के कारण संस्कार निवर्तक मानना पड़ेगा।[3] ज्ञान प्रागभाव भी ज्ञाननिवर्त्य है, परन्तु मिथ्या नहीं। इस प्रकार 'विद्वान नामरूपाद् विमुक्तः' इत्यादि श्रुति द्वारा नामरूप की निवृत्ति प्रतिपादित होने पर भी नाम-रूप का मिथ्यात्व सिद्ध नहीं होता, यही पूर्वपक्ष का आशय है।[4]

पूर्वपक्ष की ओर से उक्त प्रकार आशंकाओं के करने पर अद्वैतवेदान्ती उत्तर देते हैं कि मिथ्यात्वलक्षण असंभव नहीं है। 'ज्ञाननिवर्त्य' का अर्थ हम इस प्रकार नहीं करते जैसा कि पूर्वपक्षी ने किया है। 'ज्ञाननिवर्त्यत्व' से हमारा तात्पर्य है 'ज्ञानप्रयुक्तावस्थितिसामान्यविरह-प्रतियोगित्वम्'[5] अर्थात् ज्ञानप्रयुक्त अवस्थितिसामान्य का अत्यन्ताभाव, उसका प्रतियोगित्व ही ज्ञाननिवर्त्यत्व का अर्थ है और एवंभूत प्रतियोगित्व ही मिथ्यात्व है। ज्ञान पद से अधिष्ठानतत्वज्ञान लेना है, अर्थात् अधिष्ठानतत्वज्ञानव्यापक जो अवस्थितिसामान्य का अत्यन्ताभाव तत्प्रतियोगित्व मिथ्यात्व है।[6]

अवस्थिति दो प्रकार की है—स्वरूपतः अवस्थिति और कारण रूप से अवस्थिति,[7] अर्थात् स्थूलरूप से और सूक्ष्मरूप से अवस्थिति। संस्काररूप से अवस्थिति ही कारणरूपावस्थिति है। सामान्यपद द्वारा दोनों अवस्थितियों का ग्रहण है, जिसका अर्थ होगा—'अधिष्ठानतत्वज्ञानव्यापक जो स्व और स्वीय संस्कार, एतदन्यतर का अत्यन्ताभावप्रतियोगित्व ही मिथ्यात्व है।' स्थूलरूपातिरिक्त पटादि के सूक्ष्मरूप से अवस्थान का अनुभव न होने पर भी कार्य का कारणरूप से सूक्ष्मावस्थान अद्वैतमत में स्वीकार्य है, क्योंकि अद्वैतवादी भी सत्कार्यवादी है[8] 'तद्धैदं तर्हि अव्याकृतमासीत्' इत्यादि श्रुति से

1. अद्वैतसिद्धि, पृ० 160
2. वही, पृ० 160
3. सिद्धिव्याख्या, पृ० 160
4. लघुचन्द्रिका, पृ० 160
5. अद्वैतसिद्धि, पृ० 160
6. लघुचन्द्रिका, पृ० 160
7. अद्वैतसिद्धि, पृ० 160, 161
8. सत्कार्यवादाभ्युपगमात्, वही

प्रलयकाल में भी कार्य की अनभिव्यक्तरूप अवस्थिति सिद्ध है। दण्डादिप्रहार द्वारा 'घटोनष्टः' इत्यादि लौकिक प्रत्यय से भी नाश प्राप्त घट, घट की उत्तरावस्था है, ऐसा सिद्ध है।[1]

अद्वैतवेदान्ती अब अव्याप्ति-दोष निराकरण के लिए अपना पक्ष प्रस्तुत करते हैं। लक्षण में 'अवस्थितिसामान्य का अभाव' पद के ग्रहण होने से मुद्गर-पातादि द्वारा घट के नाश होने पर भी वहाँ पर अव्याप्ति नहीं है, क्योंकि दण्डप्रहारध्वस्त घट का स्वरूपतः नाश हो जाने पर भी उसकी कारणरूप से अवस्थिति है, अतः अवस्थिति सामान्य का विरह नहीं हुआ।[2] घट की अवस्थितिसामान्य का विरह ब्रह्मज्ञानप्रयुक्त होगा, न कि मुद्गरादिपात द्वारा। पूर्वोक्त लक्षण में 'ज्ञानप्रयुक्त' पद गृहीत न होने पर शशविषाणादि में अतिव्याप्ति होगी, क्योंकि अवस्थिति-सामान्यविरह तो शशविषाणादि का भी है, परन्तु शशविषाणादि में ज्ञानप्रयुक्तत्व नहीं हो सकता, अतः अलीक पदार्थों में अतिव्याप्तिदोष नहीं है।[3]

पूर्वपक्षी का कथन कि 'शुक्तिरजत नष्ट हो गया' ऐसा अनुभव नहीं होता, अतएव 'ज्ञानप्रयुक्तावस्थितिसामान्यविरहप्रतियोगित्व' शुक्ति रजत में नहीं है, अतः दृष्टान्त साध्यविकल है और लक्षण में अव्याप्ति दोष भी है, अयौक्तिक है। माध्वमत में शुक्तिरजत को अलीक स्वीकार करने पर भी सिद्धान्त पक्ष उसे अलीक नहीं मानता। इसमें अनुभव-विरोध है। शुक्ति रजतादि शशविषाणादि के समान अलीक नहीं हो सकते। शशविषाणादि का तो अनुभव ही नहीं होता। शुक्तिरजतादि की प्रतीति होती है। इसलिए शशविषाणादि अलीक से विलक्षण प्रातिभासिकसत्ता स्वीकार करनी ही होगी। शुक्तिरजत प्रत्यक्ष भ्रमज्ञान का विषय है। वह तत्कालोत्पन्न अनिर्वचनीय वस्तु है। बाधकज्ञान शुक्ति साक्षात्कार द्वारा उसका बाध होता है। शुक्तिरजत का बाध भी अनुभवसिद्ध है, अतएव 'ज्ञानप्रयुक्तावस्थितिसामान्य विरह प्रतियोगित्वम्' शुक्तिरजत में है। सुतरां लक्षण में अव्याप्ति और अनुमान में साध्यविकलता की शंका निर्मूल है।[4]

अद्वैत सिद्धिकार ने 'ज्ञानप्रयुक्तावस्थितिसामान्यविरह प्रतियोगित्वरूप मिथ्यात्व' लक्षण में कार्य का स्वरूपतः और कारणरूप से नाश का समर्थन वार्तिककार और विवरणकार की उक्तिओं को उद्धृत करते हुए किया है। विवरणकार ने कहा है—'अज्ञानस्य स्वकार्येण वर्तमानेन प्रविलीनेन वा सह ज्ञानेन निवृत्तिबाधः'[5] अर्थात् अज्ञान की वर्तमान स्थूल और कारणरूप से स्थित सूक्ष्म कार्यों सहित ज्ञान द्वारा निवृत्ति ही बाध है।

'ज्ञानेन' का अर्थ ज्ञान द्वारा व्यापक। 'निवृत्ति' का अर्थ है—अत्यन्ताभाव अथवा नाश।[6] ज्ञानेननिवृत्तिः—ज्ञानव्यापकनिवृत्ति, अथवा ज्ञानाधीननिवृत्ति, दोनों

1. लघुचन्द्रिका, पृ० 161
2. अद्वैतसिद्धि, पृ० 161, 162
3. वही, पृ० 163, 164
4. लघुचन्द्रिका, पृ० 164।
5. पंचपादिका-विवरण, पृ० 215 (कलकत्ता संस्करण), 1933
6. निवृतिः उक्तात्यन्ताभावः, उक्तानाशोवा। लघुचन्द्रिका, पृ० 164

प्रकार कहा जा सकता है। निवृत्ति का अर्थ अत्यन्ताभाव हो तो निवृत्ति ज्ञान का व्यापक, और नाश हो तो निवृत्ति ज्ञानाधीन है। ज्ञानोत्पत्तिकाल में ही अज्ञान की निवृत्ति रह सकती है। इस कारण ज्ञानव्यापक अर्थ किया गया है। जिस क्षण में ज्ञान की उत्पत्ति हुई, उसी क्षण में अज्ञान की निवृत्ति हो जाती है। ऐसा कोई नियम नहीं है कि ज्ञानोत्पत्तिकाल के उत्तरक्षण में अज्ञान की निवृत्ति नहीं होती।[1] अज्ञाननिवृत्तिज्ञानाधीन—इस पक्ष में भी दोष नहीं है, जिस प्रकार घटाधीन घटप्रागभाव की निवृत्ति है अर्थात् घटप्रागभाव की निवृत्ति तभी होती है जब घट उत्पन्न होता है इस कारण घटप्रागभाव की निवृत्ति को घटाधीन कहा जाता है। अथ च घटप्रागभावनिवृत्ति घटस्वरूप होने के कारण घटोत्पत्ति समकालीन है, अतएव तदुत्पत्तिसमकालीन वस्तु में तदधीनत्व रहने में असंगति नहीं है।[2]

पूर्व पक्ष की ओर से शंका यह की जाती है कि अद्वैतवेदान्त में एक अज्ञानवादी अद्वैतवेदान्ती भी हैं, जिनके अनुसार अज्ञान एक है। वे लोग घटविषयक, पटविषयक या ब्रह्मविषयक अज्ञान को भिन्न-भिन्न नहीं मानते, अपितु सभी एक अज्ञान हैं, ऐसा कहते हैं। उनके अनुसार अज्ञान या अज्ञान-कार्य ब्रह्मज्ञानद्वारा निवर्तनीय हैं। शुक्तिरजतादि प्रातिभासिक वस्तुओं की निवृत्ति शुक्त्यादि साक्षात्कार से नहीं हो सकती, क्योंकि ऐसा मानने पर अज्ञान के एक होने से सर्वत्र अज्ञान की निवृत्ति मानी जायेगी और शुक्तिसाक्षात्कार द्वारा मुक्ति प्रसंग हो जायेगा और शुक्तिरजत मिथ्यात्वानुमान में दृष्टान्त भी नहीं बन सकेगा।[3]

इस आक्षेप के निराकरण के लिए ही अद्वैतसिद्धिकारादि अद्वैताचार्य अज्ञान को विषयभेद से नाना मानते हैं[4] अथवा एकाज्ञान पक्ष में मुद्गरपात-द्वारा घटनिवृत्ति स्वरूपतः होने पर भी कारणरूप से निवृत्ति नहीं मानी जाती। इसी प्रकार शुक्तिरजत स्थलादि में भी शुक्तिज्ञान से शुक्ति अज्ञान की मूलतः निवृत्ति नहीं होती, अर्थात् सूक्ष्म रूप से या कारणरूप से शुक्तिविषयक अज्ञान बना ही रहता है। सम्पूर्णरूप से अज्ञान की अवस्थिति का सामान्यविरह ब्रह्मज्ञान से ही होगा, ऐसा मानने पर एक अज्ञान पक्ष में भी दोष नहीं है।

अद्वैतसिद्धिकार कहते हैं कि 'ज्ञानत्वव्याप्यधर्मेण ज्ञाननिवर्त्यत्वं मिथ्यात्वम्' यह लक्षण भी निर्दोष है।[5] इस पर पूर्वपक्षी का यह आक्षेप कि उत्तरज्ञान निवर्त्यपूर्वज्ञान में अतिव्याप्ति होगी, असंगत है, क्योंकि उत्तरज्ञान द्वारा पूर्वज्ञान की निवृत्ति ज्ञानत्वव्याप्यधर्मरूप से ज्ञाननिवृत्ति नहीं है, अपितु स्वोत्तरोत्पन्न आत्मविशेषगुणत्वरूप से पूर्वज्ञान उत्तरज्ञान द्वारा निवर्त्य है। पूर्ववर्तीज्ञान को उत्तरज्ञान द्वारा ज्ञानत्वव्याप्य

1. लघुचन्द्रिका एवं विट्ठलेशोपाध्यायी, पृ० 165
2. घटादिस्वरूपे तत्प्रागभावनिवृत्तित्वविशिष्टे घटाद्यधीनत्ववत्। लघुचन्द्रिका एवं विट्ठलेशोपाध्यायी, पृ० 165
3. लघुचन्द्रिका, पृ० 169
4. तत्तद्रूप्योपादानानां अज्ञानानां भेदाभ्युपगमात्।
   अद्वैतसिद्धि, पृ० 169
5. वही, पृ० 171

धर्मरूप से निवर्त्य मानने पर ज्ञानोत्तर जो इच्छा है, उस इच्छा द्वारा ज्ञान की निवृत्ति नहीं होगी। इससे अभिमत सिद्धान्तहानि होगी। आत्म-विशेषगुणों को स्वोत्तरवर्ति-गुणनाश्य माना गया है। इच्छा ज्ञानत्व का व्याप्यधर्मविशिष्ट नहीं है। इसी प्रकार कृति द्वारा भी इच्छा की निवृत्ति नहीं होगी। ज्ञान, इच्छा, कृति, सुख दुःखादि सभी स्वोत्तर-वर्तिआत्मविशेषगुणत्वरूप से आत्मविशेषगुण द्वारा नाश्य हैं।[1] इस व्याख्या से उत्तरज्ञान द्वारा निवर्त्य-पूर्वज्ञान में जो अतिव्याप्ति दी गई थी, उसका निराकरण हुआ। इस पर पुनः जो पूर्वपक्ष की ओर से यह शंका की गई थी कि ज्ञानत्व का व्याप्यधर्म स्मृति है, और स्मृति द्वारा स्मृतित्वरूप से निवर्त्य है संस्कार, एवंभूत स्मृतिनिवर्त्य संस्कारों में अतिव्याप्ति, तथा मिथ्यात्वानुमान में सिद्ध-साधनतादोष भी है, असंगत है, क्योंकि स्मृतित्व संस्कारों का निवर्तकावच्छेदक धर्म नहीं है। स्मृति की संस्कारनाशकता में कोई भी प्रमाण नहीं, अपितु बाधक-प्रमाण है। स्मृति उत्पन्न होने पर संस्कार नष्ट नहीं होते, किन्तु दृढ़ होते हैं, ऐसा अनुभव सिद्ध है।[2] अद्वैतसिद्धिकार ने अन्त में 'साक्षात्कारत्वेन ज्ञाननिवर्त्यत्वं विवक्षितम्'[3] ऐसा कहा है अर्थात् 'ज्ञानत्वव्याप्यधर्मेण' न कहकर 'साक्षात्कारत्वेन ज्ञाननिवर्त्यत्व ही मिथ्यात्व है', ऐसा कहा है। स्मृति द्वारा संस्कारों के नाश होने पर भी स्मृतित्वरूप से ज्ञानत्वव्याप्य धर्म से संस्कारों का नाश होता है, न कि साक्षात्कारत्वरूप से। इस प्रकार उत्तरज्ञान निवर्त्य-पूर्वज्ञान में भी अतिव्याप्ति नहीं है, क्योंकि 'साक्षात्कारत्वधर्मेण ज्ञाननिवर्त्यत्व' ही मिथ्यात्व कहा गया है।

चतुर्थ मिथ्यात्व लक्षण (चित्सुखाचार्य के अनुसार)

चित्सुखाचार्य द्वारा प्रतिपादित मिथ्यात्व-लक्षण इस प्रकार है—"सर्वेषामपि-भावानांस्वाश्रवत्वेन संमते। प्रतियोगित्वमत्यन्तवाभावं प्रति मृषात्मता"।[4] इसी लक्षण को अद्वैतसिद्धिकार ने इस रूप में प्रस्तुत किया है—'स्वाश्रयनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वं वा मिथ्यात्वम्'[5] अर्थात् मिथ्यावस्तु के आश्रय के रूप में अभिमत जो अधिकरण तद्धिकरण में जो अत्यन्ताभाव, उस अत्यन्ताभाव का प्रतियोगित्व ही मिथ्या है, जैसा कि पटादि भाववस्तुओं के आश्रय रूप से अभिमत अर्थात् प्रतीत जो तन्तु आदि, तन्निष्ठ पटादि का अत्यन्ताभावप्रतियोगित्व ही मिथ्यात्व है।[6] जहां पर जो वस्तु वस्तुतः

---

1. अद्वैतसिद्धि, पृ० 171, 176
2. स्मृतौ हि जातायां संस्कारो दृढ़ोभवतीत्यनुभवसिद्धम्। अद्वैतसिद्धि, पृ० 177
3. अद्वैतसिद्धि, पृ० 178
4. चित्सुखी, पृ० 39,
5. अद्वैतसिद्धि, पृ० 182
6. तथा हि घटादीनां भावानां स्वाश्रयत्वेनाभिमतास्तन्त्वादयो ये तन्निष्ठात्यन्ताभाव-प्रतियोगितैव तेषां मिथ्यात्वम्।
   चित्सुखी, पृ० 39

नहीं है, वहां पर वह वस्तु प्रतीत होने पर भी वह मिथ्या है। तन्तु प्रभृति पटादि के कारण हैं और पटादि की यदि किसी समय कहीं पर सत्ता हो तो तन्तुओं में ही संभव है। तन्तुओं को त्यागकर पट की सत्ता अन्यत्र संभव नहीं[1] और उन तन्तुओं में ही यदि पट की सत्ता का अभाव हुआ अर्थात् अभाव सिद्ध किया गया, तब तो गलपादुकान्याय से अर्थात् बलात् पट का मिथ्यात्व स्वीकार करना पड़ेगा।[2] कार्य की सत्ता कारण में ही होती है और कारण में कार्य की सत्ता का अभाव सिद्ध हो जाने पर कार्य मिथ्या ही होगा। इस पर पूर्वपक्ष की ओर से शंका उठायी गई कि आश्रित घटादि वस्तुओं का मिथ्यात्व इस प्रकार सिद्ध होने पर भी अनाश्रित परमाणु और आकाशादि वस्तुओं में लक्षण अव्याप्त है क्योंकि नित्यपरमाणु (न्यायविशेषकादि के मत में) और नित्य आकाश किसी में भी आश्रित नहीं है, अतएव प्रपंच में सर्वत्र लक्षण नहीं गया।[3] पूर्वपक्ष के इस आक्षेप के उत्तर में अद्वैतवादी कहते हैं कि अद्वैतमत में ब्रह्मातिरिक्त यावत् वस्तुएं आश्रित हैं। रजतादि जिस प्रकार शुक्ति में आश्रित हैं, इसी प्रकार समग्रप्रपंच ब्रह्माश्रित है। एकमात्र ब्रह्म ही अनाश्रित है। इसी प्रकार लक्षण में अतिव्याप्ति-दोष भी नहीं दिया जा सकता, क्योंकि ब्रह्म किसी में भी आश्रित नहीं है।[4] परस्पर घटादि के साथ तादात्म्याध्यास होने पर भी सत् ब्रह्म आश्रित नहीं है। घटादिपदार्थ एवं तदध्यासादि ब्रह्मरूप कारण में कल्पित ही तो हैं। पुनश्च पूर्वपक्षी शंका करते हैं कि न्यायमत में संयोगादि को अव्याप्यवृत्ति माना जाता है, अतएव यह माना जा सकता है कि एक वस्तु के एक अंश में संयोग है, अन्य अंश में नहीं, तब तो कहना होगा कि संयोगाधिकरण में ही संयोगाभाव है। इस प्रकार संयोग में भी मिथ्यात्व आ जाता है, अतः अर्थान्तरता है।[5] इसका उत्तर अद्वैतवादी इस प्रकार देते हैं, कि भाव और अभाव को यदि एकाधिकरण माना जाय अर्थात् एक ही अधिकरण में संयोग और संयोगाभाव को स्वीकार कर लेने पर विरोध का नाम ही जगत् से उठ जायेगा,[6] क्योंकि संसार में जहां भी विरोध है चाहे दो भाव पदार्थों में ही क्यों न हो, भावाभाव-प्रयुक्त विरोध हुआ करता है। गोत्वाश्वत्वादि विरोध भी भावाभावप्रयुक्त-विरोध है, अर्थात् गोत्व और गोत्वाभाव परस्पर-विरुद्ध हैं, अतएव गोत्वाभावव्याप्य अश्वत्व में भी विरोध रहेगा। पूर्वपक्षी स्वयं स्वीकार करते हैं कि एक ही वस्तु में जब भावाभाव होते हैं तो समानांश को लेकर नहीं, अपितु अन्यांश को लेकर ही हो सकते हैं।

---

1. नहितेषामन्यत्र सत्ता संभाविनी। वही
2. तत्रापि चेत्सा नस्यात्तदागलेपादुकान्यायेन मृषात्वमेव पर्यवस्येत। वही, पृ० 39, 40
3. वही, पृ० 40
4. चित्सुखी, पृ० 40
5. वही
6. भावाभावयोरेकाधिकरणत्वाभ्युपगमे सर्वत्रैव तथाभावापत्तेर्विरोधस्य जगति दत्तजलांजलिताप्रसंगात्। वही

इसका अर्थ हुआ शाखांश में कपिसंयोग है, और मूलांश में संयोगाभाव है, तब तो सिद्धान्ती भी स्वीकार करते हैं, क्योंकि अवच्छेदक धर्म भिन्न होने से अधिकरण भी विशेषणप्रयुक्त भिन्न हो जायेगा। शाखावच्छेदेन कपिसंयोगी वृक्ष है और मूलावच्छेदेन नहीं है, अतएव अव्याप्ति नहीं है। वस्तुतः अद्वैतवेदान्ती अव्याप्यवृत्ति स्वीकार ही नहीं करते। संयोगादि भी व्याप्यवृत्ति है। जहां पर संयोग होता है उस संयुक्त स्थान को व्याप्त करके होता है। 'वृक्षः कपिसंयोगी' में शाखा ही कपिसंयोगी है, वही संयोगाधिकरण है। संयोगादि की अव्याप्यवृत्तिता स्वीकार करने पर अवच्छेदक परम्परा के पीछे अनवस्था होगी। संयोगादि को अव्याप्यवृत्ति स्वीकार करने पर भी अर्थान्तरता नहीं है, तब लक्षण की व्याख्या इस रूप में करनी होगी—"जहां पर जो वस्तु यदवच्छेदरूप में जिस सम्बन्ध से हो, वहाँ पर उस वस्तु के तदवच्छेदरूप में और उस सम्बन्ध से अत्यन्ताभाव का प्रतियोगित्व ही मिथ्यात्व।"[1] अथवा मिथ्यात्व घटक अत्यन्ताभाव में 'अवच्छिन्नवृत्तिकान्यत्व'[2] विशेषण देना होगा। इसका अर्थ होगा निरवच्छिन्नवृत्तिक अत्यन्ताभाव। 'वृक्षः कपिसंयोगी' में जो अर्थान्तरता दी गयी थी, वहां पर संयोगाभाव मूलावच्छेदेन होने के कारण, अत्यन्ताभाव निरवच्छिन्न वृत्तिक नहीं हुआ, अतएव अर्थान्तरता का प्रसंग ही नहीं।

माध्वमत में शुक्तिरजत को असत् ही माना जाता है और न्यायवैशेषिक के मत में व्यावहारिक रजत का ही 'अत्र' देशान्तर में भान माना जाता है। इस प्रकार असत्-ख्याति और अन्यथाख्यातिवारण के लिए चित्सुखाचार्य द्वारा प्रस्तुत मिथ्यात्व-लक्षण 'स्वसमानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगित्वम्' का अर्थ 'स्वात्यन्ताभावाधिकरण एव प्रतीयमानत्वम्'[3] ऐसा किया गया है। ऐसा अर्थ करने पर किसी प्रकार के दोष नहीं हैं। इस लक्षण का अर्थ है, जो केवल स्व-अपना अत्यन्ताभाव के अधिकरण में ही प्रतीत हो, अन्यत्र कहीं भी प्रतीत न हो—वही मिथ्या है। शुक्तिरजतत्व किन्तु प्रतिवादी के मत में स्वात्यन्ताभावाधिकरण के अतिरिक्त आपणादि में भी रहता है, अतः सिद्धसाधनता का दोष नहीं है। पूर्वपक्ष की ओर से पुनः शंका उठायी गयी है कि संयोग सम्बन्ध से भूतल में घटाभाव घट के रहते हुए नहीं रह सकता। इसी प्रकार कपालादि में समवाय सम्बन्ध से घटाभाव भी नहीं रह सकता, अर्थात् घटसंयुक्तभूतल में संयोगसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकघटात्यन्ताभाव एवं घटसमवायिकपालद्वय में समवायसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोकिताकघटात्यन्ताभाव संभवपर नहीं है। अत्यन्ताभाव के साथ अत्यन्ताभावप्रतियोगी का विरोध प्रमाण सिद्ध है। घटादि के मिथ्यात्व प्रतिपादन में सिद्धान्ती ने जो प्रतियोगी के साथ उसके अत्यन्ताभाव का सामानाधिकरण्य

---

1. येन सम्बन्धेन यद्वत्तया प्रतीतं यद्यत् तन्निष्ठाभावीयं तत्सम्बन्धावच्छिन्नं प्रतियोगित्वमिति। लघुचन्द्रिका, पृ० 183
2. वस्तुतस्तु अवच्छिन्नवृत्तिकान्यत्वमेव तदधिकरणात्यन्ताभावे देयम्। लघुचन्द्रिका, पृ० 151
3. अद्वैतसिद्धि, पृ० 181, 182

अर्थात् अविरोध कहा है, असंगत है ?[1] इसके उत्तर में सिद्धान्ती कहते हैं कि समान सत्ताक-अभाव और प्रतियोगी में विरोध होने पर भी भिन्नसत्ताकाभाव और प्रतियोगी में विरोध नहीं है।[2] समवायसम्बन्ध से ही समवायिकपालद्वय में और संयोग-सम्बन्ध से ही भूतल में घटके व्यावहारिक रूप से रहते हुए भी पारमार्थिकरूप से घटात्यन्ताभाव है। चित्सुखाचार्य के लक्षण में कहा गया है 'स्वसमानाधिकरणात्यन्ताभाव प्रतियोगीत्वं मिथ्वात्वम्' और विवरणाचार्य प्रदर्शित प्रथम लक्षण में कहा गया है 'प्रतिपन्नौपाधौ त्रैकालिक निषेधप्रतियोगित्वम्' उभय लक्षणों में विशेष्यदल समानार्थक है, क्योंकि अत्यन्ताभाव प्रतियोगित्व और त्रैकालिक निषेध प्रतियोगित्व में आर्थिक अन्तर नहीं है और दोनों लक्षणों में विशेषणदल भी समान है, क्योंकि प्रतियोगी का अधिकरण और प्रतिपत्तिअधिकरण इस प्रकार इनमें भी आर्थिक अन्तर नहीं है, इसलिए मिथ्यात्व चतुर्थलक्षण में पुनरुक्ति वारण के लिए अद्वैतसिद्धिकार मधुसूदन सरस्वती ने चित्सुखाचार्य के लक्षण को परिवर्तित कर 'स्वात्यन्ताभावाधिकरण एव प्रतीयमानत्वम्' इस रूप में प्रस्तुत किया है। इसमें मात्र विशेष्य और विशेषणदलों में विपर्यास हुआ है। इस प्रकार पुनरुक्ति का निराकरण किया गया।

मिथ्यात्व का पंचमलक्षण (आनन्दबोध भट्टारकाचार्य के अनुसार)

पूज्यपाद आनन्दबोध भट्टारकाचार्य ने न्यायदीपावलि ग्रन्थ में 'विवादपदं मिथ्या, दृश्यत्वात्'[3] इत्यादि प्रकारों से मिथ्यात्व का अनुमान प्रस्तुत किया है। इसी प्रसंग में लक्षण में साध्य की प्रसिद्धि पर विचार करते हुए उन्होंने 'सत्यविवेक'[4] को ही मिथ्या कहा है, अर्थात् 'सत्यभिन्नत्व' ही मिथ्यात्व का लक्षण हुआ। इसी लक्षण को अद्वैतसिद्धिकार ने—'सद्विविक्तत्वं वा मिथ्यात्वम्'[5] इस रूप में अद्वैतसिद्धि में प्रस्तुत किया है। 'सद्विविक्तत्व' का अर्थ है, सत् का भेद अर्थात् सत्वावच्छिन्न-प्रतियोगिताक-भेद। विवेक पद का अर्थ भेद ही लेना है। एकमात्र ब्रह्म ही सद्वस्तु है। वियदादि प्रपंच सद् ब्रह्म से भिन्न है, अतएव मिथ्या है। वियदादि प्रपंच ही मिथ्यात्वलक्षण का लक्ष्य है, अतः लक्षण का समन्वय हुआ। इस पर शंका होती है कि यदि सद्भिन्नत्व ही मिथ्यात्व है, तब तो एक सद्वस्तु पट से अपर सद्वस्तु पट भिन्न ही है, अतः एवंभूत सद्भेद में लक्षण की अतिव्याप्ति होने के कारण मिथ्यात्व लक्षण में सिद्धसाधनता होगी ? पूर्वपक्ष की इस शंका के उत्तर में अद्वैतवेदान्ती का कहना है कि 'सद्विविक्तत्व' का अर्थ सद्भेद न लेकर 'सद्रूपत्वाभाव' ऐसा लेना चाहिए। घटादि सद्वस्तु पटा-

1. अद्वैतसिद्धि, सिद्धिव्याख्या, पृ० 150
2. समानसत्ताकयोर्भावाभावयोर्विरोधे स्वीकृतेऽपि न क्षतिः, मिथ्यात्वघटकाभावस्याधिष्ठानस्वरूपत्वेन प्रतियोगिभिन्नसत्ताकत्वादिति। लघुचन्द्रिका, पृ० 189
3. न्यायदीपावलि, पृ० 1 आनन्दबोध, चौखम्बा, 1901
4. सत्यविवेकस्य मिथ्याभावस्य साध्यत्वान्नाप्रसिद्ध विशेषणता, वही
5. अद्वैतसिद्धि—पृ० 195

दिसद् वस्तुओं से भिन्न स्वीकृत होने पर भी पूर्वपक्षी के अनुसार कभी भी घटादि वस्तुओं में सद्रूपत्वाभाव स्वीकार्य नहीं है, क्योंकि पूर्वपक्षी के अनुसार पटादिवस्तुओं में सद्रूपत्व है। सत्व का लक्षण है 'प्रमाणसिद्धत्व'[1] और प्रमाण 'दोषासहकृतज्ञानकरणत्व'[2] होना चाहिए। अर्थात् भेद का जो प्रतियोगितावच्छेदकसत्व है, वह प्रमाणसिद्ध होना चाहिए। प्रमाणसिद्ध का अर्थ प्रमाणजन्यविषयत्व है और प्रमाण है 'दोषाजन्यप्रमाणज्ञान का करण'। एवंभूतप्रमाणसिद्ध सत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताक जो भेद, वही मिथ्यात्व है। वियदादिप्रपंच का ज्ञान दोषजन्यप्रमाणसिद्ध है, अतएव लक्षण की संगति है। यदि कहा जाय कि वेदान्तमहावाक्यजन्य अखण्डाकारवृत्तिरूप ज्ञान भी तो अविद्यारूपदोषजन्य है। तब तो ब्रह्मज्ञान को भी दोषजन्य मानना पड़ेगा? इसका उत्तर यह है कि दोषासहकृत का अर्थ है—दोषरूप से दोषाजन्य। दोषसहकृतकारण जिस ज्ञान का जनक होता है, वह ज्ञान भ्रम होगा। उस ज्ञान का कारण भी प्रमाण नहीं माना जायेगा। तत्वमस्यादिमहावाक्यजन्य अन्तःकरणवृत्तिज्ञान में परिणामी उपादानरूप से अविद्याजन्यता है, किन्तु दोषरूप से अविद्याजन्यता नहीं है, क्योंकि दोषरूप से कारणत्व निमित्तकारण होता है, उपादान नहीं। इसलिए अद्वैतमतानुसार वेदान्त महावाक्यजन्य अखण्डाकारवृत्तिरूपज्ञान दोषाजन्यज्ञान है, अतएव प्रमाणज्ञान है।[3] प्रपंच वियदादि का ज्ञान अविद्यादोषजन्य है, अतः मिथ्यात्व का लक्षण प्रपंच में संगत है। जिस प्रकार स्वप्नदृष्ट गजादि मिथ्या हैं, उसी प्रकार जाग्रत प्रपंच को भी समझना चाहिए।[4] आनन्दबोधाचार्य ने सत्य का लक्षण दिया है 'सत्यं अबाध्यंबाध्यं मिथ्येति तद्विवेकः'[5] इसी सत्य पद की ही अद्वैतसिद्धिकार ने 'सत्व' पद से व्याख्या की है। पूर्वपक्ष की ओर से पुनः शंका की गई कि सिद्धान्तमत में असत् शशविषाणादि का ज्ञान नहीं होता, इसलिए उक्त मिथ्यात्वलक्षण अलीक शशविषाणादि में अतिव्याप्त है।[6] दोषाजन्य-ज्ञानकरणजन्य-ज्ञानविषय-भिन्नत्व ही मिथ्यात्व है और एवंभूतभिन्नत्व ज्ञानाविषय शशविषाणादि में भी नहीं है; इसी प्रकार कुछ वेदान्तैकदेशी शुद्ध ब्रह्म को वृत्तिविषय नहीं मानते, उनके मतानुसार उक्त प्रकार ज्ञानविषय का भेदरूप मिथ्यात्व शुद्ध ब्रह्म में भी है, अतः शुद्धब्रह्म में भी अतिव्याप्ति है।[7] इस शंका के उत्तर में अद्वैतसिद्धिकार कहते हैं कि यहां भी अतिव्याप्तिवारण के

---

1. अद्वैतसिद्धि, पृ० 195
2. वही। 195, 197
3. लघुचन्द्रिका, पृ० 195
4. तेन स्वप्नादिवत्प्रमाणसिद्धभिन्नत्वेन मिथ्यात्वं सिद्धयति।
   अद्वैतसिद्धि, पृ० 197
5. न्यायदीपावलि, पृ० 1
6. दोषाजन्यधीविषयान्यत्वमलीके अतिव्याप्तम्। लघुचन्द्रिका, पृ० 201
7. ब्रह्मतु स्वप्रकाशत्वादुपहिततादात्म्यान्यभावरूपधर्मानाधारत्वाच्चन वृत्तिविषयः, अतः तत्रापितः दतिव्याप्तमिति भावः। लघुचन्द्रिका, पृ० 201

लिए 'सत्वेन प्रतीयमानत्व' विशेषण देना होगा।[1] इसका अर्थ हुआ जो सत्वरूप से प्रतीति का विषय होता हो और दोषाजन्यज्ञान विषयभिन्नत्व भी हो, वही मिथ्या है। इस लक्षण के अनुसार शशविषाण और ब्रह्म में अतिव्याप्ति नहीं होगी। असद् वस्तु की सत्वप्रकारक प्रतीति नहीं होती, और जो लोग शुद्धब्रह्म को अखण्डाकारवृत्तिविषय नहीं मानते, उनके अनुसार शुद्धब्रह्म भी प्रतीति का विषय नहीं है, अतएव शुद्ध ब्रह्म में भी अतिव्याप्ति का प्रश्न नहीं उठता।

यहां पर 'सत्वेनप्रतीयमानत्वेसतिसद्विविक्तत्वं मिथ्यात्वम्' ऐसा लक्षण बना। इस लक्षण के साथ प्रथममिथ्यात्व लक्षण की पुनरुक्तिवारण के लिए ही इस पंचम लक्षण में सत्व का अर्थ 'प्रमाणसिद्धत्व' किया गया है। 'सद्विविक्तत्वं मिथ्यात्वम्' इस लक्षण में 'सद्विविक्तत्व' का अर्थ 'सद्रूपत्वाभाव' किया गया था, न्याय के अनुसार सत्ता जाति जिसमें है वही सत् माना जाता है। पूर्वपक्षी नैयायिक का कहना है, ब्रह्म में सत्ताजाति है नहीं, क्योंकि सिद्धान्ती के अनुसार ब्रह्म निर्धर्मक है अर्थात् सर्वधर्मशून्यता-रूप है, अतः सद्रूपत्वाभाव होने के कारण ब्रह्म में लक्षण की अतिव्याप्ति हुई। इस पर अद्वैतवादी का कहना है कि पूर्वपक्ष का यह कथन स्वयं पूर्वपक्ष में भी सत्य नहीं है, क्योंकि सत्ताजाति जिसमें हो वही सत्, सत्ताजाति जिसमें न हो, वह असत्, ऐसा नियम स्वयं सत्ताजाति के लिए लागू नहीं। पूर्वपक्षी सत्ताजाति को सत्ताशून्य होने पर भी सत् मानते हैं, सत्ताजाति स्वरूपसम्बन्ध से सत् है, ऐसा पूर्वपक्षी का सिद्धान्त है। यदि सत्ता-जाति सत्ताशून्य होकर भी सत् हो सकती है तो ब्रह्म भी सत्ताजातिशून्य होकर सत् क्यों नहीं हो सकेगा? ब्रह्म में सद्रूपत्व नहीं है, परन्तु स्वरूपतः ब्रह्मसत् है, अतः ब्रह्म में अतिव्याप्ति नहीं है।

1. अद्वैतसिद्धि, पृ० 202

सहायक ग्रन्थपंजिका

1. ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य—निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, 1938
2. ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य—पंचपादिकादि नव टीका, अनन्तकृष्ण शास्त्री संपादित, कलकत्ता, 1933
3. भामती—वाचस्पति मिश्र, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, 1938
4. कल्पतरु—अमलानन्द स्वामी, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, 1938
5. परिमल—अप्पय दीक्षित, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, 1938
6. पंचपादिका—पद्मपादाचार्य, मद्रास, 1908
7. विवरण—प्रकाशात्मयति, मद्रास, 1908
8. विवरण तात्पर्य दीपिका—चित्सुखाचार्य, मद्रास, 1908
9. विवरण भाव प्रकाशिका—नृसिंहाश्रम, मद्रास, 1908
10. अद्वैतसिद्धि—मधुसूदन सरस्वती, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, 1917
11. लघुचन्द्रिका—ब्रह्मानन्द सरस्वती, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, 1917
12. तत्त्वप्रदीपिका—चित्सुखाचार्य, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, 1915
13. विवरण प्रमेय संग्रह—विद्यारण्य मुनि, (माधवाचार्य) अच्युत ग्रन्थमाला, काशी सम्वत् 1996
14. ब्रह्मसिद्धि—मण्डन मिश्र, मद्रास, 1937, शंखपाणि टीकासहित
15. बृहदारण्यक वार्तिक—सुरेश्वराचार्य
16. वेदान्तसार—सदानन्द, वाराणसी, 1972 बालकृष्ण संपादित
17. पंचदशी—विद्यारण्य स्वामी, भार्गव पुस्तकालय, काशी, 1942
18. वेदान्त परिभाषा—धर्मराजाध्वरीन्द्र, चौखम्बा, बनारस, सम्वत् 2011
19. न्याय दीपावलि—आनन्द बोध, चौखम्बा, बनारस, 1901
20. बृहदारण्यकोपनिषद्—शांकर भाष्य, आनन्दाश्रम, पूना, 1927
21. तैत्तिरीयोपनिषद्—शांकर भाष्य, आनन्दाश्रम, पूना, 1897
22. मुण्डकोपनिषद्—शांकर भाष्य, आनन्दाश्रम, पूना, 1896
23. छान्दोग्योपनिषद्—शांकर भाष्य, आनन्दाश्रम, पूना, 1890
24. श्वेताश्वतरोपनिषद्—आनन्दाश्रम, पूना, 1811
25. ईशाद्यष्टोत्तर शतोपनिषद्—निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, 1925
26. नैष्कर्म्यसिद्धि—सुरेश्वराचार्य, उद्बोधन कार्यालय, कलकत्ता, 1360 बंगाब्द

27. योग दर्शन—महर्षि पतंजलि
28. सर्वदर्शनसंग्रह—माधवाचार्य, चौखम्बा, बनारस, 1964
29. मध्यमकशास्त्र—नागार्जुन, पी० एल० वैद्य सम्पादित, मिथिला विद्यापीठ, दरभंगा, 1960
30. न्यायवार्तिक—उद्योतकर, लन्दन प्रकाशित 1968
31. तर्क संग्रह—अन्नंभट्ट विरचित, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, 1971
32. सांख्यकारिका—ईश्वरकृष्ण
33. कठोपनिषद्—निर्णयसागर प्रेस, बम्बई
34. न्यायकुसुमांजलि—उदयन-हरिकृष्णदास, वाराणसी
35. श्री भाष्य—रामानुजाचार्य, निर्णय सागर प्रेस, 1914
36. तर्क भाषा—केशव मिश्र, मोतीलाल बनारसीदास, 1968
37. श्रीभाष्य श्रुत प्रकाशिका—सुदर्शन सूरि, निर्णयसागर प्रेस, 1914
38. गीता शांकर भाष्य
39. केनोपनिषद्—निर्णय सागर प्रेस
40. माण्डूक्योपनिषद्—निर्णय सागर प्रेस
41. शिव महिम्न स्तोत्रः—पुष्पदन्ताचार्य
42. संक्षेप शारीरिक—सर्वज्ञात्ममुनि, काशी, 1944
43. इष्टसिद्धि—विमुक्तात्मा, बी० भट्टाचार्य सम्पादित, बड़ौदा, 1936
44. प्रमाणमाला—आनन्दबोध, चौखम्बा, बनारस, 1901
45. वेदान्त प्रक्रिया प्रत्याभिज्ञा—सचिदानन्द सरस्वती, होले नरसिंहपुरम्, 1964
46. माण्डूक्य कारिका—गौड़पाद शांकर भाष्य, आनन्दाश्रम, पूना, 1921
47. सिद्धान्त लेश संग्रह—अप्पय दीक्षित, अच्युत ग्रन्थमाला, वाराणसी, सम्वत्, 2011
48. भाष्यरत्न प्रभा एवं न्याय निर्णय—गोविन्दानन्द तथा आनन्दगिरि, बम्बई, स० 1970
49. कौषीतकि उपनिषद्—निर्णय सागर, बम्बई, 1925
50. ब्रह्मसूत्र माध्व भाष्य—सरस्वती प्रेस, कलकत्ता, 1881
51. खण्डनखण्डखाद्य—श्री हर्ष, वाराणसी, 1940
52. वेदान्त तत्त्व विवेक—नृसिंहाश्रम, मैसूर, 1955
53. अद्वैतदीपिका—नृसिंहाश्रम, बनारस, 1919
54. महाभारत—शान्तिपर्व
55. ब्रह्मसूत्रभास्कर भाष्य—श्री भास्कराचार्य, चौखम्बा, वाराणसी
56. ब्रह्मसूत्र गोविन्द भाष्य—श्री बलदेव विद्याभूषण, कृष्णदास द्वारा प्रकाशित, वृन्दावन
57. शंकरोत्तर अद्वैतवेदान्त में मिथ्यात्व निरूपण—डॉ० अभेदानन्द, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, 1973

58. Indian Philosophy—Vol. II—S. Radha Krishnan, Allen and Unwin, 1927.
59. Encyclopaedia of Religions—Hastings—Vol. II.
60. Doctrines of Nimbarka And His Followers—Dr. Rama Choudhury, Calcutta, 1941.
61. The System of the Vedanta—Paul Deussen, U.S.A., 1912.
62. Appearance and Reality—Bradley, IX Ed., Oxford, London, 1930.
63. Selections from Berkeley—5th Ed., Oxford, 1899.
64. A History of Indian Philosophy—Das Gupta—Vol. III, 1940 Cambridge University.
65. The Philosophy of Bhedabheda—Srinivasachari, The Adyar Library. 1350.
66. Advaita and Visistadvaita—Srinivasachari, Asia Pub. House, London, 1961.
67. An Introduction to Advaita Philosophy—K. Shastri, Calcutta Univ., 1926.
68. The Philosophy of Nimbarka—J. N. Sinha, Calcutta, 1973.
69. A critical Survey of Indian Philosophy—C. D. Sharma, London, 1960.
70. An Introduction to Sankara's Theory of Knowledge—Dr. N.K. Devaraja. Varanasi, 1962.
71. Idealistic Thought of India—P. T. Raju, Allen and Unwin, London, 1953.
72. Outlines of Indian Philosophy—Hiriyanna, London, 1958.
73. Indian Idealism—Das Gupta, Cambridge, 1962.
74. A History of Indian Philosophy—Das Gupta. Vol. II., Cambridge, 1632.
75. Philosophical Essays—Das Gupta, Calcutta Univ., 1941.
76. The Philosophy of Advaita—T. M. P. Mahadevan, Madras, 1957.
77. Vedanta of Sankara—R. P. Singh, Jaipur, 1949.
78. Collected Papers of Prof. S. S. Suryanarayan Sastri—Madras Univ., 1961.
79. Studies in Post-Sankara Dialectics—A. Bhattacharya Sastri, Calcutta University, 1936.
80. The Vedanta—V. S. Ghate, Poona, 1960.
81. Philosophy, Religion and Culture—N. K. Devarajva, Motilal Banarsi Das, Delhi, 1974.
82. Philosophies of India—H. Zimmer, London, 1955.

□

Acc No .....
Acc No 37997